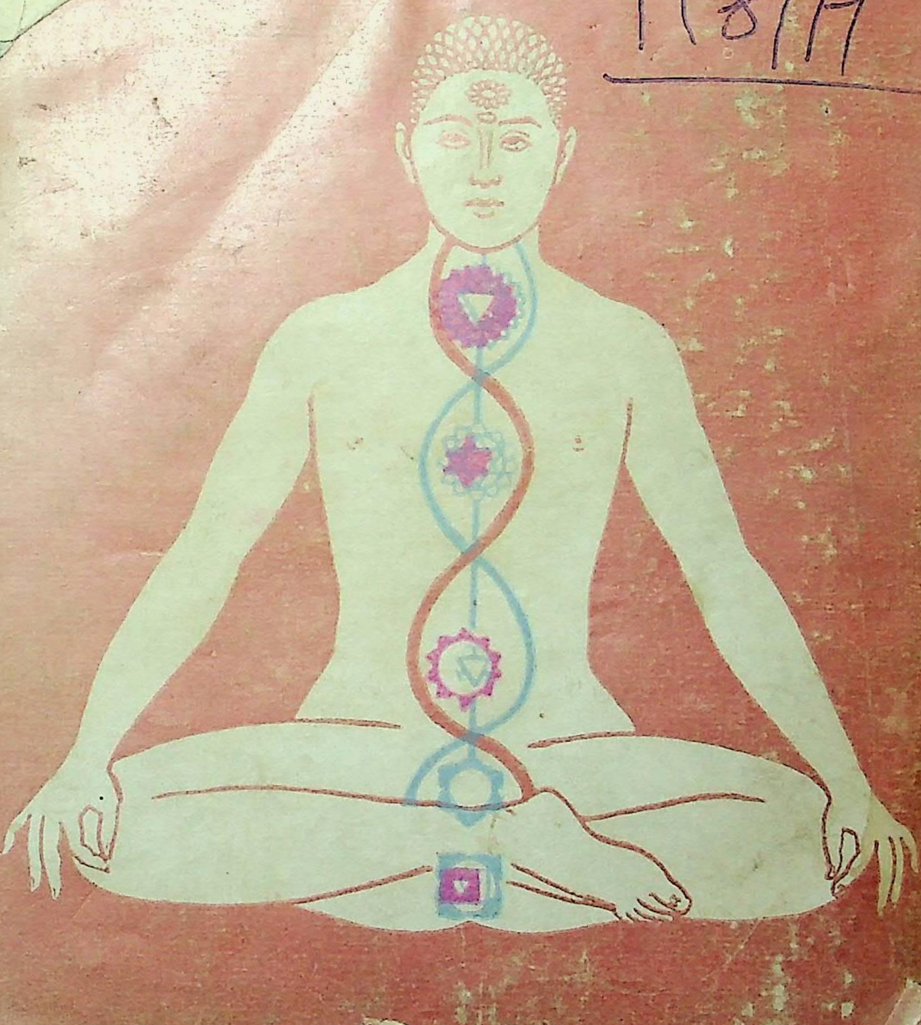
# १०८ उपनिषद्

## ब्रह्म-विद्या खण्ड





# १०८ उपनिषद्

## (ब्रह्म-विद्या खण्ड)



—※—

सम्पादकः

वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चार वेद, १०८ उपनिषद, षट्दर्शन, योग वसिष्ठ
२४ गीता, २० स्मृतियाँ और १८ पुराणों के
प्रसिद्ध भाष्यकार

—※—

प्रकाशक।

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर) बरेली (उ०प्र०)

प्रकाशक :
डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब
बरेली ( उ० प्र० )

❋

सम्पादक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❋

मुद्रक :
बनवारीलाल गुप्त,
विश्वभारती प्रेस, मथुरा

❋

प्रथम संस्करण
१९७२

❋



मू० रु० ७–७५

ब्रह्म-विद्या खण्ड की

# उपनिषद्-सूची

# ब्रह्मविद्या

## विश्व का सर्वोपरि ज्ञान

यह समस्त विश्व अदृश ब्रह्म का ही दृश्य स्वरूप है। ब्रह्म ही इस सबसे ओतप्रोत है। उसकी सत्ता, शक्ति और व्यवस्था के अनुरूप संसार के सारे कार्य चल रहे है। जीव उसी से उत्पन्न होते और उसी में लीन हो जाते हैं। दृश्य संसार में यद्यपि पञ्चभौतिक प्रकृति का प्राधान्य दिखाई पड़ता है परन्तु उसके मूल मे भी ब्रह्म ही सत्ता का काम करता है मकड़ी जिस प्रकार अपने मुँह में से जाला निकाल का बाहर फैलाती और फिर उसे समेट कर अपने पेट में रख लेती है उसी प्रकार मक्खी के जाले के समान यह प्रकृति भी ब्रह्म में से ही उत्पन्न होकर अन्त में उसी के गर्भ में चली जाती है।

यों विश्व में अनेक शक्तियाँ, वस्तुएँ तथा जीव योनियाँ दिखाई पड़ती हैं पर उनके मूल में भी ब्रह्म तत्व का ही तेज प्रकाशित हो रहा है। ऐसी सर्वप्रधान सर्वोपरि सत्ता के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करना प्रत्येक जीवधारी का कर्तव्य है। जीवन का प्रत्येक पहलू जिस सत्ता से प्रभावित है उसका ज्ञान और विधान जानकर ही प्राणी अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाये रहने, अवनति से बचने और विकास की दिशा में गतिशील हो सकने में समर्थ हो सकता है। इसलिये मनुष्य के लिये ब्रह्मविद्या की अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की गई और तत्वदर्शी ऋषियों ने लाखों वर्षों तक कठिन साधना और विचारणा के आधार पर ब्रह्म को जानने और उसकी महान महत्ता से अपने को ओतप्रोत करने एवं लाभान्वित बनाने का घोर प्रयत्न किया। उस प्रयत्न का निष्कर्ष उपनिषदों में साररूप से मौजूद है।

ब्रह्मविद्या के आधार पर उपलब्ध ज्ञान से मनुष्य अपनी निज की वस्तुस्थिति को समझ सकता है। आत्मज्ञान उपलब्ध कर सकता है। ब्रह्म की महानता और उसके सान्निध्य की उपयोगिता भी उसकी समझ में आती है। प्रिय-अप्रिय परिस्थितियों में जो रागद्वेष हर्ष शोक भरे आवेश उठते रहते हैं उनकी उत्तेजनात्मक अशुभ प्रतिक्रियाओं से भी बचे रहना ब्रह्म-ज्ञान के आधार पर ही सम्भव है। बाह्य जीवन में सुख और अन्तःकरण में शान्ति का समुचित मात्र में प्राप्त कर सकना भी ब्रह्म सम्बन्ध की प्रगाढ़ता पर ही निर्भर है। सुख और शान्ति की निर्झरिणी का मूल उद्गम आत्मा है और उस आत्मा का सर्बांगीण ज्ञान ब्रह्मविद्या के द्वारा ही उपलब्ध होता है। भवाबन्धनों से, शोक सन्तोश से छुटकारे का मार्ग ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त और नहीं है। उपनिषद इसी मार्ग की प्रशंसा करते हैं। ब्रह्मज्ञान ही उनका प्रधान विषय है।

"स ब्रह्म विद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठाम्"

—मुण्डक

अर्थात्—सम्पूर्ण विद्याओं में ब्रह्मविद्या ही श्रेष्ठ है। इसे प्राप्त करने की आकांक्षा का उदय होना मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य एवं दैवी अनुग्रह का चिह्न है। कहा गया है कि:—

कितने ही जन्मों के पश्चात् जब शुभ कर्म उदय होते हैं तब उसके भीतर अपने विकारों को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं वास्तव में कौन हूं और यह दोषमय संसार कहाँ से आ गया? इस प्रकार विचार करता हुआ वह अपनी स्थिति पर चिन्तन करता है।

योगकुण्डल्युपनिषद्

जीवन का सर्वोत्तम लाभ ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि ही है, श्रुति कहती है:—

ज्ञानी पुरुष का कर्तव्य है कि विद्युत की चमक के समान इस

क्षणस्थायी जीवन को व्यर्थ ही नष्ट न होने दे। शास्त्रों के अध्ययन और उनके बारम्बार अभ्यास के द्वारा ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति होती है।

—अमृतनादोपनिषद

चिन्तन, मनन, स्वाध्याय और सत्संग के आधार पर सद्ज्ञान की अभिवृद्ध करने और अज्ञान को मिटाने के लिए घोर प्रयत्न करने के लिये उपनिषदों में बहुत अधिक जोर दिया गया है। ज्ञान-साधन को ब्रह्मविद्या का प्रधान आधार माना गया है। जब तक सद्ज्ञान का उदय न होगा तब तक केवल क्रिया-काण्ड से समुचित लाभ नहीं होता। भावना विहीन साधना को निष्फल माना गया है। सब प्रकार के संशयों को निवृत्त करने एवं अध्यात्म पथ की श्रेष्ठता को भली प्रकार हृदयंगम करने के लिए ज्ञान-साधना की आवश्यकता पड़ती है। ब्रह्म विद्या-पथ के पथिक के प्रधान संबल ज्ञान पर जिसने जितना अधिक ध्यान दिया है उसे लक्ष की-प्राप्ति उतनी ही शीघ्रता से हुई है। ज्ञान-साधना की महत्ता बताते हुए उपनिषद् कहते हैं—

ज्ञान को ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है। ज्ञान ही सबसे अधिक पवित्र है।

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

वह ज्ञान से ही कहा जा सकता है। जो ज्ञान रूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले और ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उन्हें यह ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है।

—ब्रह्मोपनिषद्

अज्ञान से ही संसार है और ज्ञान द्वारा ही इससे निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही मूल है और ज्ञान द्वारा ही उस ज्ञेय की प्राप्ति हो सकती है।

—छांदोग्य

योग से ज्ञान और ज्ञान से योग की प्रवृत्ति होती है। जो योगी सदैव ज्ञान-योग में संलग्न रहता है वह नष्ट नहीं होता है। ऐसा विज्ञान-योगी सर्व विकारों से रहित ब्रह्म का अनन्य भाव से ध्यान करे। जिसको इस प्रकार ज्ञानयोग नहीं होता उसको सिद्धि नहीं मिलती। चित्त को निरन्तर आत्म कल्याण में संलग्न रखना ज्ञान योग है। इससे सब प्रकार की आत्म सम्बन्धी सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

--त्रिशिख ब्राह्मण उपनिषद्

योग रहित ज्ञान किस प्रकार मोक्ष देने वाला हो सकता है? ज्ञानरहित योग से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास करना चाहिए।

--योगतत्व उपनिषद्

उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन करने वाले, उसकी उपयोगिता को समझाने वाले अनेकों वर्णन उपलब्ध होते हैं। यथा:--

हे सौम्य, यह समस्त प्राणी 'सत्' से ही उत्पन्न हुए हैं, उसी में निवास करते हैं, और अनन्ततः उसी में लीन हो जाते हैं। यह जो दृश्य-अदृश्य सब कुछ है ब्रह्म रूप ही है। वह ब्रह्म ही सत्य है। वही आत्मा है। वही तू है।

--छांदोग्य उपनिषद्

जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से ही जाला उगलती है और फिर स्वयं ही निगल लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी से वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित शरीर से केश, रोम नख आदि उपजते हैं वैसे ही उस ब्रह्म से यह सारा संसार उत्पन्न होता है।

– मुण्डक उपनिषद्

जो उस निर्जीव तत्व ब्रह्म को जानता है वह निर्जीव हो जाता

है। वह जन्म नहीं लेता, मरता भी नहीं। मोह नहीं पाता, भेदा नहीं जाता, जलता नहीं, छेदा नहीं जाता, काँपता नहीं और न कुपित होता है। कमल की तरह निर्लेप रहता है। वह सत्य के साथ रहना चाहता है। आत्मा ही सत्य है।

—सुवाल उपनिषद्

सब कुछ ब्रह्म है, ऐसा जान लेने पर इन्द्रियों के ऊपर स्वयमेव संयम प्राप्त हो जाता है। इसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिए। नियम पूर्वक ऐसा एक ही प्रकार का विचार करना परम आनन्द रूप है।

ब्रह्मवृत्ति में रहने से पूर्णता प्राप्त होती है। इसलिए इसी वृत्ति में रहकर पूर्णता का अभ्यास करना। जिसकी यह ब्रह्मवृत्ति लगाकर वृद्धि को प्राप्त होती हुई परिपक्व हो गई है वे श्रेष्ठ ब्रह्मत्व को पाते है। पर अन्य जो केवल जिह्वा से बोलते ही हैं ब्रह्मत्व को प्राप्त नहीं होते।"

—तेजोविन्दु उपनिषद्

आत्मा, परमात्मा का ही स्वरूप है। मल विशेष आवरण और विकारों के कारण वह अपने आपको देह समझने लगता है। देह भाव में निमग्न हो जाने के कारण उसकी क्रियाएँ, चेष्टाएँ एवं आकांक्षायें भी निम्न श्रेणी की हो जाती हैं और उनकी प्रबलता होने पर नीति, अनीति का भेद भी दृष्टि से ओझल हो जाता है। जीव के पाप-वृत्ति होने का कारण यह अज्ञान ही है। देह को वाहन और साधन न समझ कर उसे ही अपना आपा मान लेने के कारण मनुष्य देह को सुखी और सम्पन्न बनाने में इतना तन्मय हो जाता है कि उसे लक्ष की भी विस्मृति हो जाती है और मानव जीवन जैसे अमूल्य अवसर को यों ही गँवा देता है ब्रह्मविद्या का प्रधान शिक्षण देह और आत्मा का भेद समझना है और इस भावना को पुष्ट करना है कि देह के लाभ एवं सुखों को आत्मा के लाभ एवं सुखों से अधिक महत्व न दिया जाय।

इस सम्बन्ध में उपनिषदों में जो महत्वपूर्ण चर्चा की गई है उसकी एक झांकी नीचे के कुछ उदाहरणों से की जा सकती है:—

यह देह रोगों का घर है। अस्थियाँ इसके खंभों के समान हैं, नसों का जाल, डोरियों में बँधा हुआ है, इस पर मांस रक्त का पलस्तर हो रहा है और चर्म से मढ़ दिया गया है। यह सदा मलमूत्र से युक्त रहता है, भीतर दुर्गन्ध भरी है। घृणित वीर्य और रज से इसकी उत्पत्ति हुई है। किसी दिन यों ही नष्ट हो जाने वाला है। ऐसी घृणित देह में भी यदि कोई मूर्ख मनुष्य प्रेम करता है तो वह नरक से प्रेम करने वाला ही होगा।

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्

जब तक शरीर है तब तक निश्चय ही सुख और दुःख का निवारण नहीं हो सकता है।

—छान्दोग्य उपनिषद्

माता-पिता के मल-मूत्र से बना हुआ, जन्म मरण वाला, सुख-दुख स्थान रूप और अपवित्र ऐसे इस शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए। सात धातुओं से बने, महारोग वाले पाप के घर के सदृश, अस्थिर, विकारों की खानों से भरे हुए ऐसे इस शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए। आँख कान आदि नौ दरवाजों द्वारा जिसमें से हमेशा मल निकलता रहता है और इस मल की दुर्गन्ध से जो भरा रहता है ऐसे इस दुष्ट मलिन शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए।

—मैत्रेयी उपनिषद्

बड़े-बड़े समुद्र सूख जाते हैं, पर्वत टूट-फूट जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है, देवता भी स्थिर नहीं रहते, ऐसे नाशवान संसार में विषय भोगों को लेकर क्या किया जाय? विषय में डूबे हुए प्राणियों को बार-बार जन्म मरण के चक्र में घूमना पड़ता है, इसलिये हे मुनिराज! अन्धेरे कुँए में मेंढक की तरह पड़े हुए मेरे जीव का उद्धार कीजिए। हे भगवन्! चपित

मैथुन से उत्पन्न हुआ यह अपवित्र शरीर यदि आत्मज्ञान से रहित हो तो इसे नरक ही समझना चाहिए। यह देह मूत्र द्वार से निकला है, हड्डियों से चिना है, माँस से लिपा है, चमड़े से मढ़ा है और विष्ठा, मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद आदि मलों से भरा है। ऐसे शरीर में रहने वाले मुझ जीव को कल्याण का मार्ग बताइए और शरण दीजिए।

—मैत्रेयी उपनिषद्

उपरोक्त अभिवचनों में शरीर की नश्वरता और तुच्छता का प्रतिपादन किया गया है ताकि मनुष्यों की देह-सुख की ओर अत्यधिक झुकी हुई प्रवृत्ति पर अंकुश लगे और वह इसकी तुच्छता और आत्मा की महत्ता की तुलना करके आत्मलाभ के लिए प्रयत्नशील हों।

कुटुम्बियों के मोह सम्बन्ध, स्त्रियों के प्रति काम-दृष्टि होने के कारण भी मनुष्य अनेक दुष्कर्म करते देखे गये हैं। इस आकर्षण एवं मोह में व्यक्ति अनुचित रूप से ग्रसित न होने पावे इसलिए उपनिषद-कारों ने स्त्रियों में काम बुद्धि रखने और कुटुम्बियों के लिए कर्तव्य बुद्धि तक ही सीमित न रहने की मोहग्रस्तता का निषेध किया है। इस सम्बन्ध में कुछ अभिवचन इस प्रकार मिलते हैं—

माँस की बनी हुई इस चलती-फिरती पिटारी रूपी स्त्री के शरीर में नस, हड्डियाँ और ग्रन्थियाँ ही भरी हैं। भला उसमें भी कुछ सुन्दरता है? जरा इसकी चमड़ी, माँस, खून, आँख आदि को अलग-अलग करके तो देखो इनमें से क्या सुन्दर है? ये काढ़े हुए बाल, ये कजराली आँखें भयानक अग्नि शिखा की तरह हैं; वे मनुष्य को तिनके के समान जला देती हैं। देखने में सुन्दर होते हुए भी वे नरक रूपी अग्नि की लकड़ियाँ हैं। कामदेव रूपी बहेलिये ने मनुष्य रूपी पक्षियों को फँसाने के लिए यह स्त्रीरूपी जाल-पाश फैलाया है। इन दुःखों की शृङ्खला रूप नारियों से तो भगवान ही बचावे।

—याज्ञवल्क्योपनिषद

एक जन्म में जो माता होती है, वह अन्य जन्म में भार्या हो जाती है और जो भार्या होती है वह माता बन जाती है। जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र पिता के रूप में जन्म ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार यह संसार चक्र, कूप-चक्र (पानी खींचने की रहट) के समान है जिसमें प्राणी विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है।

—योगतत्व उपनिषद्

शरीर सम्बन्धी सम्पत्ति कीर्ति आदि की चिन्ता जितनी मात्रा में की जाती है उससे अधिक आत्मा की चिन्ता की जानी चाहिए, क्योंकि उसका महत्व इन सबसे अधिक है। साथ ही यह भी निश्चित है कि आत्मा की स्थिति स्वस्थ, संतुलित एवं शान्त हो तभी सांसारिक प्रगति, समृद्धि एवं सुसम्बन्धों की अभिवृद्ध संभ्व है। परलोक में सद्गति, पुनर्जन्म में उच्च स्थिति की प्राप्ति एवं ईश्वर की अनुकम्पा भी आत्मा की स्वस्थता पर ही निर्भर है। इसलिए आत्मा के स्वरूप को समझने और उससे चिपटे हुए मल विक्षेपों के अज्ञान आवरणों के अनर्थ को जानने के लिए आत्म-चिन्तन आवश्यक है। मेरा शुद्ध स्वरूप क्या है ?' इस तथ्य पर जितना ही अधिक ध्यान दिया जाता है उतना ही आध्यात्मिक जीवन का द्वार खुलता है। उपनिषदों में आत्म चिन्तन के लिए बहुत ही महत्व-पूर्ण मार्गदर्शन हुआ है।

आत्मा के आनन्द को जानकर ज्ञानी पुरुष मुक्त बन जाते हैं। दूध में घी के समान सर्वत्र व्याप्त आत्मा, ज्ञान और तप द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा ही ब्रह्म है—यही परमपद है।

—ब्रह्मोपनिषद्

"मैं देह हूं" ऐसा संकल्प ही संसार कहलाता है, ऐसा संकल्प ही बन्धन है, यही दुःख है, यही नरक है, इसी को हृदय की गाँठ कहते हैं, यही अज्ञान है। यही पाप है। यही तृष्णा है।

काम, क्रोध, बन्धन, दुःख, दोष आदि जो कुछ भी बन्धन रूप है, वह संकल्पों का समूह ही है। हे सौम्य, यह सब मानसिक ही है ऐसा तुझे जान लेना चाहिए।

--तेजोविन्दु उपनिषद्

मेरी अपनी माया गलित हो गई है, मेरी अहन्ता अस्त हो चुकी है। मैं विशाल सुख से पूर्ण तथा ज्ञान स्वरूप हूं। मैं बद्ध-मुक्त का अद्भुत स्वरूप हूँ। मैं विवेक बुद्धि से आत्मा को अद्वैत जानता हूं तो भी बन्ध-मोक्ष आदि व्यवहार जान पड़ते हैं। मेरी दृष्टि से प्रपञ्च दूर हो गया है तो भी वह सत्य जैसा ही जान पड़ता है। बुद्धिमान मनुष्य विष और अमृत को देखकर जिस प्रकार विष का त्याग करता है वैसे ही आत्मा को देखकर मैं अनात्मा का त्याग करता हूं। कुल, गोत्र, नाम, रूप, जाति आदि का अस्तित्व तो स्थूल देह में होता है। मैं तो स्थूल रूप से भिन्न हूं इसलिए उनमें से किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ--इससे मुझे दुःख नहीं है। वे सब केवल अज्ञान से ही जान पड़ते हैं।

--आत्मप्रबोधोपनिषद्

मैं तीनों देहों से भिन्न हूँ--शुद्ध चैतन्य हूं, जिसे ऐसा निश्चय हो गया हो और जो परमानन्द से पूर्ण हो गया हो वह जीवनमुक्त कहलाता है। जिसमें कुछ भी अहम्-भाव शेष नही है, जो आत्मा रूप ही शेष रहा हो आसक्ति से छूट गया हो, नित्य आनन्दरूप होकर प्रसन्न रहता हो, चिन्तारहित हो, हमारा कुछ है ही नहीं ऐसा मानता हो, वह जीवन-मुक्त कहलाता है। मुझे सन्ताप नहीं, लाभ नहीं मेरे लिए कोई मुख्य नहीं कोई गौण नहीं मुझे कोई भ्रान्ति नहीं कोई गुह्य नहीं कोई कुल नहीं मेरा तू नहीं है और मैं तेरा नहीं हूँ मैं ब्रह्म हूं मैं ब्रह्म हूं मैं ब्रह्म हूं। मैं चैतन्य हूं मैं चैतन्य हूं मैं चैतन्य हूँ जिसे ऐसा निश्चय हो गया है वह जीवन-मुक्त कहलाता है।

--तेजोविन्द उपनिषद्

इस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में लोक, लोक स्वरूप में नहीं हैं। माता, माता रूप में नहीं हैं। पत्नी, पत्नी रूप में नहीं हैं। चाण्डाल चाण्डाल रूप में नहीं है। भील भील रूप में नहीं हैं। संन्यासी संन्यासी रूप में नहीं है।

—ब्रह्मोपनिषद्

आत्म-चिन्तन को ही उपनिषद्कारों ने ईश्वर की पूजा माना है। आत्म-चिन्तन की प्रत्येक क्रिया उपासना के कर्मकाण्ड का स्थान स्वयमेव ग्रहण कर लेती है। आत्म-चिन्तन के आधार पर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने वाले व्यक्ति की आत्मा दिन-दिन परमात्मा के निकट पहुँचती जाती है। यह स्थिति जब परिपक्व होने लगती है तो शरीर को तुच्छ मानने की अपेक्षा फिर उसे यज्ञ रूप समझना होता है और देह में ही सारे देवताओं को अवस्थित देखते हुए उसे देव मन्दिर स्वीकार करना होता है। उपनिषदों की ब्रह्मविद्या के अनुसार उच्च स्थिति का ब्रह्म, परायण साधक इसी स्थिति को प्राप्त करता है। यथा—

उस आत्मा का निरन्तर चिन्तन ही ध्यान है। सभी कर्मों का त्याग आवाहन है। निश्चल ज्ञान ही आसन है। उन्मनता पाद्य है। मन का लगाना अर्घ्य है। आत्माराम की दीप्ति आचमन है। अन्तःज्ञान ही अक्षत है। चिद् का प्रकाश ही पुष्प है। स्थिरता ही प्रदक्षिणा है। सोऽहम् भाव नमस्कार है। सन्तोष विसर्जन है। यही भाव मोक्ष के इच्छुकों को सिद्धिप्रद है।

—आत्मपूजोपनिषद्

निश्चित अवस्था उसका ध्यान है, सर्व कर्म दूर करना उसका आवाहन है, निश्चय ज्ञान ही आसन है, मन रहित होना ही पाद्य है, नित्य मनरहित स्थिति ही अर्घ्य, नित्य का प्रकाश और अमृत रूप वृत्ति ही स्नान है। ब्रह्म के समान भावना ही चन्दन है, दर्शन के स्वरूप में स्थिति अक्षत है, चैतन्य की प्राप्ति पुष्प है, चैतन्य रूप अग्नि का स्वरूप ही धूप है, चैतन्य रूप सूर्य का स्वरूप दीप है। परिपूर्ण चन्द्रमा के अमृत-

रस से एकात्मा करना ही नैवेद्य है। निश्चलता ही प्रदक्षिणा, है। 'मैं वही हूँ' यह भावना ही नमस्कार है, मौन ही स्तुति है, और सर्व प्रकार का सन्तोष ही विसर्जन है। जो इसको जानता है वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

—मंडल ब्राह्मण उपनिषद्

इस शरीर यज्ञ का आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज है। अहंकार ही अध्वर्यु है, चित्त ही होता है, प्राण ही ब्राह्मणच्छंसी है। अपान प्रतिप्रस्थान है, व्यान प्रस्तोता, उदान उद्गाता, समान मैत्रावरुण, शरीर वेदी, नाक अन्त: वेदी, शिर द्रोण कलश, पैर रथ, दाहिना हाथ, स्रुवा, बायां हाथ घृत-पात्र, कान प्रणीता आंख आज्य भाग, गर्दन धारा, ॐकार खम्भा, आशा रस्सी, काक पशु, इन्द्रियाँ यज्ञ पात्र, कर्मेन्द्रियाँ हवि, अहिंसा इष्टिकाएँ, त्याग दक्षिणा, मृत्यु ही अवभृथ स्नान है।

——प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्

ब्रह्मा का स्थान हृदय है, विष्णु कंठ में रहते हैं, तालु में रुद्र और ललाट में महेश्वर का स्थान है। नासाग्र में अच्युत जानो।

——ब्रह्मविद्या उपनिषद्

जब तक जीव का देहाभिमान नष्ट नहीं होता तब उसे अपनी तुच्छता को ही अनुभव करना चाहिए और अहंकार से निरन्तर बचना चाहिए। देह की, बुद्धि की, धन की अपनी विशेषता मानने से व्यक्ति को अहंकार आता है और वही पतन का कारण बनता है। ऐसे अहंकार से बचे और अपने को नम्र, विनयी एवं तुच्छ मानते रहने का भक्ति ग्रन्थों में सर्वत्र वर्णन मिलता है। अपने को देह मानने वाले सामान्य श्रेणी के लोगों के लिए वही मान्यता उचित भी है। किन्तु ब्रह्मविद्या का विद्यार्थी जब आत्म-चिन्तन करता और अपने शुद्ध स्वरूप को समझना

आरम्भ करता है तब उसका द्वैत विनष्ट होता है और अद्वैत भाव का प्रकाश मिलता है। उस स्थिति में उसे आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता का बोध होता है और अपने को अपने में ओत-प्रोत देखता है। यह स्थिति जब उपलब्ध होने लगे तो आत्म-चिन्तन के समय अपने आत्मा को ब्रह्म की स्थिति में तदनुसार भावनाएँ करने एवं मान्यताएँ जगाने की आवश्यकता है। ईश्वर के साथ तादात्म्य होने की पूर्ण स्थिति भी यही है। वेदान्त शास्त्रों में इसी स्थिति का मार्ग दर्शन है। उपनिषदों में प्रस्तुत ब्रह्मविद्या में ऊँची स्थिति के साधकों के लिए आत्म-स्वरूप के चिन्तन का यही मार्ग बताया गया है। ऐसे प्रशिक्षण के कुछ प्रसङ्ग इस प्रकार हैः—

"मैं ब्रह्म हूँ" यह मंत्र दृश्य पापों का नाश करता है। देह के दोषों का नाश करता है। मृत्यु पाश का नाश करता है। द्वैत के दुःख का नाश करता है, भेद बुद्धि का नाश करता है चिन्ता के दुःखों का नाश करता है, सब व्याधियों का नाश करता है, सब शोकों का नाश करता है, काम, क्रोध, चंचलता, कामना और अज्ञानता का नाश करता है। "मैं ब्रह्म हूँ" यही मन्त्र ज्ञान और आनन्द प्रदान करता हुआ संसार से छुड़ा देता है, इसमें सन्देह नहीं।

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

मैं अच्युत हूँ, अचिन्त्य हूँ, अजन्मा हूँ, काया से रहित हूँ, अति सूक्ष्म हूं, अविकारी हूँ, आनन्द अमृत रूप हूं उत्तम पुरुष हूं उत्कृष्ट हूं अन्धकार से परे हूं दिव्यदेव स्वरूप हूं बुद्ध हूं महेश्वर हूं विमुक्त हूं वैश्वानर हूँ, सब प्राणी मुझ में ही निवास करते हैं।

—ब्रह्मविद्या उपनिषद्

मैं केवल परब्रह्म स्वरूप हूं, परम आनन्द स्वरूप हूँ, केवल ज्ञान रूप हूँ, केवल सत्य रूप हूँ, सदा शुद्ध स्वरूप हूं। केवल प्रिय स्वरूप हूं। इच्छाओं से रहित हूँ, निर्दोष हूँ, ज्योति स्वरूप हूं, चिन्ता रहित हूं,

स्वयं परमगति रूप हूँ। सदा तृप्त हूँ। मुक्त हूँ, मैं क्या नहीं हूं ? मैं स्वयं स्वयं को ही खाता हूं, स्वयं, स्वयं के साथ ही खेलता हूं, स्वयं ही अपना प्रकाश हूँ।

—तेजोविन्दु उपनिषद्

मैं मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूं, देह नहीं हूं, कामना नहीं हूं, मेरा कोई सजातीय नहीं, कोई विजातीय नहीं, संसार में जो कुछ उत्पन्न हुआ, है झूठा है, केवल मैं ही सत्य हूँ।

—तेजोविन्दु उपनिषद्

हृदय को निर्मल करके और अनामय ब्रह्म का चिन्तन करके यह जान लेना चाहिए कि मैं ही सर्वरूप ब्रह्म हूँ, मैं ही परम सुख रूप हूं। जल में जल डालने से, दूध में दूध मिला देने से, घी में मिला देने से वे एक रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के मिल जाने पर उनमें भी कोई अन्तर नहीं रहता। जब ज्ञान द्वारा देहाभिमान नष्ट हो जाता है और बुद्धि अखण्डाकार हो जाती है तब बुद्धिमान पुरुष ज्ञान रूपी अग्नि में कर्म बन्धनों को भस्मसात कर देता है, फिर वह निर्मल वस्त्र के समान होकर पवित्र और अद्वैत, ब्रह्म को प्राप्त करके उसी प्रकार अपने स्वरूप में स्थिति हो जाता है जैसे जल दूसरे जल में मिलकर अभिन्न हो जाता है।

—पैङ्गल उपनिषद्

उपनिषदों में जीव को उसका वास्तविक स्वरूप समझाते हुए बार-बार यही कहा गया है कि तू ब्रह्म है, अभिन्न है। अपने वास्तविक स्वरूप को समझ और ब्रह्म भावना में निरन्तर निमग्न रह।" ऐसे अनेक प्रवचनों में से कुछ इस प्रकार हैं:—

"तब अथर्व कहने लगे—हे शाण्डिल्य ! ब्रह्म सत्य, विज्ञान और अनन्त स्वरूप है, जिसमें यह सब ओत-प्रोत है। जिसे जानने से यह सब

जान लिया जाता है। वह शरीर रहित ग्रहण न कर सकने योग्य और बताये न जा सकने योग्य है। जिसको पाये बिना वाणी मन के साथ पीछे लौट जाती है,जो केवल ज्ञान से प्राप्त किया जा सकता है, जो एक और अद्वितीय है, आकाश के समान सर्वव्यापी अत्यन्त सूक्ष्म, निरञ्जन निष्क्रिय, मात्र सत्य-स्वरूप, चैतन्य और आनन्द रूप, एकरस वाला, मंगलमय अति शांत और अमर है। वह परब्रह्म है। वही तू है। ज्ञान के द्वारा तू उसे जान। जो एक ही देव आत्मा की शक्ति रूप में मुख्य, सर्वज्ञ, महेश्वर, सब प्राणियों का अन्तरात्मा,सर्व प्राणियों में निवासकर्ता सर्व भूतों में गप्त, भूतों का मूल उत्पत्ति-स्थान, केवल योग द्वारा जान सकने योग्य है, जो विश्व की सृष्टि करता है, विश्व की रक्षा करता है, विश्व का संहार करता है, वही आत्मा है। इस आत्मा का विशेष ज्ञान प्राप्त करके ही तू शोक का अन्त कर सकेगा।

—शाण्डिल उपनिषद्

तू सत्य है सिद्ध है सनातन है मुक्त है संकल्प रहित है आनन्द है, ज्ञानी है, द्रष्टा है, निर्विकार है निरोगी है अपने स्वरूप को ही तू देख रहा है अपने आनन्द में ही तू डूब रहा है और अन्त में तू स्वयं ही शेष रह जायगा।

—तेजोविन्दु उपनिषद्

तू ही विश्व के कण-कण में जीवन शक्ति के रूप में व्याप्त विराट् रूप ग्रहण कर भुवन का रक्षक है। तू ही वह्निरूप तथा यज्ञमय है। तू ही एकमात्र व्यापक तथा पुराण पुरुष है। तू ही प्राण रूप धाता विश्व कर्त्ता विधाता, हर्ता है। पवन, गरुड़, विष्णु वराह रात-दिन भविष्य वर्तमान तू ही है वसु आकाश अग्नि और रुद्र रूप में सर्वव्यापी है।- अन्तर्यामी रूप में तू ही सर्वत्र ओतप्रोत है। विविध प्रकार की गतियों और विश्रान्तियों का तथा वेद का स्वरूप तू ही है। हे सहस्र-बाहु,ज्योति स्वरूप ! वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी लोग साम गान तथा यजुर्वेदी

यज्ञ-प्रार्थनाओं द्वारा तुझे ही गाया करते हैं। तेरी ही प्रार्थना करते हैं। स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका, पृथ्वी, धाता, वरुण, अर्यमा आदि जो कुछ दृष्टिगोचर होता है तू ही है। तेरा ही स्वरूप है।

—एकाक्षरोपनिषद्

भावनात्मक साधना मनोमय के लिये उपयुक्त है, पर साथ ही शरीर से सत्कार्य करते रहना भी आवश्यक है। कर्तव्य कर्मों को छोड़ कर बैठ जाना, उत्तरदायित्वों की उपेक्षा करना किसी के लिए भी उचित नहीं। मन से केवल भजन और चिन्तन करते रहना और जीवन की अन्य जिम्मेदारियों को छोड़ बैठना ब्रह्मविद्या के मान्य सिद्धांतों के प्रतिकूल है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर कर्तव्य कर्म करते रहने का आदेश है। ऐसे कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों की साधना ही सफल होती है। लिखा भी है:—

धर्म के तीन स्कन्ध हैं, यज्ञ, अध्ययन और दान—यह प्रथम स्कन्ध है। तप—यह दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए अपने शरीर को क्षीण करना—यह तीसरा स्कन्ध है। इनको अपनाने वाले सभी पुण्यलोक के भागी होते हैं।

—छांदोग्य अध्याय २ त्रयोदश खंड

इस आत्मा को ब्रह्मपरायण लोग स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसी को जान कर वे मुनि हो जाते हैं।

—वृहदारण्यक, अध्याय ४ ब्राह्मण ४

—:—

## संन्यास उपनिषदें

उपनिषदों के ब्रह्मविद्या खण्ड की कठ, रुद्रोपनिषद, मुण्डकोपनिषद्, अरुणिकोपनिषद, संन्यास उपनिषद्, नारद परिव्राजकोपनिषद, पैङ्गल उपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, आत्मप्रबोधोपनिषद, कैवल्योपनिषद, ब्रह्मबिन्दु उपनिषद, आत्मोपनिषद, पञ्च ब्रह्मोपनिषद, शारीरिक उपनिषद, शाट्यायनीयोपनिषद, याज्ञवल्क्योपनिषद, जाबालोपनिषद,परम-हंस उपनिषद, निर्वाण उपनिषद, परमहंस परिव्राजक उपनिषद,भिक्षुको-पनिषद, तुरीयातीत उपनिषद, अवधूत उपनिषद--इन उपनिषदों में संन्यास धर्म की चर्चा विशेष रूप से हुई है। संन्यास का उद्देश्य,उसका परिणाम, कर्त्तव्य और नियम, निषेध और प्रतिबन्ध, विकार और दृष्टि-कोण, साधना और तपश्चर्या जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर इन उपनिषदों में प्रकाश डाला गया है।

संन्यास एक बहुत ऊँची आध्यात्मिक स्थिति है। उसमें सब ओर से मन हटा कर मनुष्य केवल ब्रह्मपरायण ही रहता है,और अन्ततः ब्रह्म भूत ही हो जाता है। तीन आश्रमों में जीवन को समुन्नत करके, पारि-वारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों से छुटकारा पाकर मनुष्य के लिए एक ही कार्य शेष रहता है अर्थात् आत्मा को परमात्मा में लय कर देना। उसकी पूर्ति संन्यास में हो जाती है।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ यह तीन आश्रम तो सभी के लिये बताये गये हैं पर संन्यास के अधिकारी सब कोई नहीं होते। जिनने मनोभूमि को भली प्रकार ज्ञानयुक्त एवं विकसित कर लिया हो, सभी अध्यात्मिक गुण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कर लिये हों, वे वृद्धावस्था में, चौथी आयु में संन्यास ग्रहण करते हैं और फिर आत्म-साधना में ही लग जाते में। चौथी आयु में शरीर भी पारिवारिक एवं समाज-सेवा के लायक

नहीं रहता। कामनाएँ भी शान्त हो जाती हैं, वही संन्यास के लिए उपयुक्त समय भी है।

प्राचीन काल में सभी ऋषि ब्रह्मवेत्ता, तत्वदर्शी व्यक्ति संन्यासी नहीं होते थे। वे लोग ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ की स्थिति में रहकर विद्याध्ययन, तत्व चिन्तन, आत्म-निर्माण एवं लोक-सेवा का कार्य पूरा करते थे। संन्यास तो उनमें से कुछ थोड़े से ही मनीषी लेते थे, जिन्हें यह पूर्ण विश्वास हो जाता था कि उनके सारे लौकिक कर्तव्य पूर्ण हो गये और मनोभूमि इस योग्य बन गई कि बिना अड़चन के ब्रह्म-सम्बन्ध सध सकता है। वे ही कषाय वस्त्र धारण करते थे।

संन्यास-साधना जितनी ही महान है उतनी ही कष्ट-साध्य भी है। त्याग का ऊँचे से ऊँचा आदर्श उसमें उपस्थित किया जाता है। शारीरिक तितिक्षा, अपरिग्रह एवं संयम को उच्चतम स्थान दिया जाता है और मन की सारी विकृतियों को परास्त करके जीवनमुक्त जैसी स्थिति बनानी पड़ती है। यही संन्यास का वास्तविक स्वरूप है।

उपरोक्त उन्नीस संन्यास उपनिषदों में जो कर्तव्य और नियम संन्यासी के लिए बताये गये है वे विचारणीय हैं। जिसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास हो कि मैं इन कर्तव्यों का दृढतापूर्वक पालन कर सकता हूं उन्हें ही यह उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लेना चाहिए। अन्यथा ऊँचे उठने की अपेक्षा अधःपतन का ही भय रहेगा। संन्यासी के लिए आन्तरिक त्याग का आदर्श इन उपनिषदों में इस प्रकार बताया गया है:—

"काम, क्रोध, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, परनिन्दा, इच्छा, ममता, अहंकार, हर्ष आदि का पूर्ण त्याग करे।"

—अरुणिकोपनिषद्

"जिसमें शान्ति, शम, दम, शौच, संतोष, सत्य, सरलता, दम्भ-हीनता और असंचय वृत्ति हो वही संन्यास-आश्रम में प्रवेश करने का

अधिकारी माना गया है। मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी के प्रति ईर्षा भाव न रखना संन्यासी का कर्तव्य है। इस प्रकार के धर्मों का आचरण करते हुए एकाग्र मन से उपनिषदों को पढ़े और ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वाध्याय करते हुए ऋषि-ऋण से मुक्त हो।

संन्यासी को तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य आदि श्रेष्ठ गुणों का पालन उचित है। जो इन गुणों को छोड़कर केवल भिक्षा-वृत्ति से पेट पालता है वह संन्यास वृत्ति को नष्ट करने वाला है। केवल शिर मुड़ाने, दंड धारण आदि से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। दंडी वही है जिसके पास ज्ञान-रूप दण्ड है। मन में इच्छाएँ जागृत हैं ज्ञान का अभाव है और काठ का दंड धारण कर रखा है ऐसा आडम्बर करने वाला मनुष्य घोर नरक का अधिकारी होता है ऋषिगण प्रतिष्ठा को 'शूकरी विष्ठा' कहते हैं इसलिए संन्यासी को सर्व प्रथम इसे ही त्याग करना चाहिए।

'संन्यासी का निश्चित धर्म भिक्षा-वृत्ति के द्वारा भोजन, तप करना मौनावलम्बन, ज्ञानान्वेषण और विरक्ति भाव हैं।'

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्

निवास वस्त्र और वस्तुओं का संग्रह कैसा हो, इस सम्बन्ध में संन्यासी के नियम इस प्रकार हैं:—

'दण्ड, कोपीन एवं तन ढकने के लिए आवश्यक हो तो कोई वस्त्र इतना ही पास रखे। सब वस्तुओं का संग्रह छोड़ दे।'

—अरुणिकोपनिषद्

'दो लँगोटियाँ एक गुदड़ी और एक दंड यही वस्तुएँ संन्यासी संग्रह कर सकता है। इससे अधिक संग्रह नहीं कर सकता। यदि लोभ वश अधिक संग्रह करता है तो वह मरने पर रौरव नरक को प्राप्त होकर फिर पशु पक्षी आदि योनियों में जन्म लेता है। ठण्ड आदि से

रक्षा करने के लिये जीर्ण शीर्ण स्वच्छ वस्त्रों को सींकर गुदड़ी बनावे और निर्जन स्थान में जाकर रहे।'

--नारद परिव्राजकोपनिषद्

खाने-पीने का लालच रखने वाले ऊनी और रेशमी कपड़े पहनने वाले संन्यासी का असंदिग्ध रूप से पतन होता है।'

--अरुणिकोपनिषद्

एकाकी रहे अथवा एक साथी बना ले।

--अरुणिकोपनिषद्

बस्ती में भिक्षा के लिए ही घुमे। संन्यासी का एकाकी रहना इसलिये भी आवश्यक है कि एक से दो होने पर जोड़ा कहा गया है और तीन मिल जाने पर गांव कहा जाता है। इससे अधिक होने पर तो पूरा नगर ही हो गया। इसलिये शास्त्रों में अकेले संन्यासी को ही भिक्षुक कहा है। वह अपने पास किसी को आने का अवसर ही न दे। क्योंकि नगर ग्राम या जोड़े के रूप में रहने वाला संन्यासी अपने धर्म से पतित हो जाता है। कई व्यक्तियों के सम्मिलित होने पर निरर्थक बातें होंगी. इसके फलस्वरूप परस्पर स्नेह द्वेष निन्दा आदि भावों की उत्पत्ति होगी। इसलिए निस्पृहतापूर्वक अकेला ही रहने की शास्त्रों ने आज्ञा दी है। उसे निरर्थक वातावरण से बचना चाहिये।

ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक निवास न करे। वर्षा ऋतु के लिये यह नियम नही है। गाँव में दो रात्रि रहना भिक्षुक के लिये वर्जित है क्योंकि अधिक रहने से राग आदि की उत्पत्ति संभव है जिसके कारण नरक प्राप्ति होती है। निर्जन स्थान पर अपने लिये मठ या आश्रम न बनावे।—जो संन्यासी अपने रूप को जानता है वह एकाकी ही घूमता है। जैसे डरा हुआ हिरन कभी एक स्थान पर नहीं रहता वैसे ही संन्यासी भी कभी एक स्थान पर नहीं ठहरता।'

—नारद परिव्राजकोपनिषद

'हमेशा जमीन पर सोवे । हजामत करना त्याग दे।'

—परमहंस परिव्राजकोपनिषद्

'हाथ अथवा खप्पर में भिक्षा माँगे, कमण्डलु में जल पीवे, भोजन इतना ही मांगे जो बचे नहीं,दूसरे पात्र में न रखना पड़े, रहने के लिए एकान्त स्थान चुने । खाली खण्डहर, देव मन्दिर, फूँस की झोंपड़ी, पेड़ की जड़, गुफा अथवा बड़े पत्थरों के नीचे रहे । स्थायी घर न बनावे

—याज्ञवल्कोपनिषद्

संन्यासी के लिए निम्न कार्यों का निषेध किया गया है:—

'संन्यासी के लिए भोग, ममता, माया, लोभ, तृष्णा, क्रोध, असत्य, राग, अहंकार कामना, संग्रह, व्याख्यान,शिल्प, चिकित्सा, व्यवसाय, परगृह निवास, औषधि वितरण,मंत्र प्रयोग धर्मार्थ साहसिक कार्य आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध हैं । जो इन्हें करता है वह अपने धर्म से पतित हो जाता है ।'

'वाणी का व्यर्थ अपव्यय करना निरर्थक है । उत्सव देखना तीर्थ यात्रा करना भी संन्यासी के लिए आवश्यक है । यात्रा में सवारी का उपयोग करना क्रय-विक्रय अदला बदला करना सभाओं में भाषण देना असत्य बोलना निषिद्ध है । व्यवसाय वाणिज्य आदि कर्म न करे । शिष्य एकत्रित न करे। विभिन्न आयोजनों द्वारा अपनी प्रसिद्धि न बढ़ावे वेदों का ज्ञाता हो तो भी गो के समान निरहंकार रहे, दूसरों के द्वारा मिला हुआ आदर तपोपार्जन में हानिप्रद है । किसी अनुचित कार्य द्वारा संन्यास धर्म को कलंकित न करे । सदा अपने आश्रम के अनुकूल आचरण करे । कभी किसी पद की कामना न करे । आत्मा की ही उपासना करे किसी अन्य देवता की नहीं । देवोत्सव अथवा मेले आदि में भाग न ले । परिचित स्थान के उपयोग से दूर रहे । सभा स्थल को समशान के समान समझे । धन सम्पत्ति को कालकूट विष के समान माने ।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

उसका आहार कितना, कैसा और कहाँ से प्राप्त हो, इसकी परम्परा इस प्रकार है:—

"भोजन को औषधि की दृष्टि से अर्थात् केवल प्राण-रक्षा के लिए लेवे। आहार ऐसा ले जिससे चर्बी न बढ़े। शरीर दुबला ही रहे। एक ही स्थान से भिक्षा न करे चाहे वह बृहस्पति के समान ही पूज्य क्यों न हो।...संन्यासी के लिए घी कुत्ते के मूत्र के समान है, शहद शराब के तुल्य है। तेल शूकर के मूत्र के समान है। दूध नर मूत्र के समान है। इसलिए उसे सर्वत्र घृत आदि रहित भोजन ही प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। घी आदि के पकवान कभी न खाय। ....घी को रुधिर के समान, एकत्र किये हुए अन्न को माँस के समान त्याग दे। गन्ध लेपन को गन्दी वस्तु के समान, हँसी मजाक और घमण्ड को गो-मांस के समान, परिचित घर की भिक्षा को चाण्डाल के समान, स्त्री को सर्पिणी के समान, धन को कालकूट के समान और सभा आदि को श्मशान के तुल्य त्याग दे।"

—संन्यास उपनिषद्

"अन्न को औषधि के समान ग्रहण करे। जैसे औषधि अल्प मात्रा में ली जाती है वैसे ही अल्पाहार करे। जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी को खाकर सन्तोष करे।"

—अरुणिकोपनिषद्

"संन्यासी को उत्तम वर्ण के ग्रहस्थों के घरों से ही भिक्षा लेनी चाहिए। जब चूल्हे की अग्नि शान्त होले और सब भोजन करलें तभी भिक्षाटन करे। संन्यासी अपने हाथ को ही पात्र मान कर विचरण करते हैं और बारम्बार भिक्षा नहीं माँगते। निंदित घरों से भिक्षा न ले। अनिंदित सद्गृहस्थों का ही अन्न ग्रहण करे। जिस घर के किवाड़ बन्द हों वहाँ न जाय किसी एक ही गृहस्थ का भोजन कदापि न करे।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

अहंकार से उत्पन्न होने वाला क्रोध, मान और यश संन्यासी के लिए त्याज्य है। इनके कारण अहंभाव बढ़ता है जो पतन का कारण बनता है। संन्यासी को क्रोधी तो होना ही नहीं चाहिए। इस सम्बन्ध में यह निर्देश है:—

"ज्ञानशील यति को किसी पर उसी प्रकार क्रोध नहीं आता जैसे मनुष्य को भूल करने वाले अपने शरीर के अंगों पर क्रोध नहीं आता। यदि कोई किसी पर क्रोध करे तो उससे पूछना चाहिए कि तुम क्रोध पर ही क्रोध क्यों नहीं करते, जो सब अनर्थों की जड़ है।"

—याज्ञवल्कोपनिषद्

"अपनी प्रशंसा से प्रसन्न न हो और निन्दा सुनकर क्रोध न करे। किसी को गाली न दे।"

—कठरुद्रोपनिषद्

"जैसे साधारण मनुष्य अपनी प्रशंसा और आदर से अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता यदि पिटने पर भी बनी रहे तभी उसे भिक्षु होने का अधिकार है।....किसी का अनादर न करे और दूसरों के कठोर वचन सहन करले। जो क्रोध करे उसके प्रति क्रोध न करे। जो गाली दे उसे गाली न देकर अच्छी वाणी ही बोले।... अपनी साधना सम्बन्धी जानकारी लोगों पर प्रकट न होने दे।"

—नारदपरिव्राजकोपनिषद्

वानप्रस्थ और गृहस्थाश्रम वाले व्यक्ति तो स्वयं स्त्री-सहित होने के कारण स्त्रियों के सम्पर्क में रह सकते हैं, पर संन्यासी के लिए उसका भी निषेध है।

"संन्यासी किसी स्त्री से बात न करे। पूर्व परिचित किसी स्त्री का स्मरण न करे। स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा भी न सुने। क्योंकि इससे मन में विकारों की उत्पत्ति होती

है और वह योग भ्रष्टता का कारण होता है ।···युवती नारी के दर्शन मात्र से ही उन्मत्तता हो जाती है । इसलिए ऐसी नारी के दर्शन तक संन्यासी को नहीं करने चाहिए । स्त्रियों से वार्तालाप एवं नृत्य गान से दूर रहे ।···स्त्री को भुजंगिनी के समान भयकर माने ।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

"वृद्ध हुआ संन्यासी वृद्धा स्त्री का भी विश्वास न करे । क्योंकि पुरानी गुदड़ी में पुराना कपड़ा भी लग जाता है । स्वस्थ युवावस्था वाले संन्यासी को कभी किसी के घर में नहीं रहना चाहिए ।"

—संन्यास उपनिषद्

"संन्यासी अपने सम्बन्धियों, नट आदि के खेलों, जुआ युवती स्त्री स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ इनकी ओर कभी न देखे । अपनों के प्रति मोह, दूसरों के प्रति द्रोह, माया, मद, राग द्वेष इनसे सदा दूर रह कर मन में कभी इनके सम्बन्ध में विचार न करे ।·····स्त्रियों के सम्बन्ध में बात-चीत करना, अथवा सोचना, इन्द्रियों की लोलुपता, दिन में शयन, मंच पर बैठना, और सवारी पर चलना संन्यासियों के लिए यह कार्य पाप ही हैं । जो पुरुष आत्म-चिन्तन की कामना रखता है वह दूर की यात्रा न किया करे ।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

संन्यासी के लिए स्वाध्याय एवं ज्ञानार्जन करते रहना आवश्यक बनाया गया है:—

"सभी वेदों, उपनिषदों आदि का स्वाध्याय किया करे ।"

— अरुणिकोपनिषद्

"संध्याकाल में एक हजार गायत्री का जप नित्य करे ।······ सद्गुरु के आश्रम में जाकर उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करे ।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद

"संन्यास में विद्या दिन का प्रकाश और अविद्या रात्रि की अँधियारी समझी जाती है। इसलिए विद्याभ्यास में प्रमाद करना दिन में सोने के समान निन्दित है।"

—संन्यासोपनिषद्

संन्यासी शिखा सूत्र का बाह्य प्रतीक तो त्याग देता है पर अन्तःकरण में उन्हें भावना रूप से सदा धारण किए रहता है। ज्ञान ही शिखा है, ज्ञान ही उपवीत है, यह सोचकर उसे निरन्तर ज्ञान की उपासना करनी चाहिए। अपने ज्ञान को दिन-दिन स्वाध्याय, सत्संग और मनन, चिन्तन द्वारा बढ़ाते रहना, साथ ही अज्ञान के निवारण और सद्ज्ञान के प्रसार का प्रयत्न भी करना संन्यासी का आवश्यक कर्तव्य है। परब्रह्मोपनिषद् में इस कर्तव्य पर बहुत जोर दिया है:—

"जो ज्ञानयुक्त शिखा वाले, जो ज्ञाननिष्ठ तथा ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत धारण करते हैं उसका सर्वस्व ज्ञान ही है, ज्ञान ही उसका परम पावन कर्तव्य है।...जिसकी ज्ञान युक्त शिखा है वही सच्चा शिखाधारी है, दूसरे तो लम्बे बालों वाले मात्र हैं।.. जिसकी ज्ञानमय शिखा और ज्ञानमय उपवीत है उसके लिए सभी वस्तुएँ ब्रह्ममय हैं।"

—परमहस उपनिषद्

"सभी उत्तम यज्ञों से उत्तम ज्ञान यज्ञ कहा गया है। ज्ञान ही दण्ड है, ज्ञान ही शिखा है। ज्ञान ही यज्ञोपवीत है।"

—शाट्यायनीयोपनिषद्

संन्यास का मार्ग अति कठिन होने से उसके अधिकारी थोड़े ही होते हैं। इसलिए उनकी सख्या संसार में बहुत ही स्वल्प होती है।

"ब्रह्माजी बोले—परमहंस मार्ग संसार में दुर्लभ और कठिन हैं इसलिए अधिक संख्या में नहीं होते। ऐसा संन्यासी एकाध ही मिलता है और वह सदैव कूटस्थ भाव में स्थिर रहता है।"

—परब्रह्मोपनिषद

आजकल अनधिकारी संन्यासी बहुत उपज पड़े हैं। हराम की रोटी खाना, लाल-पीले कपड़े पहनकर मुफ्त में भोली जनता में पूजा, प्रतिष्ठा, धन और सुख सामग्री प्राप्त करना इनका लक्ष्य होता है। इसलिए सच्चे संन्यासी का-सा त्याग उनमें दीख नहीं पड़ता। उनके कारण समाज में अनीति ही बढ़ती है ऐसे लोग वस्तुतः संन्यास के सर्वथा अयोग्य हैं। कहा गया है कि ;—

"जो व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम, स्वाध्याय से रहित है, सत्य और पवित्रता से हीन हैं, उनको संन्यास न देवे।"

—संन्यास उपनिषद्

"अङ्गहीन, नपुंसक, पतित, स्त्रैण, बधिर, मूक, बालक, पाखण्डी चक्री, लिंगी कुष्ठी, वेतन भोगी अध्यापक, अयाज्ञिक, आदि विरक्त हों तो भी संन्यास के अधिकारी नहीं हैं।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

संन्यास की मर्यादाओं का पालन न करने वाले किन्तु वैसा वेष धारण कर लेने वाले सब प्रकार पतित ही हैं। कहा गया है:—

"हे सौम्य, जो संन्यासी अपने नैष्ठिक धर्म को छोड़ देता है वह पुरुषत्वनाशक, ब्रह्मघाती, गर्भपातकी तथा महापातकी के समान होता है। सभी लोकों से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है।"

—शाट्यायनीयोपनिषद्

किसी को अत्यन्त विकट वैराग्य हो जाय और पूर्व जन्मों की सचित सतोगुण सम्पदा अत्यधिक हो तो बात दूसरी है, वैसे अपवादों में ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद भी संन्यास लेने की छूट है। पर गृहस्थ का अधूरा कर्तव्य छोड़कर बीच में ही संन्यास ले लेना सर्वथा अयोग्य और पाप मूलक है। बच्चों के स्वावलम्बी हो जाने पर पत्नी जब पुत्र-पौत्रों के

साथ सुखपूर्वक रहने लगे तभी अधिकारी सत्पात्रों के लिए भी संन्यास योग्य है। इससे पूर्व पत्नी और बच्चों को असमर्थ स्थिति में छोड़कर गृहत्यागी होना नीति और धर्म के सर्वथा विरुद्ध है। तीन आश्रमों के कर्तव्य पूरे हो जाने पर ही संन्यास का अवसर आता है। उपनिषदों में यही कहा भी है :—

"सर्व प्रथम विधिवत् उपनयन संस्कार करना चाहिए। इसके पश्चात् संस्कार सम्पन्न गुरु के आश्रम में रहे। वहाँ गुरु सेवा करे और अध्ययन करे। पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे। फिर पच्चीस वर्षों तक गृहस्थ धर्म का सेवन करे। फिर पच्चीस वर्षों तक वानप्रस्थी होकर उसके नियमों का भली प्रकार पालन करे।......जब आशा, असूया, ईर्षा, अहङ्कार, आदि का त्याग कर चार प्रकार के साधनों से सम्पन्न हो जाय तो इसके पश्चात् संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है......जो पहले से ही संन्यास आश्रम के अनुकूल आचरण करने वाला है वही उसमें प्रवेश कर सकता है। ...संन्यास की इच्छा तभी करे जब सभी पदार्थों के प्रति मनमें पूर्ण विरक्ति हो जाय। इसके विपरीत आचरण मनुष्य को पतित करने वाला है। पूर्ण वैराग्य होने पर ही संन्यास ले और मन में किंचित भी राग रहे तो घर को न त्यागे। जो द्विज मन में राग रहते हुए भी संन्यास ले लेता है वह अधम नरक को प्राप्त होता है।"

—नारद परिव्राजकोपनिषद्.

"नारायण ने कहा—सद्गुरु से समस्त विद्याओं को परिश्रमपूर्वक पढ़कर इस लोक और परलोक के सुखों को श्राप रूप समझे। ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ बने। गृहस्थ को पूर्ण करके वानप्रस्थी हो, तब संसार से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करे।"

—परमहंस परिव्राजकोपनिषद्

"याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मचर्याश्रम को विधिवत् पूर्णकर गृहस्थी होना चाहिए, तब वानप्रस्थ होकर संन्यास लेना चाहिए"

—याज्ञवल्कोपनिषद्

वेश धारण उतना आवश्यक नहीं है जितना मनोभूमि का निर्माण। यदि अन्त.करण का ठीक निर्माण किया गया है तो वेश धारण न करते हुए भी, साधारण स्थिति में रहते हुए भी मनुष्य संन्यास के लाभ को प्राप्त कर सकता है। कठ रुद्रोपनिषद् में ऐसा ही कहा गया है:—

"जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ, गुरु के वचनों के अनुसार चलकर आत्म साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्म-स्वरूप परमानन्द को जान लेता है, वह संन्यासी हो चाहे न हो, केवल अपने कर्मों द्वारा ही संताप से निवृत्त हो जाता है।"

—कठरुद्रोपनिषद्

आध्यात्मिक त्याग एवं संन्यास की चर्चा इसी प्रकरण में इस प्रकार हुई है:—

"अहंकार रूप पुत्र को, धन रूप भाई को, भेद रूप घर को आशा रूप पत्नी को छोड़ देने वाला तुरन्त ही मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं।······कर्मों का छोड़ देना या अपने को संन्यासी घोषित करना संन्यास नहीं, वरन शिव और परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास है।······जो मनुष्य पैसा के अन्न के, वस्त्रों के अथवा नामवरी के लालच से संन्यास लेता है वह दोनों तरफ से भ्रष्ट हुआ कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। आध्यात्मिक संन्यास के लिए गृह त्याग या वेश परिवर्तन आवश्यक नहीं वह श्वेत वस्त्रों और काम-काजी जीवन के बीच भी सम्भव है।"

निर्वाणोपनिषद् में निर्वाण अर्थात् मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराया गया है। उसमें भावनात्मक एवं क्रियात्मक सदाचार पर बहुत

जोर दिया गया है। निर्वाण के इच्छुकों के लक्षण बताते हुए कहा गया है:–'वे कामदेव को रोकने में क्षेत्रपाल जैसे होते हैं।....विवेक की रक्षा करते हैं। दया ही उनका क्रीड़ा खेल है। आनन्द में रहना ही माला है। धैर्य उनकी गुदड़ी है, उदासीन वृत्ति लंगोटी है, विचार दण्ड है, ब्रह्म-दर्शन योग पट्ट है, तृष्णा उनकी जूती है। अजपा (सोऽहम् मंत्र) गायत्री है, निरोध वृत्ति कन्या है, आत्मनिग्रह नियम है, भय, मोह, शोक और क्रोध को छोड़ना यही उनका त्याग है। अनियामकत्व (किसी को अपने वश में न रखना और न किसी का तिरस्कार करना) यही उनकी निर्मल शक्ति है। दूसरों की निन्दा से रहित ऐसा त्यागी ही जीवन मुक्त हो सकता है। महाश्मशान में भी वे आनन्ददायक उपवन के समान निवास करते हैं।"

इस प्रकार की मनोभूमि के ही निर्माण करने की आवश्यकता है। उपासना विधान तो सब कोई कर सकता है पर श्रेयार्थी की मनोभूमि ऐसी होनी आवश्यक है। संन्यास का तात्पर्य ऐसी मनोभूमि का निर्माण ही है। वह घर और वन दोनों जगह रहकर निर्मित्त की जा सकती है। वेश और वस्त्रों का रंग बदलना उसके लिए अनिवार्य नहीं है।

आज की परिस्थितियों में जबकि साधुओं की संख्या ६० लाख से ऊपर पहुंच गई है और इनमें कुपात्रों की भरमार है तब ऐसा भावनात्मक संन्यास ही उचित है। भिक्षा देने की श्रद्धा और सामर्थ्य भी लोगों की घट गई है। माँगने पर कुधान्य ही अधिक मिलता है जिसे खाने से चित्त में उद्वेग उठते हैं। निवास करने योग्य अच्छे वन, जहाँ कंदमूल, फल पर्याप्त होते थे, अब रहे नहीं। जनसंख्या बढ़ने से सर्वत्र खेती होने लगी इसलिए जो जंगल बचे हैं वे ऐसे हैं जहाँ निर्वाह प्राप्त होने का कोई साधन नहीं। सारा जीवन आलसी और विलासी बिताने के कारण संन्यास में कही हुई तपश्चर्या भी सधती नहीं। इन परिस्थितियों में अत्यन्त सुदृढ़ मनोभूमि के लोगों को छोड़कर सर्व-साधारण के लिए यही

उचित है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आश्रमों में रहता हुआ आत्म-कल्याण तथा लोकहित का साधन करते हुए लक्ष प्राप्ति के लिए यत्न करे।

साधना में भावना ही प्रधान बताई गई है।

'जिस प्रकार मन सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो कौन इस भवबन्धन से न छूट जायेगा।'

—शाट्यायनीयोपनिषद्

भव-बन्धन से छूटने में लगन ही प्रधान है। यदि परमात्मा को प्राप्त करने में सच्ची लगन लग जाय तो फिर घर में रहते हुए भी मंजिल के पार होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

संन्यास की महिमा बहुत है। उसका परिणाम भी महान् है। पर वह प्राप्त उन्हें ही होता है जो उन आदर्शों का बाहर और भीतर से भली प्रकार पालन करता है। केवल उनके लिए ही संन्यास श्रेयस्कर सिद्ध होता है:—

'ऐसा आचरण करने वाला संन्यासी सर्व बन्धन मुक्त होता है। वह कभी दुख से पीडित नहीं होता। ब्रह्म-ज्ञान रूप ऐश्वर्य से युक्त होकर ज्ञान और अज्ञान से परे हो जाता है। अपनी आत्मा से ही प्रकाश प्राप्त कर सभी जानने योग्य पदार्थों को जान लेता है,वह सब सिद्धियों के देने में समर्थ होता हुआ सबका ज्ञाता और सबका स्वामी होता है। परमपद को प्राप्त कर लेता है और पुनः संसार में नहीं आता।'

—नारद परिव्राजकोपनिषद्

यदि सच्चे संन्यासी किसी देश में थोड़े भी होते हैं तो वहां का वातावरण भी शुद्ध हो जाता है। जैसे सुगन्धित पुष्प की गन्ध दूर-दूर तक फैलती है, वैसे ही ब्रह्मपरायण आत्माएं अपने सूक्ष्म तेज से व्यापक क्षेत्र में सुख शान्ति की स्थिति पैदा कर देती हैं। वे कुछ न करते दीखते हुए

भी लोकहित के लिए बहुत कुछ कहते हैं। पर झूठे आडम्बरधारी, जैसे कि आज लाखों की संख्या में फिरते हैं, किसी देश, समाज में बढ़ें तो इससे उनका तथा सारे समाज का अहित ही है।

इन २२ उपनिषदों में बताई हुई कसौटी पर हमें आज के संन्यासियों को परखना चाहिए और खरे उतरें, उनका ही आदर करना चाहिए। पवित्र देश को कलंकित करने वाले कुपात्र तो बहिष्कार के ही योग्य हैं।

वास्तव में इस समय देश और काल में जितना अधिक परिवर्तन हो गया है उसे देखते हुए प्राचीन प्रणाली के संन्यासियों का निर्वाह प्राय: असम्भव हो गया है। यह अर्थ-प्रधान युग है। इस समय धन के सामने मनुष्य चरित्र, नीति, ज्ञान, धर्म सब की महत्ता का ध्यान छोड़ देता है। जैसा एक लोक-गीत में कहा गया है इस समय "जग में सबसे बड़ो रुपैया" की कहावत पूर्ण रूप से चरितार्थ हो रही है। इस समय ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है जो बेशर्मी के साथ रुपया को भगवान् और धर्म से भी श्रेष्ठ कहने में सङ्कोच नहीं करते। ऐसी दशा में सर्व-त्यागी संन्यासियों का निर्वाह आदर-सम्मान पूर्वक हो सकना असम्भव है। आजकल मांगने से भी सीधे-सीधे व्यक्ति को भोजन मिल सकना कठिन हो गया है, तब संन्यास व नियमानुसार अनेक प्रतिबन्धों का पालन करते हुए शुद्ध भिक्षा पा सकना कहाँ तक संभव है? परिणाम यह हुआ है कि साधु-संन्यासियों को भी धन प्राप्त करने के लिये तरह तरह के उपायों का सहारा लेना पड़ता है और वह सच्चे आत्म-ज्ञान और धर्मोपदेश प्रदान करने के स्थान पर ढोंग और दुनियादारी से काम लेने लगे हैं। संन्यासी के लिये शास्त्रों में गृह त्यागकर सर्वस्वत्यागी और निरन्तर भ्रमण करने वाला होना विहित बताया है, पर वर्तमान संन्यासी करोड़ों की जायदाद और पचासों मकानों के स्वामी बने बैठे हैं। जिन संन्यासियों को नागा कहा जाता है, अर्थात् जिनका त्याग यहाँ तक बतलाया गया है, कि इनने

अपनी लँगोटी भी छोड़ दी है, अन्त सांसारिक सामग्री का तो कहना ही क्या" उन्हीं के पास सबसे अधिक चल और अचल सम्पत्ति दिखाई देती है इस दशा को देखकर विचारशील व्यक्ति के मुख से यही निकलता है कि ऐसे 'संन्यासो' से तो बिचारे गृहस्थ ही अच्छे हैं।

संन्यासी एक मनोभूमि है जिसे घर में रहते हुए भी, अपनी उपार्जित आजीविका पर गुजारा करते हुए भी, प्राप्त कर सकना सम्भव है। उसके लिए वेश बदलना भी अनिवार्य नहीं है। प्राचीन-काल में राजा जनक सरीखे अनेक कर्मयोगी और ब्रह्मज्ञानी ऐसे हो गये हैं जिनसे शुकदेवजी सरीखे अवधूत भी आत्मविद्या का उपदेश ग्रहण करने जाया करते थे। आज देश, काल, पात्र की परिस्थियों को देखते हुए आत्म-कल्याण के इच्छुकों के लिए ऐसा ही प्रदर्शनरहित संन्यास उपयुक्त है।

कामनाएँ और वासनाएँ छोड़नी चाहिए। इन वस्तुओं और व्यक्तियों पर से ममता का भाव हटा लेना चाहिए। 'इन वस्तुओं का मैं स्वामी मैं हूं, यह मेरी सम्पत्ति है', ऐसा मानने की अपेक्षा सभी वस्तुएँ भावना की हैं, ऐसा सोचना चाहिए। कुटुम्बी तथा सम्बन्धी, मित्र या किसी वर्ग विशेष तक अपनी ममता सीमित न रखकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव धारण करना चाहिए और प्राणिमात्र के प्रति आत्म भावना करनी चाहिए।

तृष्णा, ममता, और वासना के ही बन्धन होते हैं। इन्हीं बन्धनों में जकड़ा हुआ जीव जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है। इन तीनों से छूट जाना ही मुक्ति है। इसी का अभ्यास करने के लिए प्राचीन काल में संन्यास लिया जाता था। अब वैसी मनोभूमि का निर्माण करने के लिए घर में रहकर भी वातावरण बनाया जा सकता है वृद्धावस्था के साथ-साथ वैराग्य बढ़ाना चाहिए और धीरे-धीरे इतनी निस्पृहता बढ़ानी चाहिए कि जीवन समाप्त होते समय किसी प्रकार की आकांक्षा शेष न रहे

और बिना भय तथा दुःख के देह छोड़ी जा सके । इसके लिए विश्व-चिन्तन, ब्रह्मचिन्तन तथा आत्म-चिन्तन करते रहना आवश्यक है और अपरिग्रही, तितिक्षायुक्त, तपस्वी जीवन बनाना भी उचित है । अपने परिवार की जैसी चिन्ता की जाती है वैसी ही प्राणिमात्र की करके परोपकार, परमार्थ एवं विश्वप्रेम से प्रेरित होकर जीवनचर्या का क्रम चलते रहना चाहिए । इस प्रकार घर में रहते हुए भी उपनिषदों में बताई हुई संन्यासी मनोभूमि को प्राप्त कर सकना संभव हो सकता है ।

गायत्री तपोभूमि, मथुरा । —श्रीराम शर्मा आचार्य
ज्येष्ठ सुदी १० सं॰ २०१८

# १०८ उपनिषत्

## ब्रह्मोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

ॐ । ब्रह्म हम दोनों की एक साथ रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही सामर्थ्य प्राप्त करें, हमारा ज्ञान तेजस्वी हो, हम किसी से द्वेष न करें । ॐ शांति, शांति, शांति ।

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धा च । तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम् । स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम् ॥ १ ॥

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः तापसो न तापस एकमेव तत् परब्रह्म विभातिनिर्वाणम् ॥ २ ॥

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति ।३।

हृदिस्था देवता: सर्वा हृदि प्राणा: प्रतिष्ठिता: । हृदि प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदु: ॥ चैतन्येतिष्ठति ॥४

यज्ञोपवीतं परमं पवित्र प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्य्रं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेज: ॥५

शरीर में नाभि, हृदय, कंठ और ब्रह्मरन्ध्र—ये चार आत्मा के विशेष स्थान हैं, इनमें चार चरण वाला ब्रह्म प्रकाशमय होता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ऐसी आत्मा की चार अवस्था हैं। इनमें से जाग्रत में ब्रह्मरूप में, स्वप्न में विष्णु रूप में, सुषुप्ति में रुद्र रूप में और चौथा ( तुरीय ) अवस्था में अक्षर ( परमात्मा ) रूप में प्रकाशमान होता है। यह आत्मा स्वयं मन, इन्द्रिय और हाथ पैर आदि से रहित है और प्रकाशमान मानी जाती है ॥१॥ इस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में लोक, लोक स्वरूप में नहीं हैं, देवगण देवरूप में नहीं हैं, वेद वेद-रूप में नहीं हैं, यज्ञ यज्ञरूप में नहीं है, माता मातारूप में नहीं है पत्नी-पत्नी रूप में नहीं है, चाण्डाल चाण्डाल रूप में नहीं है, भील भील रूप में नहीं है, सन्यासी संन्यासी रूप में नहीं है और वानप्रस्थी वानप्रस्थी रूप में नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म सदा एक ही रहकर निर्वाण स्वरूप में प्रकाशित होता है ॥२॥ इस ब्रह्म में देवगण, ऋषि अथवा पितृगण सामर्थ्य नहीं रखते। वह ज्ञान से ही जाना जा सकता है और सर्व विद्या स्वरूप है ॥३॥ प्राणिमात्र के हृदय में समस्त देवता रहते है, हृदय में प्राण स्थित हैं और हृदय में ही प्राण और ज्योति हैं—इस प्रकार तीन स्वरूपों में परमात्मा रहता है। इस तथ्य को सूचित करने के लिए तीन धागों वाला 'यज्ञ-सूत्र' अथवा जनेऊ है, ऐसा उसके रहस्य को समझने वाले मानते हैं। 'परमात्मा हृदय में चैतन्य रूप रहता है ॥४॥ ( ऐसी सूचना देने वाला ) यज्ञोपवीत परम पवित्र है। यह प्रथम प्रजापति के साथ उत्पन्न हुआ और आयुष्य देने वाला है—ऐसा समझ कर तू उत्तम और उज्ज्वल यज्ञोपवीत धारण कर, यह यज्ञोपवीत तेरे लिए बलरूप और तेजरूप सिद्ध हो' ॥५॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः ।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥६
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्र नाम पर पदम् ।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥७
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योग वित्तत्त्वदर्शिवान् ॥८
बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वानयोगमुत्तमास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ।
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥९
सूत्रमन्तर्गत येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।
ते वै सूत्रविदो लोके ते यज्ञोपवीतिनः ॥१०

शिखा सहित मुण्डन करने के पश्चात् ( अर्थात् संन्यासी होकर ) ज्ञानी को बाह्य सूत्र ( यज्ञोपवीत ) को त्याग देना चाहिए। जिसको अविनाशी परब्रह्म कहा जाता है वही इस सूत्र के रूप में है, यह समझ कर उसी को हृदय में धारण करना चाहिए ॥६॥ यज्ञोपवीत यह प्रकट करता है कि परब्रह्म हृदय में ही निवास करता है, इसीलिए उसे 'सूत्र' कहा जाता है। 'सूत्र' का अर्थ है परम-पद। इस सूत्र को जिसने जान लिया है वही ब्राह्मणवेद का पारगामी है ॥७॥ जिस प्रकार सूत के धागों में माला के दाने पिरोये जाते हैं उसी प्रकार परब्रह्म में यह समस्त विश्व पिरोया हुआ है, इसी से 'सूत्र' कहा जाता है। तत्व-दृष्टा और योग-वेत्ता व्यक्तियों को इस सूत्र को ( हृदय में ) धारण करना चाहिए ॥८॥ उत्तम योग को ग्रहण करने वाला ज्ञानी पुरुष बाहरी सूत्र (जनेऊ) को त्याग दे। ब्रह्म स्वरूप हो जाना ही 'सूत्र' समझना चाहिये। इस 'सूत्र' को जो धारण करता है वही चैतन्य है। इस सूत्र को धारण करने से मनुष्य उच्छिष्ट ( जूँठा ) अथवा अपवित्र नहीं होता ॥९॥ ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुषों के

हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र रहता है। ऐसे ही व्यक्ति 'सूत्र' के वास्तविक रूप को जानने वाले हैं और वे ही ( सच्चे यज्ञोपवीत के ) धारण करने वाले हैं ॥१०॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिन: ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥११
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिण: ॥१२
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादय: ।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥१३
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदु: ॥१४
इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञ: तं यज्विनं विदु: ॥१५

जो ज्ञान रूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले, और ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनको ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है ॥११॥ जिस पुरुष की अग्नि की शिखा के समान ज्ञान की ही शिखा होती है, उनके लिए दूसरी शिखा होती ही नहीं, और वे ही सच्चे शिखाधारी और ज्ञानी कहलाते हैं। इनके सिवाय अन्य लोग जो बाह्य केशों की चुटिया रखते हैं, वे शिखाधारी नहीं कहे जा सकते ॥१२॥ जो ब्राह्मण आदि वैदिक कर्म के अधिकारी हैं, उन्हीं को यह सूत्र ( जनेऊ ) धारण करना चाहिए, क्योंकि इसको क्रिया का अंग बतलाया गया है ॥१३॥ ब्रह्मवेत्ता कहते हैं कि जिसकी शिखा ज्ञानमय है और यज्ञोपवीत भी ज्ञानमय है, उनका ब्राह्मणत्व ही सम्पूर्ण है ॥१४॥ यह ज्ञान ही यज्ञोपवीत है, यही परम परायण है। इस लिए ज्ञानी पुरुष ही (सच्चे) यज्ञोपवीत धारी हैं, यज्ञरूप हैं और उन्हीं को यजमान कहते हैं ॥१५॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१६

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१७

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१८

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि जायतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१९

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि ।
जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥२०

परमात्मा एक, सब प्राणियों में गूढ़, सर्वव्यापी, सब भूतों का अन्तरात्मा, सब के कर्मों को नियम में रखने वाला, सब प्राणियों का निवास, साक्षी, चैतन्य स्वरूप, शुद्ध और निर्गुण है ।१६। यह अकेला ही सब को वश में रखने वाला, सब भूतों का अन्तरात्मा है और अपने एक ही रूप को अनेक प्रकार से प्रकट करता है । इसको जो बुद्धिमान मनुष्य अपने में स्थित देखते हैं, उनको नित्य शान्ति प्राप्त होती है- दूसरों को प्राप्त नहीं हो सकती ।१७। आत्मा को नीचे की अरुणि और ॐकार की ऊपर की अरुणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट ( गुप्त ) आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए ।१८। जिस प्रकार तिल में तेल, दही में घी, प्रवाह में पानी, लकड़ी में अग्नि अप्रकट रूप से रहती हैं उसी प्रकार आत्मा भी हमारे भीतर छिपा हुआ है । वह आत्मा तप और सत्य द्वारा प्रकट होता है ।१९। ऊर्णनाभि ( एक कीड़ा ) जिस प्रकार सूत्र को निकालता है और फिर खींच लेता है उसी प्रकार जीवात्मा भी जाग्रत और स्वप्नावस्था में आता और जाता है ।२०।

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥२१
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥२२
सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पद-
मिति ॥२३

जाग्रत अवस्था का वैश्वानर नाम का आत्मा नेत्र में रहता है, स्वप्नावस्था का तैजस आत्मा कण्ठ में रहता है, सुषुप्ति अवस्था का प्राज्ञ नाम का आत्मा हृदय में रहता है और तुरीय ( चौथी, तीन अवस्थाओं से परे का)अवस्था का आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में रहता है, ऐसा जानना चाहिये ।२१। जहाँ मनुष्य की वाणी और मन पहुँच नहीं सकते, उस आत्मा के आनन्द को जानकर ज्ञानी पुरुष मुक्त बन जाते हैं ।२२। दूध में घी के समान सर्वत्र व्याप्त आत्मा आत्म-ज्ञान और तप द्वारा प्राप्त किया जाता है । यह आत्मा ही ब्रह्म है । यही उपनिषदों का परम पद है ।२३।

———

# ब्रह्मविद्योपनिषत्

ॐ सहनवावतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवाव है । तेजस्विनावधीतमस्तु । माविद्विषावहै । ॐ शांतिः, शांतिः, शांतिः ।

शान्ति पाठ--ब्रह्म, हम दोनों की रक्षा करे, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें ।ॐ शांति शांति शांति।

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते—
प्रसादादद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
रहस्यं ब्रह्मविद्यायां ध्रुवाग्नि सप्रचक्षते ।।१
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः ।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा ।।२
तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः ।
तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ।।३
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च ।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ।।४
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः ।।५

अब ब्रह्म विद्या उपनिषद को कहते हैं—अद्भुत कर्म करने वाले विष्णु रूप ब्रह्म की कृपा से ध्रुवाग्नि स्वरूप ब्रह्मविद्या का रहस्य कहते हैं ।१। जिस ब्रह्म को ॐकार के एक अक्षर के रूप में ब्रह्मज्ञानियों ने बतलाया है, उसके शरीर, स्थान और तीन काल का वर्णन करता हूं ।२। उस ॐ में तीन देवता, तीन लोक, तीन देव, तीन अग्नियाँ हैं ।

उस शिव स्वरूप अक्षर की तीन और आधी मात्रायें हैं ।३। ब्रह्मज्ञानियों ने 'अ' का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, पृथिवी तत्व और ब्रह्मा को बतलाया है ।४। 'उ' कार का शरीर यजुर्वेद, दक्षिणाग्नि, आकाश तत्व और विष्णु को बतलाया है ।५।

सामवेदस्तथा द्यौश्चहवनीयस्तथैव च ।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ।।६
सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शखमध्यग ।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ।।७
मकारस्त्वग्निसकाशो विधूमो विद्युतोपमः ।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ।।८
शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते ।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ।।९
पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा ।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परा ।।१०
द्विसप्ततिसहस्राणि नाड़ीं भित्त्वा च मूर्धनि ।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ।। ११

'म' कार का शरीर सामवेद, आहावनीय अग्नि, स्वर्ग और परम ईश्वर को कहा है ।६। शंख के मध्य का 'अ' कार सूर्य मण्डल में स्थित है, चन्द्र के समान 'उ' कार उसी चन्द्र में स्थित है। निर्धूम अग्नि और बिजली में 'म' कार है। इस प्रकार तीन मात्राओं को सूर्य, चन्द्र और अग्नि रूप जानना ।७-८। जिस प्रकार दीपक की शिखा उसके ऊपर रहती है, इसी प्रकार प्रणव के ऊपर अर्धमात्रा की स्थिति को जानना ।९। वह शिखा पद्मसूत्र के समान दिखलाई देती है। वह सूर्य के समान नाड़ी सूर्य को भेदन करके और बहत्तर हजार नाड़ियों का भेदन करके मूर्धा में स्थित होने वाली और सब को वरदान देने वाली है ।१०-११।

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये ।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥१२
यस्मिन्स लीयते शब्दस्तत्परंब्रह्म गीयते ।
धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१३
वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः ।
स जीवः प्राण इत्युक्तो वालाग्रशतकल्पितः ॥१४
नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्वं सुनिर्मलम् ।
आदित्यव दीप्यन्त रश्मिभिश्चाखिलं शिवम् ॥१५

कांसी के घण्टा का शब्द जिस प्रकार शान्ति में लय होजाता है उसी प्रकार ॐकार की योजना द्वारा समस्त इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं ।१२। शब्द जिसमें लय होता है उसे परब्रह्म कहा गया है। जो बुद्धि ब्रह्म में लीन हो जाती है वह अमृतत्व स्वरूप कही गई है ।१३। वायु, तेज तथा आकाश तीन प्रकार के जीव माने गए हैं, इस जीव का प्रमाण ( आकार ) बाल की नोक के सौवाँ भाग कल्पित किया गया है ।१४। वह विश्व, शुद्ध तत्व, निर्मल-स्वरूप नाभिस्थान में स्थित है । वह सूर्य के समान समस्त विश्व को प्रकाशित करके कल्याण रूप है ॥१५॥

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा ।
नाभि देशाद्विनिष्कांत विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥१६
तेनेदं निष्कलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा ।
कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥१७
चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः ।
गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाहतः ॥१८
एतस्मिन् वसते शीघ्रमविश्राम महाखगः ।
यावन्निश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥१९॥

नाभिरंध्र से निकलता हुआ यह जप विषयों से रहित है ।१६। दूध से निकले हुए घी के समान इस निष्फल तत्व को पाँच प्राणायाम द्वारा जाने ।१७। मथने वाले दण्ड से दूध जिस प्रकार मथा जाता है। उसी प्रकार चार कला से युक्त हृदय में स्थित तत्व को देह में भ्रमण कराया जाता है ।१८। तब इसमें 'महापक्षी' ( जीव ) शीघ्र वास करता है । जब श्वांस रुक जाता है तब जीव निष्कल हो जाता है ॥१६॥

नभस्स्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात् ।
अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम् ॥२०
स्व प्रकाशचिदानन्दं स हंसं इति गीयते ।
रेचकं पूरक मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥२१
नाभिकन्दे समं कृत्वा प्राणापानौ समाहितः ।
मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ॥२२
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे ।
अभिषिच्यामृतेनैव हंसहंसेति यो जपेत् ॥२३
जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते ।
एवं दिनदने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥२४
ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाऽभ्यासरतः पूमान् ।
बहवो नैकमार्जेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥२५

आकाश स्थित निष्कल तत्व का ध्यान करके वह भव-बन्धन से छूट जाता है । जो इस हृदय में स्थित अनाहत ध्वनियुक्त प्रकाशयुक्त चिदानन्द 'हंस'को जानता है,वह 'हंस' को जानता है, वह हंस कहा जाता है । जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक त्यागकर कुम्भक में स्थिर रहकर प्राण और अपान को एक करके मस्तक में स्थित अमृत को सादर ध्यान पूर्वक पीता है, और जो नाभि के मध्य दीपक की तरह सुप्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करते हुए 'हंस-हंस' का जप करता है, उसे पृथ्वी पर रहते हुए जरा मरण, रोग आदि नहीं होते और सिद्धियों

और विभूतियों की प्राप्ति होती रहती है ।२०-२४। जो पुरुष सदैव इसके अभ्यास में लगा रहता है उसे ईश्वरत्व प्राप्त हो जाता है । अनेक पुरुष इसी एक मार्ग से नित्य पद को प्राप्त हो चुके हैं ॥२५॥

हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम् ।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पावनीं पराम् ॥२६
तस्य दास्यं सदा कुर्यात् प्रज्ञया परया सह ।
शुभ वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥२७
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः संतोषसंयुतः ।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥२८
आत्मानमात्मना साक्षात्ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
देहजात्यादिसंबन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥२९
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत् ।
गुरुभक्ति सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥३०

हंस रूपी विद्यामृत के समान जगत में नित्यत्व का अन्य साधन नहीं है । जो इस हंस नाम की परमेश्वरी महाविद्या को देता है, उसकी सदैव ज्ञानपूर्वक सेवा करनी चाहिए और गुरु जो कुछ शुभ अथवा अशुभ आदेश दे उसका पालन शिष्य को बिना विचारे संतोषयुक्त भाव से करना चाहिए । इस हंस-विद्या को गुरु से प्राप्त करके, आत्मा से आत्मा का साक्षात्कार कर और निश्चल ब्रह्म को जान, वर्णाश्रम जाति आदि के सम्बन्ध और वेद तथा शास्त्रों की बातों को निःसंकोच भाव से छोड़ दे और गुरु की सदा सुश्रूषा करे, इससे मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है ॥२६-३०॥

गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३१
श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेतत्
तत्संशयो नात्र ततः समस्तम् ।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं
भवेदनर्थाय विना प्रमाणम् ॥३२

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः ।
आप्तोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः किमवस्थितः ॥३३
हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरि शिवः ।
गुरुवक्त्रातु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम् ॥३४
तिलेषु च यथा तैल पुष्पे गन्ध इवास्थितः ।
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥३५

श्रुति में कहा गया कि गुरु ही साक्षात् हरि हैं कोई अन्य नहीं है ।३१। श्रुति का कथन निस्संदेह परमार्थ रूप ही है श्रुति का विरोधी होने पर कुछ भी प्रमाण नहीं है । जो अप्रमाण होगा, वह अनर्थकारी ( हानिकारक ) होगा ।३२। देह में स्थित को 'सकल' और देह से वर्जित को 'निष्कल' जानना । आप्त गुरु के उपदेश से विदित होने वाला यह तत्व सर्वत्र समभाव से स्थित है ।३३। जो 'हंस-हंस' बोलता है वह ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का रूप है । वह गुरु के उपदेश से सर्वत्र मुख वाले (व्याप्त) ब्रह्म को जान सकता है ।३४। जिस प्रकार तिलों में तेल और पुष्प में गन्ध रहता है वैसे ही पुरुष के शरीर में बाहर और भीतर वही ब्रह्म रहता है ॥३५॥

उल्काहस्तो यथाकश्चित् द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत् ।
ज्ञानेक ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥३६
पुष्पवत्सकलं विद्याद्गन्धस्तस्य तु निष्कलः ।
वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्त तु निष्कला ॥३७
निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ।
उपायः सकलस्तद्वदुपेयश्चैव निष्कलः ॥३८
सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा ।
एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥३९

अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम् ।
पञ्चधा पञ्चदैवत्यं सफलं परिपठ्यते ॥४०

जिस प्रकार उल्का ( पलीते ) के प्रकाश से द्रव्य को देखकर पलीते को त्याग देते हैं, उसी प्रकार ज्ञान द्वारा ज्ञातव्य विषय की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान को भी त्याग दिया जाता है ।३६। 'सकल' को पुष्प की तरह और उसकी गन्ध को 'निष्कल' की तरह माने, अथवा 'सकल' वृक्ष की तरह है और उसकी छाया निष्कल है ।३७। इस तरह का निष्कल और सकल भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, कलायुक्त वस्तु उपाय या साधन है और उपेय या साध्य (ब्रह्म) कला रहित है ।२८। कलायुक्त में सब भाव रहते हैं, पर कलारहित में कोई भाव नहीं है । एक मात्रा, दो मात्रा और तीन मात्रा के भेद से अर्ध मात्रा को परा माने, उसके ऊपर परात्पर है । 'सकल' पाँच दैवत वाला पाँच प्रकार का जानना ।४०।

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः ।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः ॥४१
नासाग्रे अच्युतं विद्यात्तस्यान्ते तु परं पदम् ।
परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ॥४२
देहातीतं तु तं विद्यान्नासाग्रे द्वादशांगुलम् ।
तदन्तं तं विजानीयात्तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥४३
मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।
तथाऽपि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥४४
एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम् ।
नातः परतरं किंचिन्नातः परतरं शुभम् ॥४५

ब्रह्म का स्थान हृदय है, विष्णु कण्ठ में रहते हैं, तालु में रुद्र और ललाट में महेश्वर का स्थान है ।४१। नासाग्र में अच्युत को जानो, उसके अन्त में परमपद है । पर से पर और कुछ नहीं है,

ऐसा शास्त्रों का मत है ।४२। उस देहातीत को तू नासाग्र से बारह अंगुल पर जान । उसका अन्त उसको जाने, वहाँ पर स्थित प्रभु सर्वत्र व्याप्त है ।४३। चाहे मन अन्यत्र चला जाय और चाहे नेत्र अन्यत्र देखते रहें, तो भी योगियों का योग अविच्छिन्न भाव से चलता रहता है ।४४। यह सब से गुह्य रहस्य है । यही सर्वाधिक शुभ है, इससे बढ़कर और इससे शुभ और कुछ नहीं है ।४५।

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम् ।
गुह्याद्‌गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीय प्रयत्नतः ।।४६
नापुत्राय प्रदातव्य नाशिष्याय कदाचनः ।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ।।४७
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदाययेत् ।
दाताऽस्य नरक याति सिध्यते न कदाचन ।।४८
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ।।४९
विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम् ।
ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ।।५०

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षर तत्व का निर्णय करना चाहिए और गुह्य से गुह्य अत्यन्य गुह्यतम हो उसे प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिए ।४५। यह विद्या न तो पुत्र को देनी चाहिये न शिष्य को, यह उसी को देनी चाहिए जो गुरु का सच्चा भक्त हो, नित्य भक्तिपरायण रहे, किसी अन्य को नहीं देनी चाहिए । यदि कोई देगा तो देने वाला नरक जायगा और सिद्धि भी नहीं मिलेगी ।४७-४८। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी कोई भी हो और वह कहीं भी रहता हो, परम अक्षर तत्व को जानने वाला सदैव ज्ञानी ही होता है ।४९। यदि कोई विषयी, विषयासक्त हो, तो भी इस शास्त्र के ज्ञान से वह शुभ गति को प्राप्त होता है ।५०।

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्य पापैर्न लिप्यते ।
चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥५१

इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले ।
चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थान मादिशेत् ॥५२

मोक्षदस्तु परं तत्व यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
प्रत्यक्षयजनं देहे संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥५३

तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम् ।
स्वयमेव कृतः पश्येद्देहे बिन्दुं च निष्कलम् ॥५४

अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित् ।
कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान् ॥५५

ब्रह्महत्या के पाप और अश्वमेधादि के पुण्य से अलिप्त ही रहता है। प्रेरक, बोधक और मोक्षदाता श्रेष्ठ माने गये हैं। संसार में आचार्य इन्हीं तीन श्रेणियों के होते हैं। प्रेरक मार्ग दिखलाता है, बोधक स्थान पर आचरण कराता है, मोक्षदाता तो ऐसा परम तत्व है जिसको जानकर परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। गौतम! अब तू देह में प्रत्यक्ष भजन ( पूजन ) के विषय में सुन।५१-५३। इसके करने से मनुष्य शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है और स्वयम् अपनी देह के भीतर ही कला रहित बिन्दु को देख लेता है।५४। दोनों अयनों के समान दिन-रात्रि के अवसर पर रेचक, पूषक, कुम्भक, प्राणायाम को करे।५५।

पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम् ।
नमस्कारेण योगेन मुद्रयाऽऽरभ्य चार्चयेत् ॥५६

सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम् ।
ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोये तोयं यथा यथा ॥५७

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगमार्गकृतश्रमैः ।
यस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखवहिष्कृतः ॥५८
योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत् ।
ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥५९
प्राणिनाँ देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः ।
हंस एव पर सत्यं हंस एव तु सत्यकम् ॥६०

पहले दोनों का उच्चारण करके यथा म से पूजा करे । नमस्कार से, योग से और मुद्रा से पूजन करे ।५६। हे वत्स ! सूर्य का ग्रहण प्रत्यक्ष यजन ( पूजन ) कहा है । जैसे जल में जल होता है वैसे ही सायुज्य पद ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है ।५७। योगाभ्यास में जो श्रम किया जाता है, उसमें इतने गुण हैं इसलिए उद्योगपूर्वक सब दुःखों को दूर करने की चेष्टा करना ।५८। सदैव इस मन्त्र का जप करते हुए योग रूप ध्यान द्वारा ज्ञान में तन्मयता को प्राप्त होना चाहिए, ज्ञान से ही परमस्वरूप को प्राप्त हुआ जाता है ।५९। प्राणियों की देह में अच्युत रूप हंस सदैव स्थित रहता है हंस ही परम सत्य है और हंस ही शक्ति स्वरूप है ।६०।

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम् ।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥६१
सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः ।
पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः ॥६२
कूटान्ता ह स एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः ।
मातृकारहितं मन्त्रमादिश्यन्ते न कुत्रचित् ॥६३
हंसज्योतिरनूपम्यं देवमध्ये व्यवस्थितम् ।
दक्षिणामुखाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥६४
सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन् ।
निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनूपमम् ॥६५

हंस ही परम वाक्य है, हंस समस्त वेदों का सार है, हंस परम रुद्र है और हंस ही परात्पर है ॥६१॥ समस्त देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है। पृथ्वी से लेकर शिव तक और 'अ'कार से लेकर 'क्ष' तक हंस ही मात्राओं की तरह व्यवस्थित है। मात्रा रहित मंत्र का उपदेश कहीं नहीं दिया जाता है ॥६२-६३॥ हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के मध्य में स्थित है। दक्षिण की ओर मुख करके ज्ञान-मुद्रा करे और सदैव समाधि अवस्था में हंस का स्मरण करता रहे और निर्मल स्फटिक के समान उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करे ॥६४-६५॥

मध्यदेशे परं हंसंज्ञानमुद्राऽऽत्मस्वरूपकम्।
प्राणापानसमानाश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥६६
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यतः।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥६७
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः।
पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ॥६८
बन्धुमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने।
अकारे बह्निरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः ॥६९
मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत्।
ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थि हृदि स्थितः ॥७०

मध्य देश में ज्ञानमुद्रा रूप वाले परमहंस का ध्यान करे। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पंच वायु और पंच कर्मेन्द्रियों से युक्त क्रियाशक्ति अधिक बल वाली होती है, और नाग, कूर्म, कृकर देवदत्त तथा धनञ्जय और पांच ज्ञानेन्द्रियों से युक्त ज्ञानशक्ति बल वाली होती है। शक्ति के मध्य में अग्नि और नाभिचक्र में रवि स्थित रहता है ॥६६-६८॥ प्रथम बन्ध मुद्रा का अभ्यास करे, नासाग्र और अपने नेत्रों में 'अ'कार अग्नि कही गई है, हृदय स्थान में 'उ'कार में अग्नि होती है, और भृकुटियों के मध्य में 'म'कार में। इनमें प्राण शक्ति

को संलग्न करे। ब्रह्म ग्रन्थि 'अ'कार। ( नासाग्र और नेत्र ) में तथा विष्णु ग्रन्थि हृदय में स्थित है ॥७०॥

रुद्रग्रन्थिभ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना ।
अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥७१
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्तः परात्परः ।
कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तितः ॥७२
रसना पीड्यमानेयं षोडशीवोर्ध्वगामिनी ।
त्रिकूटं त्रिविधं चैव गोलाखं निखरं तथा ॥७३
त्रिशंखं वज्रमोंकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम् ।
कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम् ॥७४
साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।
सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा ॥७५

रुद्रग्रन्थि भ्रकुटियों के मध्य में स्थित है और वह अक्षर वायु द्वारा भेदन की जाती है। 'अ'कार में ब्रह्मा, 'उ'कार में विष्णु तथा 'म'कार में रुद्र का स्थान है, उसके अन्त में परात्पर है। कंठ का संकोचन करके नाड़ी आदि शक्ति को स्तम्भित करे। फिर जिह्वा को दबाकर सोलह आधार वाली, ऊर्ध्वगामिन, त्रिकूट वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरंध्र को जाने वाली अत्यन्त सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी को तथा त्रिशंख, वज्र, ओंकारयुक्त, ऊर्ध्व नाल, भ्रकुटियों की तरफ जाने वाली कुण्डली शक्ति और प्राणों को चलित करके शशि मण्डल का भेदन करे ॥७१-७४॥ नवों द्वारों को बन्द करके वज्र-कुम्भक का साधन करे। मनको निर्गुण बनाकर प्रसन्नतापूर्वक पवन पर आरूढ़ करे ॥७५॥

ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छंकिन्यमृतवर्षिणी ।
षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ॥७६
सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत् ।
आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥७७

दृश्यं तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
हंस हंस बदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
स प्राणपानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ॥७८
सहस्रमेकं द्ययुतं षटं शतं चैव सर्वदा ।
उच्चरन्पतितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥७९
पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम् ।
ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः ॥८०

इससे ब्रह्म स्थान में नाद सुनाई पड़ने लगता है और शान्ति की नाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगती है, षट-चक्र मण्डल का भेदन होने से ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित हो जाता है ।७७। सर्वभूतों में स्थित परम देव का सदैव पूजन करे । वे आत्मरूप, अन्धकार को मिटाने वाले, ज्ञान स्वरूप और व्याधि रहित हैं ।७७। उन सर्वव्यापी निरञ्जन के दिव्य स्वरूप का दर्शन करके हंस-हंस, का जप करे । प्राणियों की देह में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा कहा जाता है । इससे नित्यप्रति इक्कीस हजार छः सौ जप करता हुआ हंस, 'सोऽहं' रूप हो जाता है ॥७८-७९। साधक को सदैव कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिग, का शिखा स्थान में पश्चिम लिंग का और भ्रकुटियों के मध्य में ज्योतिर्लिङ्ग का ध्यान करना चाहिए ।८०।

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम् ।
अव्रणोऽहमकायोहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥८१
अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः ।
अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥८२
अक्षयोऽहमलिङ्गोहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम् ।
अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥८३
अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः ।
अगोत्रोऽहमगात्रोहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥८४

अद्रश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः ।
अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽस्म्यहम् ॥८५

मैं अच्युत हूँ, मैं अचिन्त्य हूं, मैं तर्क से बाहर हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं वर्ण-रहित हूँ, मैं काया से रहित हूं, मैं अङ्गों से और भय से रहित हूं। मैं अशक्त हूँ, अरूप हूँ, स्पर्श से परे हूं, अद्वय हूं, रस से रहित, गन्ध रहित और अनादि अमृत रूप हूं। मैं अक्षय हूं, लिङ्ग रहित हूं, अजर हूं, कला रहित हूँ, अप्राण हूँ, अमूक, अचिन्त्य और अक्रिय हूँ। मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य (पकड़ने में न आने वाला) हूं, मैं निर्देश और लक्षण से रहित हूँ, ।८१-८४। मैं अदृश्य हूँ, मै अवर्ण हूँ, अखण्ड हूँ, अद्भुत हूँ, अश्रुत हूँ, अदृष्ट हूँ, अन्वेषण योग्य हूं, और अमर हूं, ।८५।

अवायुरप्यनाकाशोऽतेजसोऽव्यभिचार्यहम् ।
अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥८६
अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोस्म्यगुणोऽस्म्यहम् ।
अमायोऽनुभवात्माऽहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥८७
अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः ।
अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥८८
अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः ।
अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्ताऽस्म्यहमद्वयः ॥८९
अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः ।
अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन् ॥९०

मैं वायु रहित आकाश रहित तेज रहित अव्यभिचारी अज्ञेय अजन्मा अतिसूक्ष्म, अधिकारी हूँ ।८६। मैं सत्व—रज – तम से रहित हूं। गुणातीत हूं माया रहित अनुभव स्वरूप हूं। अनन्य और अविषय हूं।८७। मैं अद्वैत हूं पूर्ण हूं न मैं बाहर हूं और न भीतर हूं मैं श्रोत्र रहित हूं अदीर्घ हूं अव्यक्त हूं और व्याधि रहित हूं।८८। मैं अद्वय अनान्दरूप विज्ञानघन और अविकारी हूं। मैं इच्छा रहित हूं

अकर्ता और अद्वय हूं, ॥८९॥ मैं अविद्याजनित कार्य से हीन हूँ, अगोचर हूँ, अकल्प हूँ, शोक रहित हूं विकल्प रहित हूँ, विशेष अग्नि रहित हूँ ॥९०॥

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम् ।
आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः ॥९१
आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः ।
आत्मकामोऽहमाकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम् ॥९२
ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः ।
उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाऽहमुत्तरतरोऽस्म्यहम् ॥९३
केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः ।
गुहाशयोऽहं गोप्ताऽहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम् ॥९४
चिदानन्दोऽस्म्यहं चेताश्चिद्घनश्चिन्मयोऽस्म्यहम् ।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायान् ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥९५

मैं यदि, मध्य और अन्त से रहित हूँ, आकाश के सदृश्य हूँ, मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ, आनन्द चेतन घन हूं ॥ ९१ ॥ मैं आनन्दामृत रूप हूँ, आत्म संस्थित हूँ, अन्तर हूँ, आत्माकाम हूँ और आकाश में परमात्मा परमेश्वर स्वरूप हूँ ॥ ९२ ॥ मैं ईशान हूँ, पूज्य हूं, उत्तम पुरुष हूं, उत्कृष्टा हूं, उपद्रष्टा हूँ और पर से भी परे हूँ ॥९३॥ मैं केवल हूँ, कवि हूं, कर्माध्यक्ष हूँ, कारण का अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूं और नेत्रों का नेत्र हूँ ॥९४॥ मैं चिदानन्द हूँ, चेतना देने वाला हूँ, चिद्घन और चिन्मय हूँ मैं ज्योतिर्मय हूँ और ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति मैं हूँ ॥९५॥

तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः ।
दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥९६
नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः ।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥९७
निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निस्स्पृहोऽस्म्यहम् ।

निरिन्द्रियो नियन्ताऽहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥९८
पुरुषः परमात्माऽहं पुराणः परमोऽस्म्यहम् ।
परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम् ॥९९
पारुमृतोऽस्म्यहं पूर्णः प्रभुरस्मि पुरातनः ।
पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥१००

मैं अन्धकार में साक्षी रूप, तुर्य का भी तुर्य, अन्धकार से परे दिव्य-देव स्वरूप, दुर्दर्श और दृष्टि का आधार ध्रुव हूँ ॥९६॥ मैं नित्य, निर्दोष, निष्क्रिय, निरंजन, निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूं ॥९७॥ मैं निर्विकार, सदैव, पवित्र, निर्गुण, निस्पृह, इन्द्रियों से रहित नियन्ता, निरपेक्ष और निष्कल हूँ ॥९८॥ मैं परमात्मा पुरुष, परम पुराण, पारावार, प्राज्ञ और प्रपंच का उपशम करने वाला हूँ ॥९९॥ मैं परामृत एवं पुरातन पूर्ण प्रभु हूं, पूर्णानन्द, एक बोध रूप, तथा एक रस रूप हूँ ॥१००॥

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः ।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥१०१
बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम् ।
महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥१०२
विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम् ।
वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यम् ॥१०३
विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम् ।
शुद्धोऽस्मिशुक्रःशान्तोऽस्मि शाश्वोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥१०४
सर्वं भूतान्तरात्माऽहमहमस्मि सनातनः ।
अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥१०५

मैं प्रज्ञाता, प्रशान्त, प्रकाश रूप, परमेश्वर हूं, द्वैत और अद्वैत से भिन्न मैं ही एक चिन्तन करने योग्य हूं, ॥ १०१ ॥ मैं बुद्ध हूँ, भूतकाल, प्रकाशस्वरूप भगवान्, महाज्ञेय तथा महान् महेश्वर मैं ही हूं ॥ १०२ ॥ मैं विमुक्त, विभु, श्रेष्ठ, वेश्वानर व वासुदेव हूं,

और विश्व का चक्षु स्वरूप हूं।१०३। मैं विश्व से अधिक हूँ, मैं विश्व का कर्त्ता विशद विष्णु हूँ, मैं शुद्ध, शान्त रूप हूँ, शाश्वत हूं, और शिव हूँ।१०४। मैं सब भूतों का अन्तरात्मा हूं, सनातन हूँ, मैं अपनी महिमा में स्थित होकर सदैव प्रकाशमान हूँ ॥१०५॥

सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम् ।
सर्वभूताधिवासोऽह सर्वव्यापी स्वराडहम् ॥१०६
समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥१०७
स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ॥१०८
सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्घनः ।
सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥१०९
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम् ।
सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥११०

मैं सब का अन्तर ज्योति स्वरूप और सब का अधिपति हूँ, समस्त भूत मुझ में ही रहते हैं, मैं सर्वव्यापी सब का सम्राट हूँ।१०६। मैं ही सब का साक्षी, सर्वात्मा, सब भूतों का गुह्य आशय हूं, मैं सब इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक हूँ और सब इन्द्रियों से रहित भी हूं।१०७। मैं तीन स्थान से परे हूं, सब पर अनुग्रह करने वाला हूँ मैं ही सब का प्रेमास्पद सच्चिदानन्द पूर्णात्मा हूँ।१०८। मैं सच्चिदानन्द मात्र हूँ और स्वयं प्रकाशमान चेतन घनरूप हूँ, मैं सत्य स्वरूप, सन्मात्र, सिद्धि और सर्वात्मा हूँ ॥१०९॥ सब का आधार रूप, सत्य स्वरूप, स्वआत्मा के बन्धन को हरने वाला, सब को ग्रसने वाला, सब को देखने वाला और सब का अनुभव रूप हूं।११०। जो इस प्रकार तत्व का ज्ञाता है वही पुरुष कहा जाता है, ऐसा यह उपनिषद है।

॥ ब्रह्मविद्या उपनिषद् समाप्त ॥

# क्षुरिकोपनिषत्

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शान्ति पाठ—ॐ ब्रह्म हम दोनों ( गुरु-शिष्य ) का साथ ही भला करो, हमारा दोनों का साथ ही पालन करो। हम दोनों साथ ही पराक्रम करें। हमारी दोनों की विद्या-बुद्धि, तेजस्वी हो, हम किसी का द्वेष न करें। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥१
वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयम्भुवा।
निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः ॥२
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च।
मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः ॥३
पूरयेत् सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च।
उरोमुखकटिग्रीवं किंचिद्धृदयमुन्नतम् ॥४
प्राणान् संधारयेत् तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः।
भूत्वा तत्रायतप्राणः शनैरुच्छ्वासमुच्छ्वसेत् ॥५

योग की सिद्धि के लिये धारण रूप क्षुरिका अर्थात् छुरी को मैं यहां बतलाता हूँ, जिसको प्राप्त करके योगयुक्त होने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता।१। हल्ला-गुल्ला से रहित स्थान में आसन लगाकर बैठना और जैसे कछुवा अपने अवयवों को सिकोड़ लेता है वैसे ही मन को हृदय

में रोकना। इसके पश्चात् धीरे-धीरे बाहर मात्रा वाले ॐकार द्वारा वेद में तत्वार्थ रूप से विधान किया हुआ और ब्रह्म के बतलाये हुए पूरक प्राणायाम से समस्त शरीर को पूर्ण करना। छाती, मुख, रीढ़, गर्दन और हृदय को कुछ ऊँचा रखना ।।२-४।। फिर नाक के भीतर चलते प्राण को हृदय में धारण करना। इस प्रकार कुम्भक रूप में रह कर वहाँ प्राण के पहुँच जाने पर उसे धीमे-धीमे छोड़ना ( अर्थात् रेचक करना ) ।।५।।

स्थिरमात्मदृढं कृत्वा अंगुष्ठेन समाहितः।
द्वौ गुल्फे तु प्रकुर्वीत जंघेचैव त्रयस्त्रयः ।।६
द्वौ जानुनी तथोरू द्वौ गदे शिश्ने त्रयस्त्रयः।
पायोरायतनं तत्र नाभिदेशे समाश्रयेत् ।।७
तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडिभिर्दशभिर्वृता।
तत्र रक्ता च पीता च कृष्णा ताम्रा विलोहिता ।।८
अतिसूक्ष्मा च तन्वी च शुक्लां नाड समाश्रयेत्।
तत्र सञ्चारयेत् प्राणान् ऊर्णनाभीव तन्तुना ।।९
ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकं तत् वेदान्तेषु निगद्यते ।।१०

इस प्रकार इस अभ्यास के स्थिर और दृढ़ हो जाने पर पूर्ण सावधान रह कर पैर के अंगूठा से लेकर दोनों गुल्फों में दो-दो, दोनों जाँघों में दो-दो, दोनों जानुओं में तथा उपस्थ और गुदा इन्द्रिय में तीन-तीन प्राणायाम करने और फिर वायु के स्थान नाभि-प्रदेश का आश्रय करना ।।६-७।। यहाँ सुषुम्णा नाम की नाड़ी है, वह अनेक नाड़ियों से लिपटी हुई है, उनमें से कितनी ही सूक्ष्म, लाल, पीली, काली और तांबे के रंग की हैं ।। ८ ।। पर जो नाड़ी अत्यन्त सूक्ष्म, पतली और श्वेत है उनका आश्रय करना, जैसे ऊर्णनाभि अपनी लार के तन्तु द्वारा संचार करता है, उसी प्रकार योगी को उस नाड़ी में

प्राण का संचार करना चाहिए ॥९॥ इसके पश्चात् वेदान्त में जिसको 'दहर पुण्डरीक' कहते हैं, उस ( हृदय रूप ) बड़े पुरुष ( आत्मा ) का जो स्थान है, वह लाल कमल के समान प्रकाशित होता है ॥१०॥

तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तन्नाडीं पूरयेदिति ।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम् ॥११
पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत् ।
मनोधारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥१२
इन्द्रवज्रामिति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम् ।
तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत् ॥१३
ऊर्व्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम् ।
चतुरभ्यस्थ योगेन छिन्देदनभिशङ्कितः ॥१४
ततः कण्ठान्तरे योगी समूहेन्नाडिसञ्चये ।
एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिरा ॥१५

उसे भेद कर वायु उक्त नाड़ी को भरता हुआ कण्ठ में आता है, इसलिए योगी को बुद्धि के द्वारा निर्मल, अतिशय तीक्ष्ण मन रूप छुरी को लेकर पैरों से ऊपर मध्य भाग में जो नाम तथा रूप है, उसे काट डालना। ऐसे तीक्ष्ण मन द्वारा नित्य योग का अभ्यास करना ॥११-१२॥ फिर 'इन्द्र वज्र' नाम का स्थान, जो जंघा में बतलाया जाता है उसे ध्यान योग के बल से और धारणा से काट डालना ॥१३॥ फिर दोनों उरुओं के बीच प्राण को स्थापित करके उसे मर्म भागों में ले जाना चाहिए और चार बार योगाभ्यास करके निशंक होकर मर्म भागों को काट डालना चाहिए ॥१४॥ फिर योगी कण्ठ के भीतर नाड़ियों को इकट्ठी करता है। उनमें से एक सौ एक श्रेष्ठ नाड़ी कही गई है ॥१५॥

सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी ।
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु ॥१६

तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्।
द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम् ॥१७
छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।
योगनिर्मलसारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥१८
छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभवादिह जन्मनि।
जातीपुष्पसमं योगी यदा पश्यति तैलिलम् ॥१९
एवं शुभाशुभैर्भावैः सा नाडीनां विभावयेत्।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः ॥२०

सुषुम्ण परतत्व में लीन है, विरजा ब्रह्म है, इडा बाईं तरफ रहती है और पिंगला दाहिनी तरफ है ।१६। इन दोनों नाड़ियों के बीच जो उत्तम स्थान है, उसे जो जानता है, वह वेद का जानने वाला है समस्त सूक्ष्म नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार है जिनको "तैतिल" कहते हैं ।१७। ध्यान योग से ये सब नाड़ियाँ छेदी जाती हैं, एक सुषुम्णा नहीं छेदी जाती । धीर पुरुष को इस जन्म में आत्मा के प्रभाव से अग्नि के समान तेजस्वी और योग रूपी निर्मल धार वाली ( मन रूपी ) छुरी से सब नाड़ियों को छेदना चाहिए, इससे तैतिल नाड़ियाँ उसी प्रकार सुवासित हो जाती हैं जिस प्रकार जवा पुष्पों में तिल सुवासित हो जाते हैं ।१८-१९। इस प्रकार शुभाशुभ भावों से सुषुम्णा नाड़ी का ध्यान करना । उसमें भावना करने से मनुष्य पुनर्जन्म से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है ।२०।

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः।
निःसङ्ग साङ्ख्ययोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः ॥२१
पाशान् छित्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्पतेत्।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥२२
यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत ॥२३

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेणयोगवित् ।
वैराग्योपलधृष्टेन छित्त्वा तन्तुं न बध्यते ।।२४
अमृतत्वं समप्नोति यदा कामात्स मुच्यते ।
सवेषणाविनिर्मुक्ताश्छित्त्वा तं तु न बध्यत ।।२५
इत्युपनिषत् ।।

तप द्वारा जिसने चित्त को जीत लिया है वह शब्दरहिद एकान्त प्रदेश में बैठकर निःसंग तत्व के योग का अभ्यास करे और धीरे-धीरे निरपेक्ष हो जाय ।२१। हंस जिस प्रकार निःशंक होकर आकाश में उड़ जाता है, उसी प्रकार इस अभ्यास द्वारा समस्त बन्धनों के कट जानने से बन्धन मुक्त हो संसार से सदा के लिए पार हो जाता ।२२। जिस प्रकार दिये के बुझने के समय उसका समस्त तेल जल कर समाप्त हो जाता है उसी प्रकार सब कर्मों को जला कर भस्म करके ब्रह्म में लय पाता है ।२३। प्रणायाम द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण बनाई, ॐकार रूप धार वाली और वैराग्य पत्थर पर घिसी हुई ( मन रूपी ) छुरी से संसार रूपी सूत्र को काट कर योगवेत्ता मनुष्य फिर उसके द्वारा नहीं बाँधा जाता ।२४। जब वह कामनाओं से छूटता है और समस्त ऐषणाओं से रहित होता है, तब अमृतत्व को पाता है । इस प्रकार संसार को काट डालने पर वह बन्धन में नहीं पड़ता ऐसा यह रहस्य है ।२५।

।। इति अथर्ववेद का क्षुरिकोपनिषद् समाप्त ।।

---

# योगतत्वोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सहनै भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ।।

शान्तिः पाठ--ब्रह्म हम दोनों का रक्षण करे, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हो हमारा अध्ययन तेजस्वी हो । हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।।

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया ।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।१
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।।२
तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः ।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम् ।।३
तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।
सर्वे जीवाः सुखदुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ।।४
तेषां मुक्तिकं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मुक्तितारकम् ।।५

योगियों की हित-दृष्टि से मैं योग तत्व को कहता हूं, जिसके सुनने और पढ़ने से सर्व पाप छूट जाते हैं ।१। विष्णु ही महायोगी, सब भूतों के आदि महाभूत और महातपस्वी है । वे पुरुषोत्तम तत्व-मार्ग में दीपक के समान प्रकाशमान हैं ।।२।। ब्रह्माजी ने उन जगत स्वामी की आराधना करके और प्रणाम करके पूछा—"अष्टाङ्ग युक्त

योग का मुझे उपदेश दें ।३। यह सुन कर हृषीकेश ने कहा कि मैं उस तत्व को कहता हूं, तू ध्यानपूर्वक श्रवण कर-"सब जीव माया के सुख-दु:ख रूपी जाल फँसे हैं ।४। इस माया के जाल को काट कर उनको मुक्ति का मार्ग दिखलाने वाला और जन्म, जरा, व्याधि से छुटकारा दिलाने वाला मार्ग यही है ।५।

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ।।६
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ।।७
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ।
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ।।८
परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम् ।
सर्वं भावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ।।९
वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता ।
पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ।।१०

कैवल्य रूपी परम पद अन्यान्य मार्गों का आश्रय लेने से दुष्प्राप्य रहता है । तरह-तरह के शास्त्रों के मतों में पड़ कर ज्ञानियों की बुद्धि मोहित हो जाती है ।६। उस अनिर्वाच्य पद का वर्णन देवता भी नहीं कर सकते तब उस स्वात्मप्रकाशरूप का वर्णन शास्त्रों में कैसे किया जा सकता है ? ।७। वह निष्कल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत, निरामय तत्व जीव रूप में पुण्य और पाप के फलों से युक्त हो जाता है ।८। यहाँ प्रश्न होता है कि जब वह परमात्म पद नित्य सब भाव से अतीत, ज्ञान रूप और माया से रहित है तो वह जीव भाव को कैसे प्राप्त होता है ? ।९। उसमें जल के समान स्फुरण हुआ और उसमें अहंकार की उत्पत्ति हुई और पांच महाभूत रूप धातु से बंधा गुणात्मक पिण्ड हुआ ।१०।

सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु ।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥११
कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः ।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥१२
तृष्णा लज्जा भय दुःखं विषादो हर्ष एव च ।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥१३
तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
योगहीन कथं ज्ञान मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥१४
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न मोक्षकर्मणि ।
तस्माज्ज्ञान च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥१५

उसने सुख-दुःख से युक्त होकर जीव-भावना की, इससे उसे जीव नाम दिया गया ।११। काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म, मृत्यु, कार्पण्य, शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृषा, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, विषाद, हर्ष – इस सब दोषों से मुक्त हो जाने पर जीव को 'केवल' माना जाता है ।१२-१३। अब इन दोषों को दूर करने का उपाय कहा जाता है । योग रहित ज्ञान किस प्रकार मोक्ष देने वाला हो सकता है ? ।१४। ज्ञान रहित योग से भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिए मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का अभ्यास करना चाहिए ।१५।

अज्ञानादेव ससारो ज्ञानादेव विमुच्यते ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयकसाधनम् ॥१६
ज्ञातं येन निज रूपं कैवल्यं परमं पदम् ।
निष्कलं निर्मलं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपकम् ॥१७
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते ॥१८

योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥१९
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः ।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥२०

अज्ञान से ही संसार है और ज्ञान द्वारा ही इससे निवृत्ति हो सकती है । ज्ञान स्वरूप ही आदि में है और ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय की प्राप्त हो सकती है ।१६। जिससे अपने स्वरूप का ज्ञान हो और कैवल्य पद, परम पद, निष्कल, निर्मल, सच्चिदानन्द रूप का, उत्पत्ति, स्थिति, संहार, स्फुरण का ज्ञान हो वही वास्तविक ज्ञान है । इससे आगे योग के विषय में कहते हैं ।१७। हे ब्रह्मा, व्यवहार की दृष्टि से योग के अनेक भेद हैं—मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग ।१९। योग की चार अवस्थायें सर्वत्र बतलाई गई हैं—आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति ।२०।

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् वक्ष्ये शृणु समासतः ।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ॥२१
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ॥२२
लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥२३
स एव लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु ।
यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः ॥२४
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम् ।
सामाधिः समताऽवस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥२५

इनके लक्षण संक्षेप में कहे जाते हैं—जो मात्रायुक्त बारह सौ जप करता है वह क्रम से अणिमा आदि का ज्ञान करता है, पर इस प्रकार के योग अल्पबुद्धिजन करते हैं और बे अधम श्रेणी के

साधक होते हैं ।।२१-२२।। चित्त का लय योग है, वह बहुत तरह का कहा गया है । चलते, बैठते, सोते, खाते निष्कल परमात्मा का ध्यान करता रहे ।।२३।। यह तो लय योग हुआ, अब हठयोग को सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रकुटी के मध्य में श्रीहरि का ध्यान, समाधि ( साम्यावस्था ) को अष्टांग योग कहते हैं ।।२४-२५।।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालधरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ।।२६
दीर्घप्रणवसंधानं सिद्धान्तश्रवणं तथा ।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता ।।२७
एतेषां लक्षणं ब्रह्मन् प्रत्येक शृणु तत्त्वतः ।
लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नतरः ।।२८
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन ।
सिद्धं पद्मं तथा सिंह भद्रं चेति चतुष्टयम् ।।२९
प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुराननः ।
आलस्यं कत्थनं धूर्गोर्तष्टी मन्त्रादिसायनम् ।।३०

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेद खेचरी, जालन्धर बन्ध, उड्डियाण मूलबन्ध, दीर्घ प्रणव संधान, परम सिद्धान्त का श्रवण, वज्रोली, अमरोली सहजोली ये तीन मुद्राऐं हैं ।। २६-२७ ।। हे ब्रह्मा ! अब इनमें से प्रत्येक के लक्षण सुन—यमों में एक मात्र सूक्ष्म आहार ही मुख्य है और नियमों में अहिंसा प्रधान है । सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र, ये चार आसन मुख्य हैं ।। २८-२९ ।। प्रथम अभ्यास काल में विघ्न होते ही हैं, जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें, मन्त्रादिक का साधन ।।३०।।

धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै ।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान् विघ्नान् पुण्यप्रभावतः ।।३१

प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम् ।
सुशोभनं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम् ।।३२
सुष्ठुलिपं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः ।
मत्कुणैर्मशकैर्लूकैर्वर्जितं च प्रयत्नतः ।।३३
दिने दिने च संमृष्टं समार्जन्या विशेषतः ।
वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ।।३४
नात्युच्छ्रित नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ।।३५

बुद्धिमान साधक धातू ( रुपया ) और स्त्री की लोलुपता को मृग तृष्णा समझ कर और विघ्न रूप जानकर त्याग दे ।। ३१ ।। तब उसे पद्मासन लगा कर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये और इसके लिए सर्व प्रथम एक अच्छी सी कुटिया छोटे द्वार वाली और बिना छेद की बनावे ।।३२।। उसको गोबर से लीप कर सुन्दर बनावे और भली प्रकार स्वच्छ करे और प्रयत्नपूर्वक खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जीवों से रहित करे ।।३३।। उसे प्रतिदिन झाड़-बुहाड़ कर साफ करता रहे और धूप गूगल आदि की धूनी से सुवासित करे ।।३४।। न तो बहुत ऊँचा, न बहुत नीचा ऐसे वस्त्र, मृगचर्म और कुश के आसन पर बैठकर पद्मासन लगावे ।।३५।।

ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।
ततो दक्षिणहस्तस्य अंगुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ।।३६
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।
यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ।।३७
पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य पूरयेदुदरं शनैः ।।३८
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ।
यया त्यजेत्ताऽऽपूर्य धारयेदविरोधतः ।।३९

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अंगुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ।।४०

शरीर को सीधा रखे, हाथ जोड़कर इष्ट देवता को प्रणाम करे, इसके पश्चात् दाँये हाथ के अंगूठे से पिंगला को दबाकर धीरे-धीरे वायु को भीतर खींचे और उसे यथाशक्ति रोककर कुम्भक करे ।। ३६-३७ ।। फिर पिंगला द्वारा उस वायु को साधारण गति से बाहर निकाल दे। तत्पश्चात् पिंगला से वायु को पेट में भरे और यथाशक्ति धारण करके इडा द्वारा रेचक करे। इस प्रकार जिस तरफ के नथुने से वायु निकाले उसी तरफ से पुनः भर कर दूसरे से निकालता रहे ।।३८-३९।। न तो वेग से और न धीरे से जानु की प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजावे, इतने समय को एक मात्रा कहा जाता है ।। ४० ।।

इडया वायुमापूर्य शनैः षोडशमात्रया ।
कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ।।४१
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ।।४२
प्रातर्माध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ।।४३
एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ।
यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः ।।४४

पहले इडा से सोलह मात्रा तक वायु को खींचे, फिर चौंसठ तक कुम्भक करे और तब बत्तीस तक पिंगला नाड़ी से रेचक करे। इसके बाद दूसरी बार पिंगला से वायु खींच कर पूर्ववत् क्रिया करे ।।४१-४२।। प्रातः, दोपहर सन्ध्या और आधीरात के समय चार बार में शनैः शनैः अस्सी कुम्भक तक का अभ्यास बढ़ावे ।। ४३ ।।

इस प्रकार तीन मास तक अभ्यास करने से नाड़ी शुद्धि हो जाती है और ऐसा होने से उसके चिह्न भी योगी की देह में दिखलाई देने लगते हैं ।।४४।।

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम् ।।४५
कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम् ।
योगविघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः ।।४६
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ।
शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।।४७
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत् ।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।।४८
गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः ।
ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ।।४९
यथेष्टधारणाद्वायोः सिध्येत्केवलकुम्भकः ।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ।।५०

वे इस प्रकार हैं कि शरीर में हल्कापन जान पड़ता है और जठराग्नि तीव्र हो जाती है, शरीर भी निश्चित रूप से कृश हो जाता है। इस अवसर पर योग में विघ्न डालने वाला आहार त्याग देना चाहिए। नमक, तेल, खटाई गर्म, रूखा, तीक्ष्ण भोजन, हरे साग, हींग आदि मसाले, आग से तापना, स्त्री-प्रसंग, अधिक चलना, प्रातः-काल का स्नान, उपवास और अन्न काया को क्लेश देने वाले कार्यों को त्याग दे। अभ्यास काल के आरंभ में दूध, घी का भोजन ही श्रेष्ठ है। ४५-४८।। गेहूँ, मूंग चावल का भोजन योग की वृद्धि करने वाला होता है। इस प्रकार अभ्यास करने से वायु को यथेच्छ धारण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है ।।४९।। यथेच्छ वायु धारण कर सकने

पर 'केवल कुम्भक' सिद्ध हो जाती है और तब रेचक और पूरक को त्याग दे ।५०।

न तस्य दुर्लभ किंचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥५१
ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥५२
ततोऽधिकतराभ्यासात् दर्दरी स्वेन जायते ।
यदा च ददरो भाव उत्प्लुत्योल्लुत्य गच्छति ॥५३
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते ॥५४
पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य गच्छति ।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥५५

फिर उस योगी के लिये तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता । अभ्यास करते समय जो पसीना निकल आवे उसे शरीर में ही मल लेना चाहिए ।५१। इसके पश्चात् वायु की धारणा शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती रहे, इससे आसन पर बैठे हुये साधक के देह में कम्प होने लगता है ।५२। इससे अधिक अभ्यास होने पर मेंढ़क की-सी चेष्टा होने लगती है, अर्थात् जिस प्रकार मेंढ़क उछलता है और फिर जमीन पर आ जाता है उसी प्रकार की दशा पद्मासन पर बैठे योगी की होती है । जब अभ्यास और बढ़ता है तो वह भूमि से ऊपर उठने लगता है ।५३-५४। पद्मासन पर बैठे हुए ही भूमि से ऊपर रहता है । इस प्रकार और भी अतिमानुषी चेष्टायें करने लगता है ।५५।

न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् ।
स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते तदा ॥५६

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धताऽऽनने ।।५७
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्त ततः परम् ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्बलमुत्पद्यते बहु ।।५८
येन भूचरसिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः ।
व्याघ्रो वा शरभो याऽपि गजो गवय एव वा ।।५९
सिंहो वा योनिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः ।
कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः ।।६०

प॰ इस प्रकार की सामर्थ्य और शक्ति को किसी को दिखलाना नहीं चाहिये वरन् स्वयं ही देखकर अपनी उत्साह वृद्धि करनी चाहिए। फिर थोड़ा-बहुत कष्ट योगी को पीड़ित नहीं कर सकता।५६। मल और मूत्र घट जाता है, निद्रा भी अल्प हो जाती है। कीचड़, नाक, थूक, पसीना मुख की दुर्गन्ध आदि उनको फिर नहीं होती और अभ्यास बढ़ाने से बड़ी शक्ति प्राप्त हो जाती है। ५७-५८। इस प्रकार भूचर सिद्धि प्राप्त होने से समस्त भूचरों पर विजय प्राप्त हो जाती है, व्याघ्र, शरभ, हाथी, गवय, सिंह आदि योगी के हाथ के मारने से ही मर जाते हैं। उसका स्वरूप भी कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है ।५९-६०।

तद्रूपवशगा नार्यः काङ्क्षन्ते तस्य सङ्गमम् ।
यदि संङ्ग करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत् ।।६१
वर्जयित्वा स्त्रियां संगं कुर्यादभ्यासमादरात् ।
योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते विन्दुधारणात् ।।६२
ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ।।६३
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसंभवा ।।६४

ततो भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासतत्परा ।
प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥६४
अन्योन्यस्याविरोधेन एकतां घटते यदा ।
घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम् ॥६६

उसके रूप को देखकर अनेक स्त्रियाँ उस पर मोहित होकर भोग की आकांक्षा करने लगती हैं, पर यदि योगी ऐसा करेगा तो उस का वीर्य नाश हो जायगा ।६१। इसलिए स्त्रियों का ध्यान न करके दृढ़तापूर्वक अभ्यास करते जाना चाहिए । वीर्य धारण करने से योगी की देह से सुगन्ध आने लगती है ।६२। तब एकान्त स्थान में बैठ कर प्लुत मात्रा में प्रणव का जप करे जिससे पूर्व जन्म के पापों का क्षय हो ।६३। यह प्रणव मन्त्र सब प्रकार के विघ्नों और दोषों को दूर करने वाला है और इसका अभ्यास करने से सिद्धियां प्राप्त होने लगती हैं ।६४। तब वायु धारण का अभ्यास करते रहने से घटावस्था प्राप्त होने लगती है । इसमें प्राण, अपान, मन, बुद्धि जीव और परमात्मा में अवरोध होकर जो पारस्परिक एकता स्थापित होती है, उसके चिह्न अब आगे कहे जाते हैं ।६५-६६।

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत् ।
दिवा वा यदि वा सावमेककालं समभ्यसेत् ॥६७
एकवारं प्रतिदिन कुर्यात्केवलकुम्भकम् ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरण स्फुटम् ॥६८
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ।
यद्यत्पश्याति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥६९
यद्यच्छ्रणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ।
लभते नासया यद्यत्तत्तदात्मेति भावयेत् ॥७०

पहले जितना अभ्यास किया जाता था अब चौथाई करे, दिन या रात्रि में एक प्रहर मात्र अभ्यास करे । केवल कुम्भक दिन में

एक बार करे और कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच कर लावे यही प्रत्याहार होता है। उस समय नेत्रों से जो कुछ भी देखे उसको आत्मवत् समझे।६७-६९। जो कुछ कानों से सुने, जो कुछ नाक से सूँघे उस सबको आत्म-भावना से ही ग्रहण करे।७०।

जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्।
त्वचा यद्यस्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥७१
एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तादात्मेति धारयेत्।
याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥७२
यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः अणाद्दूरागमस्तथा ॥७३
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा।
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥७
खे गतिस्तस्य जातेत संतताभ्यासयोगतः।
सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥७५

जिह्वा द्वारा जिस रस को ग्रहण करे उसे भी आत्मारूप समझे, त्वचा से जो स्पर्श हो उसमें भी आत्मा की भावना करे।७१। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों के जितने विषय हैं उन सबका साधन करे और दिन में एक प्रहर तक इसका अभ्यास किया करे।७२। इस प्रकार के अभ्यास से जैसे-जैसे योगी की चित्त सामर्थ्य बढ़ती जायगी वैसे वैसे ही उसे दूर से सुन सकना, दूर, दर्शन, क्षण भर में दूर से आ जाना, वाक्य सिद्धि, चाहे जैसा रूप धारण कर लेना, अदृश्य हो जाना, उसका मल मूत्र लगने से लोहे का सोना हो जाना, आकाश में गमन कर सकना आदि सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं। बुद्धिमान योगी सदैव इनकी तरफ ध्यान रखे।७३-७५।

एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान्।
न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कथ्यापि योगिराट् ॥७६

यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव वा ।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥७७
शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः ।
तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाध्यासे विस्मृतो भवेत् ॥७८
सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः ।
अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम् ॥७९
एव भवेद्घटावस्था संतताभ्यासयोगतः ।
अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिध्यति ॥८०

पर ये सब योग के सिद्ध होने में विघ्न रूप हैं, बुद्धिमान को उनसे बचना चाहिये और अपनी इस प्रकार की सामर्थ्य को कभी किसी के सामने प्रकट न करे ।७६। इसलिये सर्व साधारण के सामने उसे पागल, अन्धा, बहरे की तरह बन कर रहना चाहिये और अपनी सामर्थ्य को सब प्रकार से गुप्त रखना चाहिए ।७७। शिष्यगण अपने कार्य के लिए योगी से अवश्य प्रार्थना करेंगे पर उनके काम में पड़कर अपने अभ्यास को न भूल जाना चाहिये ।७८। उसे गुरु के वाक्यों को स्मरण करके सदैव अभ्यास में ही लगे रहना चाहिए । इस प्रकार निरन्तर योगाभ्यास से घटावस्था प्राप्त हो जाती है ।७९। पर इस प्रकार की सिद्धि अभ्यास द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, केवल बातों से कुछ नहीं हो सकता, इसलिये प्रयत्नपूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिये ।८०।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाऽभ्यसेत् ।
ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ॥८१
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥८२
वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम् ।
यस्य चित्त स्वपवनः सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥८

भूमिरापोनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः ।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ।।८४
पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरश्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ।।८५
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ।।८६

फिर अभ्यास योग से परिचय अवस्था आरम्भ होती है, उसके लिए यत्नपूर्वक वायु सहित और कुण्डली का साधन करके भावना पूर्वक सुषुम्ना में प्रवेश करना। वहाँ के अवरोध को जीतकर वायु के सहित महापथ में अग्रसर होना।८१-८२। जिसका चित्त पवन सहित सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है उसके लिये पृथिवी जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंच महाभूत रूपी देवताओं की पांच प्रकार की धारणा हो जाती है। पैरों से जानु पर्यन्त पृथिवी-तत्व का स्थान कहा गया है।८३-८४। पृथिवी चार कोने वाली, पीत वर्ण 'ल' अक्षर युक्त होती है पृथिवी तत्व में वायु का आरोप करने और 'ल' को उसमें युक्त करके उसमें सुवर्ण के से रंग वाले चार भुजा और चार मुँह वाले ब्रह्मा का ध्यान करे। इस प्रकार पाँच घड़ी तक ध्यान करने से पृथिवी तत्व जय हो जाता हैं।८५-८६।

धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ।
पृथिवीयागतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ।।८७
आजानो पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
अपोऽर्धचन्द्रं शुक्ल वंबीज परिकीर्तितम् ।।८८
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुम् किरीटिनम् ।।८९
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः सवपापैः प्रमुच्यते ।।९०

इस पृथिवी योग के प्रभाव से योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है। जानु से गुदा स्थान तक जल-तत्व का स्थान कहा गया है। यह अर्ध चन्द्र के रूप में 'भ' बीज वाला होता है। इस जल तत्व में वायु का आरोप करके, 'व' को समन्वित करके चार भुजा, किरीट धारण किये शुद्ध स्फटिक के सदृश्य, पीतवस्त्र धारण किये अच्युतदेव नारायण का ध्यान करे ॥८७-८९॥ इस प्रकार पाँच घड़ी तक ध्यान करने से प्रभु सब पापों से छुड़ा देते हैं। फिर उसे जल से किसी प्रकार का भय नहीं रहता न जल से उसकी मृत्यु हो सकती है।९०।

ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ।
आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थान प्रकीर्तितम् ॥९१
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ॥९२
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम् ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥९३
धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनाऽसौ न दह्यते ।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निकुण्डके ॥९४
आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थान प्रकीर्तितम् ।
वायुः षट्कोणक कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥९५
मारुतं मारुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ।
धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥९६

गुदा से हृदय तक अग्नि का स्थान कहा गया है। अग्नि तीन कोण वाला, लाल रंग का और 'र' अक्षर युक्त होता है अग्नि में वायु का आरोप करके, उस 'र' अक्षर को समन्वित करके तीनों मन्त्रों वाले, वरदान देने वाले, तरुण आदित्य के समान प्रकाशमान सर्वांग में भस्म लगाये भगवान् रुद्र का प्रसन्न मन से ध्यान करे। पाँच घड़ी ऐसा ध्यान करने से वह अग्नि से नहीं जलाया जा सकता।९१-९३।

अगर वह प्रज्ज्वलित, अग्नि में भी चला जाय तो भी नहीं जलता । हृदय से भ्रकुटियों तक वायु का स्थान कहा गया है, यह छः कोण के आधार वाला, कृष्ण वर्ण 'य' अक्षर युक्त होता है। मरुत्-स्थान में 'य' अक्षर के सहित विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का ध्यान करे। इस प्रकार पाँच घड़ी तक ध्यान करने से वायु के समान आकाश में जाने वाला हो जाता है ।९४-९६।

धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद्व्योमगो भवेत् ।
मरणं न तु वायोस्तु भयं भवति योगिनः ।।९७
आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।
व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ।।९८
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् ।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ।।९९
शुद्धस्फटिकसंकाशं धृतवालेन्दुमौलिनम् ।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुम् त्रिलोचनम् ।।१००
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् ।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ।।१०१

उस योगी को वायु का कुछ भय नहीं रहता और न वह वायु से मरता है भ्रकुटी से मूर्धान्त तक आकाश का स्थान कहा गया ।९७। व्योम वृत्ताकार धूम्र वर्ण का और 'ह' अक्षर से प्रकाशित है। आकाश तत्व में वायु का आरोप करके शंकर भगवान्, जो बिन्दु रूप महादेव हैं, व्योम के आकार में सदाशिव हैं, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल हैं, बाल चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये हैं, पाँच मुख वाले, सौम्य, दश भुजा और तीन नेत्र युक्त, सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को लिये हुये, सब प्रकार के आभूषणों से भूषित, पार्वती के अर्धांग, वर देने वाले, सर्व कारणों के कारण हैं, उनकी धारणा आकाश में करने से निश्चय ही आकाश गमन की शक्ति प्राप्त होती है ।९८-१०१।

आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम् ।
यत्र कुत्र स्थितो वाऽपि सुखमत्यन्तमश्नते ॥१०२
एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः ।
ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥१०३
ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः ।
समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाशष्टिमेव च ॥१०४
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ।
सगुणध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥१०५

इससे साधक कहीं भी रहता हुआ अत्यन्त सुख प्राप्त करता है इस प्रकार विलक्षण बुद्धि का योगी पांच प्रकार की धारणा करे ।१०२। इससे उसका शरीर दृढ़ हो जाता है और मृत्यु का भय जाता रहता है, और वह ब्रह्म प्रलय होने पर भी दुःख नहीं होता ।१०३। छः घड़ी तक इस प्रकार वायु को रोकते हुए आकाश में इष्ट सिद्धि दाता देवताओं का ध्यान करे ।१०४। सगुणरूप से ध्यान करने पर अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त होती हैं और निर्गुण ध्यान करने से समाधि की प्राप्ति होती है ।१०६।

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥१०६
समाधिः समताऽवस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥१०७
पर ब्रह्मणि लीयेत तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ।
अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं ॥१०८
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥१०९
मनुष्यो वाऽपि यक्षो वा स्वेच्छयाऽपि क्षणाद्भवेत् ।
सिंहो व्याघ्रो गजो वाऽश्वः स्वेच्छया बहुतामियात् ॥११०

योग का ज्ञाता बारह दिन में ही समाधि को सिद्ध करके जीवन्मुक्त हो जाता है।१०६। समाधि की जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है, उसमें अगर अपनी देह छोड़ने की इच्छा हो तो उसे छोड़ा जा सकता है।१०७। इस प्रकार जो परब्रह्म में लय हो जाता है उसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता। यदि उसे शरीर प्रिय हो, तो वह शरीर में ही स्थित रह कर अणमादि सिद्धियों से युक्त सब लोकों में विहार कर सकता है और चाहे तो कभी भी स्वर्ग में देवता भी हो सकता है।१०८-१०९। वह अपनी इच्छा से मनुष्य अथवा यक्ष बन सकता है और सिंह, व्याघ्र, हाथी, घोड़ा आदि बहुत से रूपों को ग्रहण कर सकता है।११०।

यथेष्टमेव वर्तेत योगी यद्वा महेश्वरः।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥१११
पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥११२
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः।
कुम्भकेन यथाशक्त्या धारयित्वा तु रेचयेत् ॥११३
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन समभ्यसेत्।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत् ॥११४
अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥११५

योगी महेश्वर-पद प्राप्त कर लेने पर इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है। यह भेद केवल अभ्यास का है, फल की दृष्टि से दोनों समान ही हैं।१११। बायें पैर की एड़ी से योनि स्थान को दबाकर और दांयें पैर को फैलाकर उसके अंगूठे को दोनों हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़ ले। ठोड़ी को छाती से लगाकर वायु को भीतर भरं और

यथाशक्ति कुम्भक करके रोचक द्वारा वायु निकालदे ॥११२-११३॥ इस अभ्यास को बायें अङ्ग से करने के पश्चात् दांये से करे, अर्थात् जो पैर फैलाया हुआ था उसको योनि स्थान पर लगावे ॥११४॥ इसको महाबन्ध कहते हैं और इसका दोनों प्रकार से अभ्यास किया जाता है। महाबन्ध करने वाले योगी को एकाग्र होकर कण्ठ मुद्रा द्वारा वायु की गति का निरोध करके दोनों नासा-रन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है ॥११५॥

वायूनां गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया ।
पटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥११६
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्तेऽनिशम ।
अन्तः कपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥११७
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ।
कण्ठामाकुंच्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया ॥११८
बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमावङ्गकेसरी ।
बन्धो सेन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥११९
उड्याणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमा कुञ्चयेद्दृढम् ॥१२०
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते ।
प्राणापानौ नादविन्दू मूलबन्धेन चौकताम् ॥१२१
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः ।
करणी विपरीताख्या सर्वाधिव्याधिनाशिनी ॥१२२

सिद्ध योगी गण इस महाबेध का सदैव अभ्यास करते हैं। अब खेचरी मुद्रा को कहते हैं कि जिह्वा को लौट कर कपाल कुहर में लगादे और दोनों भ्रकुटियों में दृष्टि को जमाये। कण्ठ को सिकोड़ कर दृढतापूर्वक छाती पर रखने से जालन्धर बन्ध होता है जो मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान है। इससे बँधा हुआ प्राण सुषुम्ना में

उठ जाता है। इसको योगी उड्डियान वन्ध कहते हैं। एड़ी द्वारा योनि स्थान को अच्छी तरह दबाकर भीतर की तरफ खींचे। इस प्रकार अपान को ऊपर की तरफ उठाना योनि-बन्ध कहा जाता है। इस विधि से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध द्वारा एकता प्राप्त होती है और यह निःसन्देह योग सिद्ध कराने वाला है। अब विपरीत करणी मुद्रा को कहते हैं जो सर्व व्याधि विनाशिनी है ॥११६-१२२॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ।
आहारा बहवस्तस्य संपाद्याः साधकस्य च ॥१२३
अल्पाहारा यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।
अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥१२४
क्षणात्तु किंचिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने ।
वली च पलितं चैव षण्मासर्धान्न दृश्यते ॥१२५

यह मुद्रा अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि को बढ़ाती है, जिससे साधक अधिक आहार को पचा सकता है ॥१२३॥ यदि वह थोड़ा आहार करेगा तो अग्नि तुरन्त ही देह का नाश करने लगेगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षण भर के लिये नीचे शिर करके ऊपर को पैर करे ॥ १२४ ॥ इसके बादप्रतिदिन क्षण-क्षणभर अभ्यास बढ़ता रहे तो छः महीने में ही शरीर की झुर्रियों और केशों की श्वेतता मिट जायेगी ॥१२५॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।
वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥१२६
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥१२७
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥१२८

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रिया ॥१२९
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥१३०

जो नित्यप्रति एक पहर तक इसका अभ्यास करता है वह काल को भी जीत सकता है। अब वज्रोली मुद्रा को कहते हैं कि जो योगी उसे करता है वह शीघ्र ही सिद्ध बन सकता है। जो उसका अभ्यास कर लेता है तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का ज्ञाता हो जाता है और निश्चय ही आकाश मार्ग से चलने लगता है ॥ १२६—१२७ ॥ जो नित्यप्रति 'अमरी' का पान करता है और उसकी नासिका द्वारा नस्य लेता है और वज्रोली का साधन करता है तो वह 'अमरोली' का साधक कहा जाता है ॥१२८॥ तब वह राजयोग करने वाला हो जाता है, इसमें संशय नहीं। राज-योग के हो जाने से योगी को हठयोग की शारीरिक क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती ॥१२९॥ उसको निश्चित रूप से विवेक और वैराग्य प्राप्त हो जाता है। विष्णु भगवान् ही महायोगी, महाभूत स्वरूप और महातपस्वी हैं ॥ १३० ॥

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ॥१३१
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥१३२
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसार चक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥१३३
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान् समश्नुते ।
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः ॥१३४
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम् ॥१३५

तत्व-मार्ग पर चलने वाले को वह पुरुषोत्तम दीपक के समान स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। यह जीव नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ मनुष्य योनि में आता है। एक समय वह जिस स्तन को पीता है दूसरी अवस्था में वैसे ही स्तन को दबा कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। जिस योनि से जन्म लिया था वैसी ही योनियों में रमण करता है। एक जन्म में जो माता होती है वह अन्य जन्म में भार्या हो जाती है और जो भार्या होती है वह माता बन जाती है। जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र, पिता या माता बन जाती है। जो पिता होता है वह पुत्र बन जाता है और पुत्र, पिता के रूप में जन्म ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार यह संसार चक्र, कूप-चक्र (पानी खींचने की रहट) के समान है, जिसमें प्राणी विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है। तीन लोक हैं, तीन वेद हैं, तीन संध्या हैं, तीन स्वर हैं, तीन अग्नि हैं, तीन गुण हैं, तीन अक्षरों में सब कुछ स्थित है। इन तीन अक्षरों और आधे अक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए ।।१३१–१३५।।

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ।।१३६

तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम् ।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ।।१३७

ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ।
अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ।।१३८

मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ।।१३९

लभते योगमुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् ।
कूर्मः स्वपाणिपादादिशिरश्चात्मनि धारयेत् ।।१४०

एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः ।
निषिद्धे तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ् निःश्वासस्तथा ॥१४१
घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः ।
निषिद्धैर्नवभिर्द्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे ॥१४२
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवया ॥
इत्युपनिषत् ॥

सब कुछ उसी में पिरोया हुआ है, वही सत्य है, वही परम पद है। जिस प्रकार फूल में महक होती है और दूध में घी होता है, तिलों में तेल होता है, पत्थर में सोना होता है, उसी प्रकार वह भी सब में व्याप्त है। हृदय स्थान में जो कमल है उसका मुख नीचे की तरफ है और उसकी दण्डी ऊपर है नीचे बिन्दु है, उसी में मन स्थित है। 'अ'कार में रेचित किया हुआ कमल 'उ'कार में भेदा जाता है और 'म'कार में नाद को प्राप्त होता है। अर्ध मात्रा निश्चल, शुद्ध स्फटिक के सदृश्य निष्कल और पापनाशक है ॥१३६-१३९॥ इस प्रकार योगयुक्त हुआ पुरुष मुक्ति को प्राप्त करता है। जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ-पैरों, शिर को अपने भीतर कर लेता है, उसी प्रकार सब द्वारों से भर कर दबाया हुआ वायु नौ द्वारों के बन्द होने से ऊपर चला जाता है ॥ १४०-१४१ ॥ घड़ा के मध्य में रखा दीपक जिस प्रकार होता है उसी प्रकार, कुम्भक को जानो। इस योग-साधन में नौ द्वारों के रोके जाने पर निर्जन और निरुपद्रव स्थान में आत्मा मात्र ही शेष रहता है, ऐसा यह उपनिषद है ॥१४२॥

॥ योगतत्व उपनिषद समाप्त ॥

# सुबालोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा वशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

शान्ति पाठ— ॐ यह ब्रह्म पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है। इस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत को निकाल लें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है। ॐ शान्ति, शान्ति ॥

## प्रथम खण्ड

तदाहुः। किं तदासीत्? तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदिति ॥१॥

तस्मात्तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथ्वी ॥२॥

तदण्डं समभवत्तात् संवत्सरमात्रमुषित्वा द्विधाऽकरोदधस्तादभूमिमुपरिष्टादाकाशं मध्ये पुरुषो दिव्यः सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रबाहुरिति ॥३॥

सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत्। त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम् ॥४॥

तस्य ब्रह्मा बिभेति स ब्रह्माणमेव विवेश। स मानसान् सप्त पुत्रानसृजत्। ते ह विराजः सप्त मानसानसृजन्। ते ह प्रजापतयः ॥५॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च हृदयात् सर्वमिदं जायते ॥६

ॐ। सृष्टि से पहले क्या था ? इस विषय में ऋषियों ने प्रश्न किया, तब उनमें से मुख्य रैकव ऋषि से घोरांगिरष ऋषि ने कहा— "सृष्टि के पहले सत् नहीं था, असत् भी न था, और सदासद भी न था। इनमें से तमस ( अज्ञान ) उत्पन्न होता है। इस तमस से भूतादि—अहंकार की उत्पत्ति हुई। अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल में से पृथ्वी हुई। यही ब्रह्माण्ड रूप अण्डा हो गया। इसमें केवल एक वर्ष तक रह कर पुरुष ने उसके दो भाग कर दिये। नीचे का भाग भूमि बन गया और ऊपर का आकाश हो गया। बीच में दिव्य पुरुष हजार मस्तक वाला, हजार आँखों वाला, हजार पैरों वाला, हजार हाथों वाला रहा। उसने पहले भूतों की मृत्यु को बनाया। वह तीन अक्षर वाला, तीन मस्तक वाला, तीन पैर वाला और छोटा सा फरसा धारण किये हुए था। उसका नाम 'ब्रह्म' था। उसी ने ब्रह्मा में प्रवेश किया। उसने सात मानसिक पुत्र उत्पन्न किए। वे प्रजापति हुये ब्राह्मण विराट का मुख हुआ, क्षत्रित दोनों भुजाओं के रूप में हुए, वैश्य दोनों उरुओं के रूप में हुये और दोनों पैरों से शूद्र हुये। चन्द्रमा उसके मन से उत्पन्न हुआ और चक्षु में से सूर्य हुआ। कान में से वायु हुआ और हृदय में से प्राण हुआ। इस प्रकार यह सर्व जगत उत्पन्न होता है ॥१-६॥

॥ पहला खण्ड समाप्त ॥

## द्वितीया खण्ड

अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चास्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो ललाटात् क्रोधजो रुद्रो जायते ॥१॥

तस्यैतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि व्याख्यानान्युपव्याख्यानानि च सर्वाणि च भूतानि ॥२॥

हिरण्यज्योतिर्यस्मिन्नयमात्माऽधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा आत्मानं द्विधाऽकरोदर्धेन स्त्री अर्धेन पुरुषो देवो भूत्वा देवानसृजदृषिर्भूत्वा ऋषीन् यक्षराक्षसगन्धर्वान् ग्राम्यानारण्यांश्च पशूनसृजदितरा गौरितरोऽनड्वानितरा बडवेतरोऽश्व इतरा गर्दभीतरो गर्दभ इतरा विश्वंभरीतरो विश्वंभरः ॥३॥

सोऽन्ते वैश्वानरो भूत्वा सं दग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि लीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयत आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥४॥

( इस विराट के ) अपान में से भील, यक्ष, राक्षस और गन्धर्व हुये, हड्डियो में से पर्वत हुये, रोमों में से औषधियाँ और वनस्पतियाँ हुईं और ललाट में से क्रोध द्वारा रुद्र उत्पन्न हुआ। वह विराट पुरुष सब से महान् भूत रूप है। उसका जो श्वासोच्छ्वास है वही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष शास्त्र, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याख्यान, नाना व्याख्याएं और सब प्राणी हैं। वह सुवर्ण के

समान तेजस्वी है और उसी में यह आत्मा और समस्त लोक स्थित हैं। उसने अपने स्वरूप के दो विभाग किये, आधे से स्त्री और आधे से पुरुष हुआ। उसने देव होकर देवों को बनाया, ऋषि होकर ऋषियों को बनाया। इसी प्रकार यक्ष, राक्षस, गन्धर्व तथा बस्ती और जंगल में रहने वाले पशुओं को बनाया। उनमें कोई गाय, हुई, कोई बैल हुआ, कोई घोड़ी हुई, कोई घोड़ा हुआ, कोई गधी हुई, कोई गधा हुआ, कोई सब का पोषण करने वाली हुई, कोई सब का पोषण करने वाला हुआ। फिर अन्त में यह पुरुष अग्नि रूप होकर सबको जला डालता है। उस समय पृथ्वी जल में लय हो जाती है, जल तेज में लय हो जाता है, तेज वायु में लय होता है, वायु आकाश में लय हो जाती है, आकाश इन्द्रियों में लय हो जाता है, इन्द्रियां तन्मात्राओं में लय हो जाती हैं तन्मात्रा अहङ्कार में लय हो जाती है। अहंकार महत्तत्व में लय होता है, महत्तत्व प्रकृति में लय हो जाता है, प्रकृति 'अक्षर' में लय हो जाती है, अक्षर तमस् (अज्ञान) में लय हो जाता है और तमस् परमदेव परमात्मा में एक रूप हो जाता है। उसके पीछे सत् नहीं रहता, असत नहीं रहता, और सत्-असत् दोनों नहीं रहते। यही निर्वाण (मोक्ष) का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और ऐसी वेद की सीख है। १–४।

॥ दूसरा खण्ड समाप्त ॥

## तृतीया खण्ड

असद्वा इदमग्र आसीदजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमव्ययमहान्तमबृहन्तमजमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥१॥

अप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनाममगोत्रमशिरस्कमपाणिपादमस्निग्धमलोहितमप्रमेयमह्रस्वमदीर्घम-

स्थूलमतण्वनल्पमपारमनिर्देश्यमनपावृतमप्रकाश्यमसंवृतमनन्तरम-बाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥२॥

एतद्वै सत्येन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्रह्मचर्येण निर्वेदने-नानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतत्त्रयं वीक्षेत दमं दानं दयामिति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्मा-प्येति य एवं वेद ॥३॥

अथवा प्रथम सृष्टि के पूर्व यह जगत असत् था, उससे आत्मा का जन्म नहीं हुआ है, उत्पन्न नहीं हुई है, प्रतिष्ठा नहीं पाई है। वह आत्मा शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित, गंध रहित, निर्विकार है, न तो बड़ा, न बहुत विस्तार युक्त है, वह अजन्मा है। ऐसा जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करते। फिर यह आत्मा प्राण बिना मुख रहित, कान रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज रहित, चक्षु रहित, बिना काम का, बिना गोत्र का, बिना माथे का, बिना हाथ पैर का, बिना आकाश का, बिना रक्त का है। इसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता, यह न लम्बा है, न मोटा है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, इसका पार नहीं है, इसका बता सकना असंभव है, यह ढका हुआ नहीं है, इसके नियम में तर्क नहीं किया जा सकता, इसे प्रकाशित नही किया जा सकता, यह न संकीर्ण है, न भीतर का है, न बाहर का। वह कुछ खाता नहीं है और न कोई उसे खाता है। इसे तो सत्य, दान, तप, अनशन, ब्रह्मचर्य, अखण्ड वैराग्य, इन छः साधनों से ही जानना चाहिए। इसी प्रकार दम (इन्द्रिय निग्रह) दान और दया—इन तीनों की तरफ दृष्टि रखनी चाहिए। जो पुरुष ऐसा समझता है, उसका प्राण ऊंचा (अन्य गति) में नही जाता, वरन् इस आत्म-तत्व में ही लीन हो जाता है और वह ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।१-३।

॥ तीसरा खण्ड समाप्त ॥

## चतुर्थ खण्ड

हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पौण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥१॥

स यदा प्राणेन सह संयुज्यते तदा पश्यति नद्यो नगराणि बहूनि विविधानि च यदा व्यानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवांश्च ऋषींश्च तदाऽपानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यक्षराक्षस-गन्धर्वान् यदोदानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान् देवान् स्कन्दं जयन्तं चेति यदा समानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देव-लोकान् धनानि च यदा वैरम्भेण सह संयुज्यते यदा पश्यति दृष्टं चश्रुतं च भुक्तं चाभुक्तं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति ॥२॥

अथेमा दश दश नाड्यो भवन्ति तासामेकैकस्या द्वा-सप्ततिर्द्वासप्ततिः शाखानाडीसहस्राणि भवन्ति यस्मिन्नयमात्मा स्वपिति शब्दानां च करोत्यथ द्वितीये सं कोशे स्वपिति तदेवं च लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान् विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति । परितस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः ॥३॥

अथ यत्रैतद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तथा हिता नाम नाड्यो भवन्ति हृद्याकाशे परे कोशे दिव्योऽयमात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति न तत्र देवा न देवलोका यज्ञा न यज्ञा वा न माता न पिता न बन्धुर्न बान्धवो न स्तेनो न ब्रह्महा तेजस्कायममृतं सलिल एवेदं सलिलेवनं मग्नं भूयस्तेनैव मार्गेणा जाग्राय धावति सम्राडिति होवाच ॥४॥

हृदय के मध्य लाल मांस का पिण्ड है, उसी के मध्य में वह सूक्ष्म आत्म तत्व है। वह रात्रि में विकसित होने वाले कमल की तरह

श्वेत वर्ण का और अनेक प्रकार से विकास को प्राप्त हुआ है। हृदय के दश छिद्र हैं जिनमें प्राण रहते हैं। उपासना करने वाला जब प्राणों के साथ संयुक्त होता है, तब नदियों और बहुत से नगरों को देखता है, जब ध्यान के साथ संयुक्त होता है तब देवता और ऋषियों को देखता है, जब अपान के साथ संयुक्त होता है तब यक्ष, राक्षस तथा गन्धर्वों को देखता है, जब उदान के साथ संयुक्त होता है तब देवों को, देवताओं को, कार्तिक स्वामी और जयन्तदेव को देखता है, जब 'समान' के साथ संयुक्त होता है तब वह देवताओं और धन को देखता है, जब वैरभ के साथ संयुक्त होता है तब भूतकाल में देखता हुआ, खाया हुआ, नहीं खाया हुआ, सत् और असत् सब दृष्टिगोचर होता है।

अब इस हृदय की दश-दश नाड़ियां हैं, उन नाड़ियों में से प्रत्येक की ७२-७२ शाखायें हैं, इस प्रकार हजारों नाड़ियाँ होती हैं जिनमें आत्मा शयन करता है तथा शब्दों की क्रिया करता है। अब जो दूसरा कोश है, उसमें जब आत्मा शयन करता है तब इस लोक और परलोक को देखता है और सब शब्दों को जानता है, तब उसे 'संप्रसाद' कहा जाता है। प्राण शरीर की रक्षा करता है। यह जो नाड़ियाँ है वे भूरे, नीले, पीले, लाल और सफेद रक्त से भरी हैं।

इस शरीर में जो सूक्ष्म हृदय कमल है, वह रात्रि में विकसित होने वाले के समान श्वेत रङ्ग का है। उसका अनेक प्रकार से विकास हुआ है। जैसे बाल को हजारों हिस्सों में चीर दिया जाय वैसी सूक्ष्म 'हिता' नाम की नाड़ियाँ हैं, हृदयाकाश श्रेष्ठ कोश है। उसमें यह दिव्य आत्मा निवास करता है, जब वह निद्रित अवस्था में होता है, तो किसी प्रकार की कामना की इच्छा नहीं करता, किसी प्रकार का स्वप्न भी नहीं देखता। वहाँ देव नहीं हैं, देवताओं के लोक नहीं हैं, यज्ञ नहीं हैं, यज्ञ की क्रियाएं नहीं है। माता नहीं है, पिता

नहीं है, बन्धु नहीं हैं, बांधव नहीं है, चोर नहीं है और ब्रह्म हत्याकारी नहीं है। वह तेज रूप है, अमृत है । जल में यह जल रहता है। यह एक वन की तरह है, इस मार्ग से आत्मा जागृत अवस्था की तरफ दौड़ता है, ऐसा सम्राट (जनक) कहते थे ॥१-४॥

॥ चौथा खण्ड समाप्त ॥

## पञ्चम खण्ड

स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबन्धनं चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चक्षुषि यो द्रष्टव्ये य आदित्ये यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन् सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तयात्मानमुमासीताजरममृतमभयमशोक-मनन्तम् ॥१

श्रोतमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य श्रोत्रेयः श्रोतायितव्ये यो दिक्षु यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशेत य एतस्मिन् सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीता जरम मृतमभयम शोकमनन्तम् ॥२॥

नासाऽध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो नासायां घ्रातव्ये यः पृथिव्यां यो नाड्यां...... नन्तम् ॥३॥

जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो जिह्वायां यो रसयितव्ये यो वरुणे यो नाड्यां......नन्तम् ॥४॥

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्य मधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यस्त्वचि यः स्पर्शयितव्ये यो वायौ यो नाड्यांनन्तम् ।।५।।

आत्मा उस-उस स्थान में रहने वालों को स्थान देती है। नाड़ी उसका मूल स्थान है, चक्षु अध्यात्म है, देखा जाने वाला पदार्थ ( रूप ) अधिभूत है और सूर्य उसमें अधिदैवत है । उसका मूल स्थान नाड़ी है । चक्षु में, देखे जाने वाले पदार्थ में, सूर्य में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और सर्व शरीर में जो संचार करता है, वह आत्मा है, उसकी उपासना करनी चाहिए । वह वृद्धावस्था रहित, अमर, भय रहित, शोक रहित और अनन्त है ।।१।।

इसी प्रकार श्रोत्र ( इन्द्रिय ) अध्यात्म है । सुना जाने वाला शब्द अधिभत है और दिशाएं उसमें अधिभूत हैं । इन तीनों का भूल स्थान नाड़ी है । श्रोत में, सुन जाने वाले शब्द में, दिशाओं में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयकाश में, और समस्त शरीर के भीतर संचार करता है वह आत्मा है । इसकी उपासना करनी चाहिए । यह वृद्धावस्था रहित, अमर, भयरहित, शोकरहित तथा अनन्त है ।।२।। इसी प्रकार नासिक इन्द्रिय अध्यात्म है, सूंघा जाने वाला (गन्ध) अधिभूत है, पृथिवी उसमें अधिदैवत और नाड़ी उनका मूल स्थान है । जो नाक में, सूँघे जाने वाले गंध में, पृथिवी में, नाड़ी में ···अनंत है ।।३।। इसी प्रकार जीभ अध्यात्म है, स्वाद लेना (रस) अधिभूत है, वरुण उसमें अधिदैवत ( देव ) है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो जीभ में, स्वाद लेने के रस में, वरुण में और नाड़ी में·········अनंत है ।।४।। इसी प्रकार त्वचा इन्द्रिय अध्यात्म है, स्पर्श करना अधिभूत है, वायु उसमें अधिदैवत ( देव ) है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो त्वचा इन्द्रिय में, स्पर्श किये गये पदार्थ में वायु में, नाड़ी में ···अनंत है ।।५।।

मनोऽध्यात्मं मंतव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो मनसि यो मन्तव्ये यश्चन्द्रे यो नाड्यां……नन्तम् ।६।

बुद्धिध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धन यो बुद्धौ यो बोद्धव्ये यो ब्रह्माणि यो नाड्यां…… नन्तम् ॥७॥

अहंकारोध्यात्ममहंकर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं योऽहंकारे योऽहंकर्तव्ये यो रुद्रे यो नाड्यां… तन्तम् ॥८॥

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चित्तो यश्चेतयितव्ये यः क्षेत्रज्ञे यो नाड्यां……नन्तम् ॥९॥

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो वाचि यो वक्तव्ये योऽग्नौ यो नाड्यां…… नन्तम् ॥१०॥

इसी प्रकार मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है, चन्द्रमा उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो मन में, मन्तव्य में, चन्द्रमा में, नाड़ी में……अनन्त है । इसी प्रकार बुद्धि अध्यात्म है, जानने योग्य विषय अधिभूत है, ब्रह्मा उसमें अधिदैवत(देव)है और नाड़ी उसका स्थान है । इस प्रकार जो बुद्धि में, जानने योग्य विषय में, ब्रह्मा में, नाड़ी में……अनन्त है । इसी प्रकार अहंकार अध्यात्म है, अहंकार का विषय अधिभूत है, रुद्र उसमें अधिदैवत (देव) है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो अहंकार में, अहंकार के विषय में, रुद्र में, नाड़ी में……अनन्त है । इसी प्रकार चित्त आध्यात्म है, चिन्तन का विषय अधिभूत है, क्षेत्रज्ञ उसमें अधिदैवतहै, नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो चित्त में, चिन्तन के विषय में, क्षेत्रज्ञ में, नाड़ी में…… अनन्त है । इसी प्रकार वाणी अध्यात्म है, बोलना अधिभूत है, अग्नि

उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका स्थान है । जो वाणी में, बोलने के विषय में, अग्नि में, नाड़ी में ......अनन्त हैं ।९-१०।

हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो हस्ते य आदातव्ये य इन्द्रे यो नाड्यां...नन्तम् ।।११।।

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्त्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पादे यो गन्तव्ये यो विष्णौ यो नाड्या...नन्तम् ।।१२।।

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पायौ यो विसर्जयितव्ये यो मृत्यौ यो नाड्या नन्तम् ।।१३।।

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य उपस्थे य आनन्दयितव्ये यः प्रजापतौ यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन् सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ।।१४।।

एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य सर्वसौख्यैरुपास्यमानो न च सर्वसौख्यानुपास्यति वेदशास्त्रैरुपायमानो न च वेदशास्त्रानुपास्यति यस्मान्नामिदं सर्वं न च योऽन्नं भवत्यतः परं सर्वनयनप्रशास्ताऽन्नमयो भूतात्मा प्राणमल इन्द्रियात्मा मनोमयः संकल्पात्मा विज्ञानमयः कालात्माऽऽनन्दमयो लयात्मैकत्वं नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्यं नास्त्यमृतं कुतो नान्तः प्रज्ञो न वहिः प्रज्ञो नोभयतः प्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाप्रज्ञोऽपि नो विदितं वैद्यं नास्तीत्येतन्निर्वाणनुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।।१५।।

इसी प्रकार हाथ अध्यात्म है, लेना अधिभूत है, इन्द्र उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो हाथ में, लेने के विषय में, इंद्र में, नाड़ी में····· अनन्त है । इसी प्रकार पैर अध्यात्म है, जाने का विषय अधिभूत है, विष्णु उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका स्थान है । जो पैर में, जाने के विषय में, विष्णु में, नाड़ी में···· अनन्त है । इसी प्रकार गुदा अध्यात्म है, इस गुदा से विसर्जन करना अधिभूत है, मृत्यु उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो गुदा में, उससे विसर्जन योग्य में, मृत्यु में, नाड़ी······अनन्त है । इसी प्रकार जननेन्द्रिय अध्यात्म है, आनन्द का विषय अधिभूत है, प्रजापति उसमें अधिदैवत है और नाड़ी उसका मूल स्थान है । जो जननेन्द्रिय में, आनन्द के विषय में प्रजापति में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस समस्त शरीर में संचार करता है वह आत्मा है, उसकी उपासना करनी । वह वृद्धावस्था रहित, अमर, भय रहित, शोक रहित और अनन्त है । वह सर्वज्ञ है, सब का ईश्वर है, सब का अधिपति है, अन्तर्यामी है और सब का मूल उत्पत्ति स्थान है । समस्त सुख इसकी उपासना करते हैं पर यह समस्त सुखों की उपासना नहीं करता, वेद और शास्त्र इसकी उपासना करते हैं पर यह वेद और शास्त्र की उपासना नहीं करता । यह सब इसका अन्न है, पर यह किसी का अन्न नहीं है । इससे अधिक यह भी कहा जा सकता है कि वह आत्मा सबका नेत्र रूप है, सब पर आज्ञा चलाने वाला, अन्नमय हैं, यही भूतों का आत्मा है, प्राणमय है, इन्द्रियों का आत्मा है, मनोमय है, संकल्प रूप है. विज्ञानमय है, काल स्वरूप है, आनन्दमय है, लय स्वरूप है । उसमें एकत्व ( एकपना ) नहीं है तो द्वैत तो कहाँ से हो सकता है ? उसमें मरण धर्म नहीं तो अमृत कहाँ से हो ? इसके भीतर प्रज्ञा नहीं है, बाहर प्रज्ञा नहीं है. भीतर बाहर दोनों जगह प्रज्ञा नहीं है, यह अज्ञान से व्याप्त नहीं है, बहुत जानने वाला नहीं है, बहुत

न जानने वाला भी नहीं है, इसने कुछ भी नहीं जाना हुआ है और इसे कुछ जानना भी नहीं है। बस, यही मोक्ष के लिए उपदेश है। यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की सीख है ॥११-१५॥

॥ पाँचवाँ खण्ड समाप्त ॥

## षष्ठ खण्ड

नैवेह किंचनाग्र आसीदमूलमनाधारा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥१॥

चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहंकारश्चाहंकर्तव्यं च नारायणश्चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणः पादौ च गन्तव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायण उपस्थश्चानन्दयितव्यं च नारायणो धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः ॥२॥

आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनावृचो यजूंषि सामानि मन्त्राग्निराज्याहुति संभवो दिव्यो देव एको नारायणः ॥३॥

माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः ॥४॥

विरजा सुदर्शनाजितासोम्यामोघाकुमारामृतासत्यामध्यमानासीराशिशुरासुरासूर्या भास्वतीविज्ञेयानि नाड़ीनामानि दिव्यानि ॥५॥

गर्जति गायति वाति वर्षति वरुणोऽर्यमा चन्द्रमाः कालः कविर्धाता ब्रह्मा मघवा दिवसाश्चार्धदिवसाश्च कलाः कल्पाश्चोर्ध्वं चदिशश्च सर्वं नारायणः ॥६॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीवचक्षुराततम् ॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥
तदेतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानु-शासनम् ॥७॥

सृष्टि के पहले इस जगत में कुछ भी न था, बिना मूल का और बिना आधार का था। फिर जिसमें से यह प्रजा उत्पन्न हुई है, वही एक दिव्य नारायण है। यही चक्षु है और यही देखने का विषय है, यह नारायण ही का कान है और सुनने का विषय है, नारायण घ्राणेन्द्रिय है और सूँघने का विषय है, नारायण जीभ है और स्वाद लेने का विषय है, नारायण त्वचा है और स्पर्श करने का विषय है, नारायण मन है और मन का विषय है, नारायण बुद्धि है और उसका विषय है, नारायण अहंकार है और उसका विषय है, नारायण चित्त है और चिन्तन भी है, नारायण वाणी है और बोलने का विषय भी है, नारायण हाथ है और देने का विषय भी है, नारायण पैर है और उसका विषय गमन करना भी है, नारायण गुदा है और उसका विषय विसर्जन करना भी है, नारायण जननेन्द्रिय है और उसका विषय आनन्द है, नारायण धारणकर्त्ता है, विधाता है, कर्ता है, विशेष रचना करने वाला है और यही एक दिव्य देव है। आदित्य, रुद्र, वायु, वसु, अश्विनीकुमार, ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद, मन्त्र, अग्नि और घी की आहुति नारायण ही है। यही दिव्य देव उत्पत्ति रूप और संभव रूप

है। एक नारायण ही माता, पिता, भाई, निवास, शरण, मित्र और गति है। नारायण ही विराजिता, सुदर्शना, जिता, सौम्या, मोघा, कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नासीरा, शिशु, सूर्या, असुरा और भास्वती ऐसी दिव्य नाड़ियों के रूप में है। यह नारायण ही गर्जता है, गाता है, बहता है और बरसता है। वरुण, अर्यमा, चन्द्रमा, कलाएं, काल, धाता, ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, दिवस, अर्ध दिवस, कला, ऊपर का भाग और दिशा—सब नारायण ही है। जो कुछ इस वर्त्तमान काल में है, भूतकाल में हो चुका है और भविष्य में होगा, यह सब पुरुष (परमात्मा) ही है। यह अमृत्व का ईश्वर है और जो कुछ अन्न (आहार) द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। वह सब यही परमात्मा है। यह विष्णु का परमपद है इसको ज्ञानी सदा देखते रहते हैं, यह आकाश में फैले हुए चक्षु के समान है। क्रोध रहित और जागृत रहने वाले ब्राह्मण इसका साक्षात्कार करते हैं, यही विष्णु का परम पद है, यही मोक्ष का उपदेश है। यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की सीख है ॥७-८॥

॥ छठा खण्ड समाप्त ॥

## सप्तम खण्ड

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सचरन् यं पृथिवी न वेद यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन् यमापो न विदुः यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे सचरन् यं तेजो न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायु-मन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाश-मन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनो-ऽन्तरे संचरन् यं मनो न वेद यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे

संचरन् यं चित्तं न वेद यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संच-
रन् यमव्यक्त न वेद यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन्
यमक्षरं न वेद यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं
मृत्युर्न वेद स एष सर्वभूतान्यरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको
नारायणः ।।१

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददावपान्तरतमो ब्रह्मण ददौ
ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ घोराङ्गिरा रैक्वाददौ रैक्वोरामयददौ
रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येवं निर्माणनुशासनमिति वेदानु-
शासनमिति वेदानुशासनम् ।।२।।

जो शरीर के मध्य हृदय रूपी गुफा के भीतर रहता है वह आत्मा अजन्मा, एक और नित्य है। पृथिवी उसका शरीर है जो पृथ्वी के ऊपर संचार करता है, तो भी पृथ्वी उसको जानती नहीं। जल जिसका शरीर है, जल के भीतर जो संचार करता है, तो भी जल जिसे जानता नहीं। तेज जिसका शरीर है, तेज के भीतर जो संचार करता है, तो भी तेज जिसको जानता नहीं। वायु जिसका शरीर है वायु के भीतर जो संचार करता है, तो भी वायु जिसको नहीं जानता। आकाश जिसका शरीर है, आकाश के भीतरजो सञ्चार करता है, तो भी आकाश जिसको नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, मन के भीतर जो सञ्चार करता है, तो भी मन जिसको नहीं जानता। बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि के भीतर संचार करता है, तो भी बुद्धि जिसको नहीं जानती। अहंकार जिसका शरीर है, जो अहंकार के भीतर संचार करता है, तो भी अहंकार जिसको नहीं जानता। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त के भीतर संचार करता है, तो भी चित्त जिसे नहीं जानता। प्रकृति जिसका शरीर है, प्रकृति के भीतर जो सञ्चार करता है, तो भी प्रकृति जिसे जानती नहीं, अक्षर जिसका शरीर है, अक्षर के भीतर जो संचार करता है, तो भी अक्षर जिसे जानता नहीं। मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु के अन्दर सञ्चार करता

है, तो भी मृत्यु जिसे जानता नहीं । ऐसा जो है वही सर्व भूतों का अन्तरात्मा है । इसके पाप नष्ट हो गये हैं और वही एक दिव्य देव नारायण है । यह विद्या नारायण ने अवान्तर मन को दी थी, अवान्तर मन ने ब्रह्मा को दी थी, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दी थी, घोरांगिरस ने रैक्व को दी थी, रैक्व ने राम को दी थी और राम ने सब भूतों (प्राणियों) को दी है इस प्रकार यह मोक्ष का उपदेश रूप है, वेद की शिक्षा है और वेद की आज्ञा रूप है । ॥१-२॥

## अष्टम खण्ड

अन्तःशरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सोऽयमात्मा सर्वस्य मेदोयां क्लेदावकीर्णे शरीरमध्येऽत्यन्तोपहिते चित्रभित्तिप्रतीकाश गन्धर्वनगरोपमे कदलीगर्भवन्निःसारे जलबुद्बुदवच्चञ्चले निःसृतमात्मानमचिन्त्यरूपं दिव्यं देवमसङ्गं शुद्धं तेजस्कायमरूपं सर्वेश्वरमचित्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानन्दं त पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लयेन पश्यन्ति ॥१॥

सब के शरीर में हृदय रूपी गुफा के भीतर यह शुद्ध आत्मा रहता है शरीर तो यह मांस और रक्त से भरा हुआ, अत्यन्त नाशवान, चित्र युक्त दीवार की तरह, गन्धर्व नगर की तरह, केला के गर्भ की तरह निःसार और पानी के बुलबुले की तरह चञ्चल है । पर उससे भिन्न रहने वाला-आत्मा अचिन्त्य स्वरूप वाला, दिव्य प्रकाशवान् संग रहित, शुद्धि, तेज रूप शरीर वाला, रूप रहित, सब का ईश्वर, अचिन्त्य और शरीर रहित है । वह हृदय रूपी गुफा में रहने वाला अमर और देदीप्यमान है । ज्ञानी उसको आनन्द स्वरूप देखते हैं और उसमें लय हो जाने पर फिर उससे भिन्न और कुछ नहीं देखते ॥१॥

॥ आठवां खण्ड समाप्त ॥

## नवम खण्ड

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् कस्मिन् सर्वेऽस्तं गच्छन्तीति । तस्मै स होवाच । चक्षुरेवाप्येति यश्चक्षुरेवास्तमेति द्रष्टव्यमेवाप्येति यो द्रष्टव्यमेवास्तमेत्यादित्यमेवाप्येति य आदित्यमेवास्तमेति विराजामेवाप्येति यो विराजामेवास्तमेति प्राणमेवाप्येति यः प्राणमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥१॥

श्रोत्रमेवाप्येति यः श्रोत्रमेवास्तमेति श्रोतव्यमेवाप्येति यः श्रोतव्यमेवास्तमेति दिशमेवाप्येति यो दिशमेवास्तमेति सुदर्शनामेवाप्येति यः सुदर्शनामेवास्तमेत्यपानमेवाप्येति योऽपानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेति तदमृतमभयशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥२॥

नासामेवाप्येति यो नासामेवास्तमेति घ्रातव्यमेवाप्येति यो घ्रातव्यमेवास्तमेति पृथिवीमेवाप्येति यः पृथिवीमेवास्तमेति जितामेवाप्येति यो जितामेवास्तमेति व्यानमेवाप्येति यो व्यानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद···होवाच ॥३॥

जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति रसयितव्यमेवाप्येति यो रसयितव्यमेवास्तमेति वरुणमेवास्तमेति सौम्यामेवाप्येति यः सौम्यामेवास्तमेत्युदानमेवाप्येति य उदानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद······होवाच ॥४॥

त्वचमेवाप्येति यस्त्वचमेवास्तमेति स्पर्शयितव्यमेवाप्येति यः स्पर्शयितव्यमेवास्तमेति वायुमेवाप्येति यो वायुमेवास्तमेति

मोघामेवाप्येति यो मोघामेवास्मेति समानमेवाप्येति यः समानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद होवाच ॥५

वाचमेवाप्येति यो वाचमेवास्तमेति वक्तव्यमेवाप्येति यो वक्तव्यमेवास्तमेत्यग्निमेवाप्येति योऽग्निमेवास्मेति कुमारामेवाप्येति यः कुमारामवास्तमेति वैरम्भमेवाप्येति यो वैरम्भमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद···होवाच ॥६॥

हस्तमेवाप्येति यो हस्तमेवास्तमेत्यादातव्यमेवाप्येति य आदातव्यमेवास्तमेतीन्द्रमेवाप्येतिय इन्द्रमेवास्तमेत्यमृतामेवाप्येति योऽमृतामेवास्मेति मुख्यमेवाप्येति यो मुख्यमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद···हावाच ॥७॥

पादमेवाप्येति यः पादमेवास्तमेति गन्तव्यमेवाप्येति यो गन्तव्यमेवास्तमेतिविष्णुमेवाप्येतियो विष्णुमेवास्तमेति सत्यामेवाप्येति यः सत्यामेवास्तमेत्यन्तर्यामवाप्येति तोऽन्तर्याममेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद···होवाच ॥८॥

पायुमेवाप्येति यः पायुमेवास्तमेति विसर्जयितव्यमेवाप्येति यो विसर्जयितव्यमेवास्तमेति मृत्युमेवाप्येति यो मृत्युमेवास्तमेति मध्यमामेवाप्येति यो मध्मामेवास्तमेति प्रभञ्जनमेवाप्येति यः प्रभञ्जनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद होवाच ॥९॥

उपस्थमेवाप्येति य उपस्थमेवास्तमेत्यानन्दयितव्यमेवाप्येति य आनन्दयितव्यमेवास्तमेति प्रजापतिमेवाप्येति यः प्रजापतिमेवास्तमेति नासीरामेवाप्येति यो नासीरामेवास्तमेति कूर्मिरमेवाप्येति यः कूर्मिरमेवस्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद····होवाच ॥१०॥

फिर रैक्व ने घोरांगिरस से पूछा—"हे भगवन् ! सब पदार्थ किस वस्तु में अस्त होते हैं ॥१॥ तब घोरांगिरस ने रैक्व से कहा कि जो पदार्थ चक्षु द्वारा प्राप्त होते हैं (दिखाई पड़ते हैं) वे चक्षु में ही अस्त होते हैं। यह चक्षु दर्शनीय पदार्थ के प्रति प्राप्त होता है, इसलिये वह

दर्शनीय पदार्थ में ही अस्त होता है। यह दर्शनीय पदार्थ सूर्य के प्रति प्राप्त होता है इसलिए वह सूर्य में ही अस्त होता है, वह सूर्य विराट के प्रति प्राप्त होता है, इसलिए वह विराट में ही अस्त होता है, यह प्राण के प्रति प्राप्त होता है, इसलिए वह प्राण में ही अस्त होता है, यह प्राण विज्ञान के प्रति प्राप्त होता है, इसलिए वह विज्ञान में ही अस्त होता है, यह विज्ञान आनन्द के प्रति प्राप्त होता है, इसलिए वह आनन्द में ही अस्त होता है, और आनन्द तुरीय को प्राप्त होता है, इस लिए वह अमर, अभय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय स्वरूप को ही पाता है। इसी प्रकार जो श्रोत्र को पाता है, वह श्रोत्र में ही अस्त होता है, यह श्रोत्र सुनने के विषय को पाता है, इस लिये सुनने के विषय में ही अस्त होता है, यह सुनने का विषय दिशाओं को पाता है इस लिये वह दिशाओं में ही अस्त होता है, यह दिशाएँ सुदर्शना को पाती हैं, इस लिये वे सुदर्शना में ही अस्त होती हैं, यह सुदर्शना अपान में पाती हैं, इस लिये यह अपान में ही अस्त होती है, यह अपान विज्ञान के प्रति जाता है, इसलिये वह विज्ञान में ही अस्त होता है, यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिए वह अमर, निर्भय शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही पाता है। ऐसा कहकर उन्होंने फिर कहा कि जो पदार्थ नाक को पाता है वह नाक में ही अस्त हो जाता है, नाक सूँघे जाने वाले पदार्थ के प्रति जाती है, इस लिये वह सूँघने के पदार्थ में ही अस्त होती है, यह सूँघने का पदार्थ पृथ्वी के प्रति जाता है, इसलिये वह पृथ्वी में ही अस्त होता है, यह पृथ्वी जिता नाड़ी के प्रति जातो है इसलिये वह जिता में ही अस्त होती है, यह जिता ब्यान के प्रति जाती है, इसलिये वह ब्यान में ही अस्त होती है, यह ब्यान विज्ञान के प्रति जाता है, इस लिये वह विज्ञान में ही अस्त होता है, और यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिये वह अमर, निर्भय, शोक रहित अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही पाता है। यही स्थिति जिह्वा, त्वचा और वाणी की भी है

॥ १-६ ॥ ऐसा कहकर उन्होंने फिर कहा कि जो हाथ को प्राप्त करता वह हाथ में ही अस्त होता है, यह हाथ लेने के पदार्थ के प्रति जाता है, इस लिये वह लेने के पदार्थ में ही अस्त होता है, यह लेने का पदार्थ इन्द्र के प्रति जाता है, इस लिए वह इन्द्र में ही अस्त होता है, यह इन्द्र अमृता नाड़ी के प्रति जाता है, इस लिये वह अमृता में ही अस्त होता है, यह अमृता मुख्य के प्रति जाती है, इसलिए वह मुख्य में ही अस्त होती है, यह मुख्य विज्ञान के प्रति जाती है, इस लिये उसका विज्ञान में ही अस्त होता है, और यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिये वह अमर, निर्भय, शोक रहित अनन्त और बीज रहित तुरीय पन को ही प्राप्त करता है। ऐसा बतलाकर फिर उन्होंने कहा—जो पैर के प्रति जाता है, वह पैर में ही लय होता है, यह पैर गन्तव्य स्थान की ओर जाता है इस लिये वह गन्तव्य स्थान में लय पाता है, यह गन्तव्य स्थान विष्णु की तरफ जाता है, इसलिए वह विष्णु में ही लय होता है, यह विष्णु सत्या नाड़ी की तरफ जाता है, इस लिये वह सत्या नाड़ी में ही लय होता है, यह सत्या अन्तर्याम की तरफ जाती है, इसलिये वह अन्तर्याम में ही लय होती है, यह अन्तर्याम विज्ञान की तरफ जाता है, इस लिए वह विज्ञान म हा लय पाता है, और वह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इस लिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को पाती है। ऐसा कह कर फिर उन्होंने कहा—जो गुदा को पाता है वह गुदा ही में लय प्राप्त करता है, यह गुदा विसर्जन योग्य मलत्याग को पाती है इस लिये यह तजने योग्य को ही प्राप्त होता है, यह मलत्याग मृत्यु को पाता है, इस लिये मृत्यु में ही अस्त होता है, यह मृत्यु मध्यमा नारी को पाता है, इसलिए वह मध्यमा में ही अस्त होता है, यह मध्यमा प्रभञ्जन वायु को पाता है, इसलिये वह प्रभंजन वायु में ही अस्त होती है, यह प्रभञ्जन विज्ञान को पाता है, इसलिये उसका अस्त विज्ञान में ही होता है, और वह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इसलिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनंत

और बीज रहित तुरीयपन को प्राप्त होता है। ऐसा कहकर फिर उन्होंने कहा—जो उपस्थ को पाता है, वह उपस्थ में ही लय होता है, यह उपस्थ आनन्दरूप विषय को ही पाता है, इसलिये वह आनन्द में ही लय होता है, यह आनन्द प्रजापति के प्रति जाता है, इस लिए प्रजापति में ही लय होता है, यह प्रजापति नासीरा नाड़ी की तरफ जाता है, इसलिए यह नासीरा में ही लय होता है, यह नासीरा कुमारा नाड़ी की तरफ जाती है, इस लिये वह कुमारा में ही लय होती है, यह कुमारा विज्ञान की तरफ जाती है, इसलिए उसका लय विज्ञान में ही होता है, और यह विज्ञान तुरीय को ही पाता है, इसलिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही प्राप्त करता है ॥७-१०॥

मन एवाप्येति यो मन एवास्तमेति मन्तव्यमेवाप्येति यो मन्तव्यमेवास्तमेति चन्द्र मेवाप्येति यश्चन्द्रमेवास्तमेति शिशुमवाप्येति यः शिशुमेवास्तमति श्येनमेवाप्येति यः श्येनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद''''होवाच ॥११॥

बुद्धिमेवाप्येति यो बुद्धिमेवास्तमेति बौद्धव्यमेवाप्येति यो बौद्धव्यमेवास्तमेति ब्राह्मणमेवाप्येति यो ब्रह्माणमेवास्तमेति सूर्यामेवाप्येति यः सूर्यामेवास्तमेति कृष्णमेवाप्येति यः कृष्णमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद''''होवाच ॥१२॥

अहंकारमेवाप्येति योऽहंकारमेवास्तमेत्यहंकर्तव्यमेवाप्येति योऽहंकर्तव्यमेवास्तमेति रुद्रमेवाप्येति यो रुद्रमेवास्तमेत्यसुरामेवाप्येति योऽसुरामेवास्तमेति श्वेतमेवाप्येति यः श्वेतमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद''''होवाच ॥१३॥

चित्तमेवाप्येति यश्चित्तमेवास्तमेति चेतयितव्यमेवाप्येति यश्चेतयितव्यमेवास्तमेति क्षेत्रज्ञमेवाप्येति य क्षेत्रज्ञमेवास्तमेति भास्वतीमेवाप्येति यो भास्वतीमेवास्तमेति नागमेवाप्यति यो

नागमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्येति तद···होवाच ॥१४॥

यह एवं निर्बीजं वेद निर्बीज एव स भवति न जायते न म्रियते न मुह्यते न भिद्यते न दह्यते न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मेत्याचक्षते ॥१५॥

नैवमात्मा प्रवचनशतेनापि लभ्यते न बहुश्रुतेन न बुद्धिज्ञानाश्रितेन न मेधया न वेदैर्न यज्ञैर्न तपोभिरुग्रैर्न सांख्यैन योगैर्नाश्रमैर्नान्ययैरात्मानमुपलभन्ते प्रवचनेन प्रशंसया व्युत्थानेन तमेतं ब्राह्मणाः शुश्रुनांसोऽनूचाना उपलभन्ते शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्तेवात्मानं पश्यति सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद ॥१६॥

ऐसा कहकर फिर उन्होंने कहा—जो मन को पाता है वह मन में ही लय होता है, यह मन विचारणीय विषय को पाता है इसलिये वह विचारणीय में लय होता हैं यह विचारणीय चन्द्रमा की तरफ जाता है, इसलिए वह चन्द्रमा में ही लय होता है, यह चन्द्र शिशु नाड़ी की तरफ जाता है, इसलिये वह शिशु में ही लय प्राप्त करता है, यह शिशु श्येन की तरफ जाती है, इसलिये वह श्येन में ही लय होती है, यह श्येन विज्ञान की तरफ जाता है, इसलिए वह विज्ञान में ही लय प्राप्त करता है, और यह विज्ञान तुरीय के प्रति जाता है, इसलिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को प्राप्त होता है ।

ऐसा कह कर फिर उन्होंने कहा—जो बुद्धि को पाता है, वह बुद्धि में लय होता है, यह बुद्धि जानने योग्य विषय की तरफ जाती है, इसलिए वह जानने के विषय में ही लय प्राप्त करती है, यह जानने का

विषय ब्रह्म की तरफ जाता है, इसलिए वह ब्रह्मा में अस्त प्राप्त करता है, यह ब्रह्मा सूर्यानाड़ी को प्राप्त होता है, इसलिये उसका लक्ष्य सूर्या में ही होता है, वह सूर्या कृष्ण को पाती है, इसलिये वह कृष्ण में ही लय होती है, यह कृष्ण विज्ञान को पाता है, इसलिये उसका लय विज्ञान में ही होता है, और यह विज्ञान तुरीय को पाता है, इसलिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय को ही प्राप्त करता है। ऐसा कहकर फिर उन्होंने कहा—जो अहंकार को पाता है, वह अहंकार में ही लय होता है, यह अहंकार कर्तव्य को पाता है. इसलिए वह कर्तव्य में ही लय होता है, यह कर्तव्य रुद्र को पाता है, इस लिए उसका लय रुद्र में ही होता है, यह रुद्र असुरा नाड़ी को पाता है, इस लिए उसका लय असुरा में ही होता है, यह असुरा श्वेत को पाती है, इसलिए उसका लय श्वेत में ही होता है, यह श्वेत विज्ञान को पाती है, इसलिए उसका लय विज्ञान में ही होता है, वह विज्ञान तुरीव को पाता हे, इसलिए वह अमर, निर्भय शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय को ही प्राप्त करता है। ऐसा कह कर फिर उन्होंने कहा --जो चित्त को पाता है, वह चित्त में ही लय होता है, यह चित्त चिन्तन योग्य को पाता है, इसलिए वह चिन्तन करने योग्य में ही लय होता है, यह चिन्तन करने योग्य क्षेत्रज्ञ को पाता है, इसलिए उसका लय क्षेत्रज्ञ में ही होता है, यह क्षेत्रज्ञ भास्वती नाड़ी में जाता है, इसलिए वह भास्वती में लय होता है, यह भास्वती नाग वायु में जाती है. इसलिए वह नाग वायु में ही अस्त होती है, यह नाग विज्ञान की तरफ जाता है, इसलिए वह विज्ञान में लय होता है, यह विज्ञान आनन्द को पाता है, इसलिए वह आनन्द में ही लय होता है, और वह आनन्द, अमर, अभय शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीय में जाता है, इसलिए वह अमर, निर्भय, शोक रहित, अनन्त और बीज रहित तुरीयपन को ही प्राप्त होता है। ऐसा उन्होंने कहा। इस प्रकार जो निर्बीज तत्व को जानता है, वह निर्बीज होता

है। वह जन्म नहीं लेता, मरता भी नहीं, मोह नहीं पाता भेदा नहीं जाता, जलता नहीं, छेदा नहीं जाता, काँपता नहीं और न कुपित होता है। यह तो सबको जलाने वाली आत्मा ही है, ऐसा शास्त्रवेत्ता कहते हैं।११-१५। यह आत्मा सैकड़ों प्रवचन करने से भी नहीं मिलता, बहुत से शास्त्रों से भी प्राप्त नहीं होता, बुद्धि और ज्ञान का आश्रय लेने से भी नहीं मिलता। उसी प्रकार मेधा से, वेदों से यज्ञों से उग्र तपश्चर्या से, सांख्य ज्ञान से, योग से, आश्रमों से अथवा किसी अन्य प्रयत्न से वह प्राप्त नहीं होता। जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष प्रवचन द्वारा, प्रशंसा द्वारा और समाधि में से बाहर आकर आत्मा में श्रवण करते और व्याख्यान करते हैं, वे ही उसे पाते हैं। इसलिए शम गुण, दमगुण उपरति और तितिक्षा में स्थिर होकर समाधिनिष्ठ हुआ पुरुष आत्मा को आत्मा में ही देखता। जो पुरुष इसे जानता है वह सब का हो जाता है।१६।

॥ नौवाँ खण्ड समाप्त ॥

## दशम खण्ड

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् कस्मिन् सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति रसातललोकेष्विति होवाच कस्मिन् रसातललोका ओताश्च प्रोताश्चेति भूर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् भूर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति भुवर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् भूवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति सुवर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् सुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति महर्लोकेष्विति होवाच कस्मिन् महर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति जनोलोकेष्विति होवाच कस्मिन् जनोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति तपोलोकेष्विति होवाच कस्मिस्तपोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सत्यलोकेष्विति होवाच कस्मिन् सत्यलोका ओताश्च

प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेष्विति होवाच कस्मिन् प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेष्विति होवाच कस्मिन् ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताश्च प्रोताश्चेति स होवाच ॥१॥

एवमेतात् लोकानात्मनि प्रतिष्ठातान् वेदात्मैव सभवतीत्ये तन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥२॥

फिर रैक्व ने घोरांगिरस से पूछा--"हे भगवन् ! कौनसा पदार्थ सब पदार्थों में रहा है ?" तब उन्होंने कहा कि रसातल के लोकों में सब कुछ रहता है। "यह रसातल का लोक किसमें ओत-प्रोत है ?" उन्होंने कहा "भूलोक में।" "यह भूलोक किसमें ओत-प्रोत है ?" उन्होंने उत्तर दिया "भुवर्लोक में।" यह भुवर्लोक किसमें ओत-प्रोत है !" "महर्लोक में" उन्होंने कहा। "यह महर्लोक किसमें ओत-प्रोत है ?" जन लोक में" ऐसा उन्होंने कहा। "यह जन लोक किसमें ओत-प्रोत है ?" "तपोलोक में" ऐसा उन्होंने कहा "यह तपोलोक किसमें ओत-प्रोत है ?" "सत्य लोक में" उन्होंने कहा। "यह सत्य लोक किसमें ओत-प्रोत है ?" "प्रजापति लोक में" उन्होंने कहा। "यह प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है ?" "ब्रह्मलोक में" ऐसा उन्होंने कहा। "यह ब्रह्म लोक किसमें ओत-प्रोत है ?" सब लोक आत्म रूप ब्रह्म में माला के दानों की तरह ओत-प्रोत हैं" ऐसा उन्होंने कहा। जो मनुष्य इन लोकों की आत्मा में ही रहता है, वह आत्मा ही बन सकता है। इस प्रकार यह मोक्ष विषय का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की आज्ञा है।

॥ दसवां खण्ड समाप्त ॥

———

## एकादशः खण्ड

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन् स केन कतरद्वाव स्थानमुत्सृज्याहक्रामतीति तस्मै स होवाच हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं तस्य मध्ये समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाडयश्चतस्रो भवन्तितत्ररमारऽमेच्छाऽपुनर्भवेति- तत्र रमा पुण्येन पुण्य लोकं नयत्‌रमा पापेनपापमिच्छया यत् स्मरति तदभिसपद्यतेअपुनर्भवा (व) याकोशभिनत्तिकोशंभित्त्वाशीर्ष- कपालं भिनित्ति शीर्षकपालं भित्त्वा पृथिवी भिनित्त पृथिवीं भित्त्वाऽपो भिनित्त्यापोभित्त्वा तेजो भिनित्ति तेजो भित्त्वा वायुं भिनित्तवायुं भित्त्वाऽऽकाशंभिनत्त्याकाशभित्त्वामनोभिनित्तिमनो- भित्त्वाभूतादि भिनत्ति भूतादि भित्त्वा महान्तं भिनत्ति महान्तं भित्त्वाऽव्यक्तं भिनत्यव्यक्तं भित्त्वाऽक्षरं भिनत्त्यक्षरंभित्त्वा मृत्यु भिनत्ति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदस- दित्येतन्निर्वाणनुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।१।

फिर रैक्व ने उनसे पूछा—"यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से बाहर निकलता है, तब किस मार्ग से किस स्थान को छोड़कर बाहर जाता है ?" यह सुन कर घोरांगिरस ने कहा कि 'हृदय के मध्य लाल मांस का पिंड है। उसमें चन्द्र से विकसित होने वाले कमल के सदृश्य श्वेत एक अत्यन्त सूक्ष्म कमल है। उसका अनेक प्रकार से विकास हुआ है। उसके मध्य में समुद्र है, इस समुद्र के मध्य में कोश (कली) हैं। उसमें चार नाड़ियाँ हैं—रमा, अरमा, इच्छा, अपुनर्भवा। इनमें से रमा पुण्य द्वारा पुण्य लोक में ले जाती है, अरमा पाप द्वारा पाप लोक में ले जाती है, इच्छा नाड़ी से जिसका स्मरण किया जाता है उसे पाया जाता है, और अपुनर्भवा द्वारा इस कोश को खोला जाता है, कोश को खोल कर माथे की खोपड़ी को खोला जाता है, माथे की

खोपड़ी को खोल कर पृथ्वी को भेदता है, पृथ्वी को भेद कर जल को भेदता है, जल को भेदकर तेज को,तेज को भेदकर वायु को भेदता है, वायु को भेदकर आकाश को भेदता है, आकाश को भेद कर मन को भेदता है, मन को भेदकर अहंकार को भेदता है, अहंकार को भेद कर महत्तत्व को भेदता है। महत्तत्व को भेदकर प्रकृति को भेदता है, प्रकृति को भेदकर अक्षर को भेदता है, अक्षर को भेदकर मृत्यु को भेदता है, और वह मृत्यु परमदेव परमात्मा में ही एक रूप होती है। इसके पश्चात् सत् नहीं रहता, असत् नहीं रहता, सदासत् नहीं रहता। ऐसा यह मोक्ष का उपदेश है। यह वेद की शिक्षा है, यह वेद की आज्ञा है।

॥ ग्यारहवां खण्ड समाप्त ॥

## द्वादशः खण्ड

नारायणाद्वा अन्न मागतमपक्वं ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः पक्वमादित्ये पुनःपक्वक्रव्यादि पुनः पक्वं जालकिलक्लिन्न पर्युषितं पूतमन्नमयाचितमसंक्लृप्तमश्नीयान्न कंचन याचेत ॥१॥

ॐ नारायण से अन्न आया है। वह ब्रह्मलोक में पका है, फिर महा संवर्तक में पका है, फिर सूर्य में पका और फिर क्रव्याद में पका है। इस अन्न को संन्यासी जल में भिगोकर वासी तथा पवित्र करके खाय, वह मांगा हुआ और अपने लिये तैयार किया हुआ भी न होना चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को किसी से अन्न माँगना नहीं चाहिए।

॥ बारहवाँ खण्ड समाप्त ॥

---

## त्रयोदश खण्ड

बाल्येन तिष्ठासेद्बालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनेन पाण्डित्येन निरवधिकारतयोपलभ्यते कैवल्यमुक्तं निगमनं प्रजापतिरुवाच महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत कुचेलोऽससाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामा निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे मृत्यौ रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेतोत्पलमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कुम्पेयेत सत्येन तिष्ठासेत् सत्योऽमात्मा ॥१॥

सर्वेषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापा हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दानामाकाशं हृदयं सर्वेषामेव गतीनामव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्त्वानां मृत्युर्हृदयं मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येयन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥२॥

( ज्ञानी को ) बाल्यावस्था में रहने की इच्छा करना, बालक जैसे स्वभाव का होना, संग रहित और निर्दोष रहना। मौन तथा पाण्डित्य प्राप्त करना, कोई विशेष अवधि करने वाले के ढंग पर न चलना। यह अन्तिम कैवल्य स्थिति कही गई है। प्रजापति ने कहा है कि महान पद को जानने के पश्चात् पेड़ के नीचे रहना चिथड़ा धारण करना, किसी की सहायता न लेना और अकेले समाधि में रहना। ऐसा पुरुष आत्मा की ही कामना वाला, पूर्ण काम और निष्काम होता है। उसकी सर्व कामनाएँ जीर्ण हो जाती हैं। वह हाथी, सिंह, डाँस, मच्छर, न्योला, सर्प, राक्षस या गन्धर्व में मृत्यु का रूप जान कर किसी से नहीं डरता, पेड़ की तरह रहने की इच्छा करता है, कोई काट डाले

तो भी क्रोध नहीं करता, काँपता नहीं, कमल जैसा निर्लेप रहना चाहता है, छेदा जाय तो भी गुस्सा न करे, विचलित न हो, आकाश जैसा रहना चाहता है, छिन्न-भिन्न कर दिया जाय तो भी क्रोध न करे, काँपे नहीं, सत्य के साथ रहना चाहता है। यह आत्मा ही सत्य है। सब गन्धों का हृदय पृथ्वी है, सब रसों का हृदय जल है, सब रूपों का हृदय तेज है, सब स्पर्शों का हृदय वायु है, सब शब्दों का हृदय आकाश है, सब गतियों का हृदय प्रकृति है, सब सत्त्वों (प्राणियों) का हृदय मृत्यु है और वह मृत्यु ही परमदेव परमात्मा में एक रूप बनता हैं। इसके पश्चात् न सत् है, न असत् और न सदासत्। इस प्रकार यह मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की आज्ञा है।१-२।

॥ तेरहवाँ खण्ड समाप्त ॥

## चतुर्दश खण्ड

पृथिवी वा अन्नमापोऽन्नादा आपो वा अन्नं ज्योतिरन्नादं ज्योतिर्वा अन्नं वायुरन्नादो वायुर्वा अन्नमाकाशोऽनाद आकाशो वा अन्नमिन्द्रियाण्यन्नादन्नीन्द्रियाणि वा अन्न मनोऽन्नादं मनो वा अन्नं बुद्धिरन्नादा बुद्धिर्वा अन्नमव्यक्तमन्नादमव्यक्तं वा अन्नमक्षरमन्नादमक्षर वा अन्नं मृत्युरन्नादो मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानेशासन-मिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥१॥

ॐ। पृथ्वी अन्न खाने वाली है, जल अन्न है और तेज 'अग्नि' अन्न खाने वाली है, तेज अन्न है और वायु अन्न खाने वाली है, वायु अन्न है और आकाश अन्न खाने वाला है, आकाश अन्न है और इन्द्रियाँ अन्न खाने वाली हैं, इन्द्रियाँ अन्न हैं और मन अन्न खाने वाला है, मन अन्न है और बुद्धि अन्न खाने वाली है, बुद्धि अन्न है और प्रकृति अन्न खाने वाली है, प्रकृति अन्न है और अक्षर अन्न खाने वाला है, अक्षर अन्न है और मृत्यु अन्न खाने वाली है। यह मृत्यु ही परमदेव परमात्मा

में एक रूप हो जाती है। फिर सत् नहीं है, असत् नहीं है और साक्षात् भी नहीं है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है और यही वेद की आज्ञा है।

॥ चौदहवाँ खण्ड समाप्त ॥

## पञ्चदश: खण्ड

अथ हैनं रैक्वं पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन् स केन कतरद्वाव स्थानं दहतीति तस्मै स होवाच योऽय विज्ञानघन उत्क्रामन् प्राणं दहत्यपानं व्यानमुदानं समानं वैरम्भं मुख्यमन्तर्यामं प्रभ ़नं कुमारं श्येनं श्वेतं कृष्णं नागं दहति पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं दहति जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं च तुरीयं च महतीं च लोकं परं च लोकं दहति लोकालोकं दहति धर्माधर्मं दहत्यभास्करममर्यादं निरालोकमत: परं दहति महान्तं दहत्यव्यक्तं दहत्यक्षरं दहति मृत्युं दहति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥१॥

फिर रैक्व ने घोरांगिरस से पूछा कि "हे भगवन् ! यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से निकलता है, तब किसके द्वारा किस स्थान को जलाता है ? यह सुन कर उसने कहा—"यह विज्ञानघन आत्मा जब बाहर निकलता है, तब प्रथम प्राण को, अपान को, व्यान को, उदान को, समान को, वैरंभ को, मुख्य को, अन्तर्याम को, प्रभजन को, कुमार को, श्येन को, श्वेत को, कृष्ण को और नाग को जलाता है। फिर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को जलाता है, फिर जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, बड़ों को लोक और परलोक को जलाता है, फिर लोक और अलोक को जलाता है, धर्म तथा अधर्म को जलाता है, फिर बिना सूर्य के, बिना मर्यादा के तथा बिना प्रकाश के स्थानों को जलाता है। उसके पश्चात् महत्तत्व को जलाता है, प्रकृति को

जलाता है, अक्षर को जलाता है, मृत्यु को जलाता है। मृत्यु ही परमदेव परमात्मा में एक रूप हो जाता है उसके पीछे न सत् है, न असत् और न सत्-असत्। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेद की आज्ञा है।१।

॥ पन्द्रहवाँ खण्ड समाप्त ॥

## षोडश: खण्ड

सौबालबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सररात्रोषिताय नापरिज्ञातकुलशीलाय दातव्य नैव च प्रवक्तव्या।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

इत्यतेन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥१॥

सौबाल जिसका बीज हो ऐसा यह ब्रह्म का उपनिषद् उसे नहीं देना चाहिए जो अत्यन्त शान्त न हो, जो पुत्र न हो, शिष्य न हो और एक वर्ष तक पास न रहा हो। ऐसे अनजान कुलशील वाले को भी नहीं देना और न सुनना चाहिए, क्योंकि जिसकी परमात्मा के ऊपर और परमात्मा के समान ही गुरु के ऊपर परम भक्ति हो उसी के लिए ये अर्थ कहे गये हैं और ऐसे महात्मा को ही यह प्रकाशित करते हैं। ऐसा यह मोक्ष का उपदेश है, वेद की शिक्षा है और वेद आज्ञा भी है।२।

॥ सोलहवाँ खण्ड समाप्त ॥

॥ सुबालोपनिषद् समाप्त ॥

———

# मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शान्ति पाठ - ॐ वह ब्रह्म पूर्ण है, यह जगत पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है । इस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत को पृथक् करदें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

## प्रथमं ब्राह्मणम्

याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम । तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति ।।

स होवाच नारायणः । ज्ञान सहितयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ।।

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रश्चैते यमाः ।।

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखायतवस्तनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ।।

सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासनियमो भवति ।। पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुष्षष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः ।। विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ।। विषयव्यावर्तपूर्वकं चैतन्ये चेतस्स्थापनं धारणं भवति ।। सर्वशरीरेषु चेतन्यैकतानता ध्यानम् ।। ध्यानविस्मृतिः समाधिः ।। एवं सूक्ष्माङ्गानि । य एवं वेद स मुक्तिभाग्भवति ।।१।।

महामुनि याज्ञवल्क्य सूर्यलोक में गये, तथा उन्होंने सूर्य देवता को नमस्कार करके पूछा—'हे भगवान् ! सूर्यदेव ! आप आत्मतत्व का उपदेश करो।' इस पर सूर्यनारायण ने कहा—"ज्ञानयुक्त यमादि को अष्टाङ्गयोग कहते हैं। शीत, उष्णता, आहार और निद्रा पर विजय, सदैव शान्ति निश्चलता और इन्द्रियों पर नियन्त्रण—ये यम हैं। गुरुभक्ति सत्य मार्ग पर प्रीति, अपने आप जो कुछ मिल जाय उस पर सन्तोष, अनासक्ति, एकान्तवास, मन पर अंकुश, फल की इच्छा का अभाव और वैराग्य—ये नियम हैं। सुखपूर्वक लम्बे समय तक एक ही स्थिति में बैठना और चिथड़ा वस्त्र धारण करना आसन कहलाता है। सोलह मात्रा का पूरक, चौंसठ मात्रा का कुम्भक और बत्तीस मात्रा का रेचक, यह प्राणायाम है। इन्द्रियों के विषयों में से मन को पीछे खींचना-यह प्रत्याहार है। विषयों में से खींचे हुए मन को चैतन्य में स्थिर करना, धारणा है। सब शरीरों में एकमात्र चैतन्य ही है, ऐसी स्थिरता—यही ध्यान है और ध्यान को भी भूल जाय तो यह समाधि है। इस प्रकार ये सूक्ष्म अङ्ग हैं, जो इनको जानता है वह मुक्ति को पाने वाला होता है।१।

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिश्वासभयनिद्राः ॥ तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम् ॥

निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं ततुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत् ॥ भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं तारकं ब्रह्म ॥

तदाप्त्युपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥

मूलाधारादा ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तटित्कोटिसमा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः।

तद्दर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः ।। तर्जन्यग्रोन्मीलित कर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते । तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति । एवं हृदयेऽपि ।।

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशगादशांगुलीभिः क्रमान्नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोयेतंव्योमत्वं पश्यति स तु योगी ।। चलदृष्टया व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्टयग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते । तद्दृष्टि स्थिरा भवति ।। शीर्षोपरि द्वादशांगुलिमानज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ।।

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्र वह्निज्वालावली-वत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति ।। तदाकाराकारी भवति ।। अभ्या-सान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति । विस्फुरत्तारत्तारकाका-रगाढतमोपमं पराकाशं भवति । कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति । सर्वात्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति । कोटिसूर्यप्रकाशसंकाश सूर्याकाशं भवति ।। एवमभ्यासात्तन्मयो भवति । य एव वेद ।।२।।

काम, क्रोध, प्रवास, भय और निद्रा—ये शरीर के पाँच दोष हैं । संकल्परहितपना, क्षमा, अल्पाहार, निर्भयता और तत्वचिन्तन—ये उपर्युक्त दोषों को दूर करने के उपाय हैं । जिसमें निद्रा तथा भय सर्प रूप हैं, हिंसा तरगें हैं, तृष्णा-रूपी भंवर है और स्त्री-रूपी कीचड़ है । ऐसे संसार-सागर से तरने के लिए सूक्ष्म मार्ग का आश्रय लेकर तथा सत्वादि गुणों को उलाँघ कर तारक ब्रह्म का ध्यान करना । दोनों भौहों के मध्य में तारक ब्रह्म रहता है,अभ्यास द्वारा उसको देखना।

इसके उपाय रूप में तीन लक्ष्यों को देखना चाहिए । मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सुषुम्णा नाम की सूर्य के समान नाड़ी हैं । मृणाल के तन्तु जैसी सूक्ष्म कुण्डलिनी है, उसमें तमोगुण दूर होता है ।

उसके दर्शन से सर्व पाप जाते रहते हैं। तर्जनी अंगुलियों के अग्रभाग से कानों को बन्द किया जाता है, तब उनके दोनों छेदों में फुत्कार का शब्द होता है। उसमें जब मन को स्थिर किया जाता है तब नेत्रों के मध्य नीली ज्योति दिखलाई देती है। इसी प्रकार हृदय में भी दिखलाई पड़ती है। बाहर का लक्ष्य यह है कि नाक से चार, छः, आठ, दश और बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीला, काला, लाल, पीला और दो रंगों का मिश्रण ऐसा प्रकाशयुक्त आकाश दिखलाई देने से योगी हो जाता है। चञ्चल दृष्टि से आकाश के भाग को देखते हुये पुरुष की दृष्टि के सम्मुख तेज की किरणें दिखलाई पड़ती हैं, उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है। मस्तक के ऊपर जब बारह अंगुल लम्बा प्रकाश दिखलाई देता है तो अमरत्व प्राप्त होता है। मध्य लक्ष यह है कि प्रातः काल में सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि की ज्वाला जैसा और उससे रहित अन्तरिक्ष जैसा दिखाई देता है फिर उसके जैसे आकार वाला आकार हो जाता है। अभ्यास से निर्विकार गुण रहित आकाश रूप हो जाता है। प्रकाशयुक्त तारा के जैसा और अत्यन्त गाढ़ अन्धकार की उपमा वाला 'पराकाश' होता है, प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रकाशमान 'महाकाश' होता है, सबसे उत्कृष्ट, परम अद्वितीय स्वरूप में प्रकाशमान 'तत्वाकाश' होता है और करोड़ों सूर्य के समान प्रकाशमान 'सूर्याकाश' होता है। जो इनको जानता है वह अभ्यास द्वारा तन्मय होता है।२।

तद्योगं च द्विधा विद्धि पर्वोत्तर विधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ॥

तारकं द्विविधम्। मूर्तितारकममूर्तितारकमिति। यदिन्द्रियांन्तं तन्मूर्तितारकम्। यत्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तितारमिति ॥

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तर दृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति ॥

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः। एतत्पूर्वतारकम् ॥

उत्तरं त्वमनस्कम् । तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते । तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः ॥

लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्या महाविद्या भवति। तदज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजन मोक्षफलदम् ॥

अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिस्वरूपं भवति महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम् ॥३॥

पूर्व तथा उत्तर ऐसे विभागों से इस योग के दो प्रकार हैं। पूर्व विभाग तारक ब्रह्म है और उत्तर विभाग अमनस्क है। तारक ब्रह्म दो प्रकार का है—मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियों तक का है, वह मूर्ति तारक है, और जो दोनों भौंहों से आगे है, वह अमूर्ति तारक है। इन दोनों का मन के साथ अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि मनयुक्त अन्तर्दृष्टि तारक ब्रह्म को प्रकट करने में समर्थ होती है। तत्पश्चात् दोनों भौंहों के बीच छिद्र में तेज का आविर्भाव होता है। यह पूर्व विभाग रूप तारक है,पर उत्तर विभाग तो मनरहित होता है। तालु के मूल के ऊपरी भाग में महाज्योति होती है। उसका दर्शन होने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्निमेष स्थिर हो जाती है, तब वह शाम्भवी मुद्रा होती है। यह सर्व तन्त्रों में रखी गुप्त महाविद्या है। उसके ज्ञान से संसार दूर हो जाता है। उसका पूजन मोक्ष रूप फल को प्रदान करता है। अन्तर्लक्ष्य जल के समान ज्योति रूप है। महर्षि ही उसे जान सकते हैं। भीतर की और बाहर की इन्द्रियों से वह अदृश्य होता है ॥३॥

सहस्रारे जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यम् । बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे। शीर्षान्तर्गतमण्डलध्यग पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठ प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित्। अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके ॥

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तल्लभ्यं शुद्धात्मदृष्टया वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥

जीवं पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्वं परित्यज्य षड्विंशकः परमात्माऽहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति ॥ एवमन्तलक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्डमण्डलो भवति ॥४॥

सहस्रार दल में जल जैसे ज्योति अन्तर्लक्ष्य है, बुद्धि रूपी गुफा में सर्वांग सुन्दर पुरुष का स्वरूप अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा अन्य लोग मानते हैं। मस्तक के अन्दर रहने वाले मंडल के बीच पाँच मुख वाले, पार्वती सहित शंकर अति शान्त अन्तर्लक्ष्य हैं, ऐसा कितने ही मानते हैं । केवल अँगूठा के समान पुरुष अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा कितने ही कहते हैं । ऊपर बतलाये गये सभी भेद आत्मा रूप ही हैं इस लक्ष्य को जो शुद्ध आत्मा-दृष्टि द्वारा देखता है वही ब्रह्मनिष्ठ होता है। जीवनं पच्चीसवाँ तत्व है वह अपने कल्पित चौबीस तत्वों को छोड़ कर अब ऐसा निश्चय करता है कि 'मैं छब्बीसवाँ परमात्मा हूं" तब वह जीवनमुक्त हो जाता है । इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य के दर्शन से जीवनमुक्त दशा प्राप्त होती है, तब स्वयम् ही अन्तर्लक्ष्य रूप होकर परमाकाश रूप अखण्ड मण्डल वाला हो जाता है ॥४॥

॥ प्रथम ब्राह्मण समाप्त ॥

## द्वितीय ब्राह्मणम्

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ । भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् । मया तन्न ज्ञातम् । तद्ब्रूहि मह्यम् ॥ तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तटित्कूटाभं तद्वच्चतुः पीठम् । तन्मध्ये तत्वप्रकाशो भवति । सोऽतिगूढ अव्यक्तश्च ॥

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम् ॥

तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलाऽतीतमखण्डमण्डलम् । सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ।।

आदावग्निमण्डलम् । तदुपरि सूर्यमण्डलम् । तन्मध्ये सुधा चन्द्रमण्डलम् । तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम् । तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम् । तदेव शाम्भवीलक्षणम् ।।

तद्दर्शने त्रयो दृष्टय अमा प्रतिपत्पूर्णिमा चेति । निमीलितदर्शनममादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति । तासु पूर्णिमाऽभ्यासः कर्तव्यः ।। तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । तदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासादखण्डमण्डलाकारज्योतिर्दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति ।।

एव सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शांभवी भवति । तामेव खेचरीमाहुः ।।

तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम् । ततो बुद्धिस्थैर्यम् । तच्चिह्नानि । आदौ तारकवत्दृश्यते । ततो वज्रदर्पणम् । ततः परिपूर्णचन्द्रमण्डलम् । ततो रत्नप्रभामण्डलम् । ततो मध्याह्नार्कमण्डलम् । ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमात्दृश्यते ।। १ ।।

फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्य मंडल में रहने वाले पुरुष से पूछा—"हे भगवान अन्तर्लक्ष्य आदि अनेक प्रकार से आपने कहा, उसे मैं नहीं समझ सका, अतएव आप समझाकर कहो ।" तब उस नारायण ने कहा—,,पाँच भूतों का जो कारण है वह बिजलियों के ढेर के समान है । उसमें एक चतु:पीठ हैं, उसके मध्य में तत्त्व का प्रकाश होता है। वह अति गूढ़ और अस्पष्ट है । ज्ञानरूपी नौका में चढ़ा हुआ मनुष्य उसे जान सकता है, वही बाहर का और भीतर का लक्ष्य है,। उसके मध्य में जगत लीन है, वह नाद-विन्दु कला से परे अखण्ड मंडल है, वह सगुण निर्गुण स्वरूप है, उसको जानने वाला मुक्त होता है । प्रथम अग्नि मंडल है, उसके ऊपर सूर्य-मंडल है, उसके मध्य अमृतरूप चन्द्र-मण्डल

है। उसके मध्य में अखंड ब्रह्म तेजोमण्डल है । वह बिजली की रेखा के समान श्वेत और प्रकाशमान है, वही शांभवी मुद्रा का लक्षण है। उसका दर्शन होने पर तीन मूर्ति रूप दृष्टि में आते हैं—अमावस्या रूप: प्रतिपदारूप और पूर्णिमारूप । निमीलित ( बन्द ) दृष्टि अमावस रूप है, अर्ध निमीलित प्रतिपदा रूप है और सम्पूर्ण खुली हुई पूर्णिमा रूप दृष्टि है । दृष्टियों में से पूर्णिमा रूप दृष्टि का अभ्यास करना चाहिए उसका लक्ष्य नासाग्र है । जब तालु के मूल में गाढ़ अन्धकार दिखाई देता है, तब उसके अभ्यास से अखण्ड मडलाकार ज्योति के दर्शन होते हैं। वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है ऐसे सहजानन्द में जब मन लीन हो जाता है तब प्राणी को शान्ति मिलती है उसे खेचरी मुद्रा कहते हैं। उसके अभ्यास से मन स्थिर होता है उसके पीछे वायु स्थिर होती है उसके चिह्न उस प्रकार होते हैं—प्रथम तारा जैसे दिखाई देता है: फिर हीरा का दर्पण जैसा दिखाई देता हैं उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल जान पड़ता है उसके पश्चात् नवों रत्नों की प्रभा का मण्डल दिखाई देता है फिर दोपहर के सूर्य का मण्डल दिखाई देता है और फिर क्रम से अग्नि की शिखा का मण्डल दिखाई पड़ता है ॥ १ ॥

तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रविन्दुनादकला-नक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसुवर्ण नवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणव-रूपम् ।

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा घृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढ-भावनया द्विकरांगुलिभि षण्मुखीकरणेन प्राणवादिध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति ।

तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्त-व्यम्। एवं विदश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः ॥

शब्दकाललयेन दिवरात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञाने-नोन्मन्यवस्थावमेन ब्रह्मैक्यं भवति। उन्मया अमनस्कं भवति।

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम् । सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम् निश्चयज्ञानमासनम् · उन्मनीभावः पाद्यम् । सदाऽमनस्कमर्घ्यम् सदा दीप्तिरपारामृतवृत्तिः स्नानम् सर्वत्र भावना गन्धः । दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः । चिदाप्तिः पुष्पम् । चिदग्निस्वरूपं धूपः । चिदादित्यस्वरूपं दीपः । परिपूर्णचन्द्रामृतस्यैककीरणं नैवेद्यम् । निश्चलत्वं प्रदक्षिणम् । सोऽहम्भावो नमस्कारः । मौनं स्तुतिः सर्वसंतोषो विसर्जनानिति । व एवं वेद ॥२॥

उस समय वह पश्चिम की ओर का प्रकाश स्फटिक जैसा धूम्रवर्ण का बिन्दु, नाद, कला, नक्षत्र खद्योत दीपक और नेत्र जैसे नवरत्न आदि की प्रभा दिखाई देती हैं । वह प्रणव का स्वरूप है । प्राण तथा अपान को एक करके कुम्भक धारण करे और फिर नाक के अग्रभाग पर दृष्टि रख कर दृढ़ भावना से दोनों हाथों की अँगुलियों द्वारा षण्मुखी मुद्रा करके प्रणव का नाद श्रवण करें फिर मन उसमें लीन हो जाता है और उसमें कर्मों का लोप नहीं होता । सूर्य का उदय तथा अस्त होते समय कर्म किये जाते हैं पर चैतन्य रूप सूर्य का तो उदय और अस्त है ही नहीं इससे उसका दर्शन करने वाले को कोई कर्म करने को नहीं रहते । शब्द और काल का लय होने से मनुष्य दिवस और रात से रहित हो जाता है, फिर सब का परिपूर्ण ज्ञान होने से उन्मन अवस्था प्राप्त होती है । इसके फलस्वरूप ब्रह्म से एकता होती है उन्मन अवस्था से मनरहित स्थिति होती है । निश्चिन्त अवस्था उसका ध्यान है, सर्व कर्म दूर करना उसका आह्वान है, निश्चय ज्ञान ही आसन है, मन रहित होना ही पाद्य है, नित्य मन-रहित स्थिर ही अर्घ्य है, नित्य का प्रकाश और अपार अमृत रूप वृत्ति ही स्नान है, ब्रह्म के समान भावना ही नन्दन है दर्शन के स्वरूप में स्थित अक्षत है । चैतन्य की प्राप्ति ही पुष्प है । चैतन्यरूप अग्नि का स्वरूप ही धूप है चैतन्यरूप सूर्य का स्वरूप दीप है: परिपूर्ण चन्द्रमा

के अमृत रस से एकात्मा करना ही नैवेद्य है, निश्चलता ही प्रदक्षिणा है, 'मैं वही हूँ' यह भावना ही नमस्कार है, मौन ही स्तुति है और सर्व प्रकार का संतोष ही विसर्जन है जो इसे जानता है वह ब्रह्म रूप हो जाता है ॥२॥

एवं त्रिपुट्या निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थित-दीपवदचलसंपूर्णभावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ॥

जाग्रन्निद्राऽन्तपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति ।

सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वान्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च । समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः संपद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ।

ततो भेदाभावात् कदाचिद्बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात् । सकृद्विभातसदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदेव भवति ।

यस्य संकल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता । तस्मा-द्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति । पुनःपुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहा-पोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवति । य एवं वेद ॥३॥

इस प्रकार जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप त्रिपुटी दूर हो जाती है, तब तरंगरहित समुद्र के समान और वायु रहित स्थान में रखे दीपक के समान अचल, सम्पूर्ण, भाव-अभाव से रहित केवल ज्योति रूप हो जाता है। जाग्रत और निद्रा में भी ज्ञान रहने से ब्रह्मवेत्ता होता है। सुषुप्ति और समाधि में यद्यपि मन का लय समान ही होता है परन्तु इन दोनों में बड़ा अन्तर है। सुषुप्ति में मन अज्ञान में लय पाता है इससे मुक्ति का कारण नहीं होता, पर समाधि में तमोगुण के विकार नष्ट हो जाने से तदाकार और अखंडाकार बनी हुई वृत्ति स्वरूप साक्षी चैतन्य में प्रपञ्च का लय होता है क्योंकि प्रपंच मन द्वारा ही कल्पित

होता है। फिर कोई भेद शेष नहीं रहता। यही कारण है कि अनेक बार समाधि में से जाग्रत होने पर भी प्रपंच मिथ्या जान पड़ता है। एक ही बार सदानन्द का अनुभव हो जाने से वही एक पात्र मुख्य विषय हो जाता है और तभी मनुष्य ब्रह्मवेत्ता बन जाता है। जिसके संकल्प का नाश हो गया है, उसी के हाथ में मुक्ति है, इसलिए भाव और अभाव का त्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्ति प्राप्त होती है। बारम्बार प्रत्येक अवस्था में ज्ञान तथा ज्ञेय का, ध्यान तथा ध्येय का लक्ष्य तथा अलक्ष्य का, दृश्य तथा अदृश्य का और उहापोह आदि का त्याग करने से मनुष्य जीवन्मुक्त होता है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्म को पाता है ॥३॥

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयातीताः।

जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः पापफलनरकादि माऽस्तु शुभकर्मस्वर्गफलमस्त्विति काङ्क्षते।

एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्माऽलं संसारबन्धन-मलमिति विमुक्त्यभिमुखनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति।

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचरन् साधनचतुष्टयसंपन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्ता-मात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य सुषुप्त्यवस्थायामुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिलब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कंचित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वास-हमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परं तु न हि मदन्यदिति जातिविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्वि-जृम्भितभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारित परब्रह्माकारितमुक्ति मार्गमारूढः परिपक्वो भवति।

संकल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनोमोक्षाय भवति। तद्वांश्चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्व-

जगदात्मत्वेन पश्यंस्त्यक्ताहंकारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन् कृतकृत्यो भवति ।।४।।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ऐसी पाँच अवस्थाएँ हैं। इनमें से जाग्रत अवस्था में रहने वाला जीव प्रवृत्ति मार्ग में आसक्त होता है, पाप के फल स्वरूप नर्क आदि को पाता है। शुभ कर्म का फल स्वर्ग मुझे प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करता है वही जीव तब वैराग्य को स्वीकार करता है, तो कर्म के फल रूप जन्म और संसार रूप बंधन से ही छुटकारा पाने की वृत्ति वाला होकर मुक्ति की तरफ अभिमुख होता है और निवृत्ति मार्ग पर चलने लगता है। फिर वही जीव संसार से तरने के लिए गुरु का आश्रय लेकर कामादि का त्याग करता है और वेदोक्त कर्म करता हुआ चार साधनों से युक्त होता है। इससे हृदय कमल के मध्य में एक मात्र भगवान् सत्तरूप अन्तर्लक्ष्य को प्राप्त करता है और सुषुप्ति अवस्था से रहित ब्रह्मानन्द का स्मरण को प्राप्त करता है और सुषुप्ति अवस्था से रहित ब्रह्मानन्द का स्मरण करके ऐसा विचारता है कि 'मैं एक और अद्वितीय ही हूं, पर कुछ समय से अज्ञान वृत्ति के कारण आत्म स्वरूप को भूल गया था और जाग्रत अवस्था की वासना के फलस्वरूप स्वप्न में 'मैं तेजस हूं' ऐसा मानता था, वैसे ही जाग्रत और स्वप्न, इन दोनों अवस्थाओं के दूर हो जाने पर ( सुषुप्ति में ) मैं प्राज्ञ हूँ ऐसा मानने लगता था। पर अब 'मैं एक ही हूँ' ऐसा अनुभव करता हूं। 'वे तो स्थान भेद से जुदी-जुदी अवस्थाएँ थी, पर मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है।' इस प्रकार का विवेक होने से और 'मैं शुद्ध, अद्वैत ब्रह्म ही' ऐसा अनुभव होने से भेद भाव की सर्व वासनाएं दूर हो जाती हैं, अपने भीतर प्रकाशमान तेजोमंडल के ध्यान से तदाकार बन कर, परब्रह्म के स्वरूप को पाकर मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ होता है और परिपक्व बनता है। संकल्प आदि को प्राप्त हुआ मन बन्धन का कारण होता है और संकल्प से रहित मन मोक्ष का कारण होता है। (जीवितावस्था में) मोक्ष प्राप्त करने वाला

आत्मा चक्षु आदि बाह्य प्रपंचों से विगत हो जाता है उसमें प्रपंच की गन्ध भी नहीं रहती, सब जगत को वह आत्मा रूप देखता है, अहंकार को छोड़कर 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा चिन्तन करता है और 'यह सब आत्मा ही है, ऐसी भावना करता है और कृतकृत्य हो जाता है ॥४॥

सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्म भूतो योगी भवति । तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति । सर्वलोकस्तुति पात्रं सर्वलोकसंचारशील: परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाडचसहजामनस्कयोगनिद्राऽखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ।

तच्चानन्दसमुद्र मग्ना योगिनो भवन्ति । तदपेक्षया इन्द्रादयं स्वल्पानन्दा । एवं प्राप्तानन्द: परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥५॥

वह योगी सब प्रकार से परिपूर्ण होकर तुरीयातीत ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार लोग उसकी स्तुति करते हैं । इस प्रकार वह सब लोगों की स्तुति का पात्र बनता है, सर्व देशों में संचार करने के स्वभाव वाला होता है और परमात्मा रूप आकाश में विन्दु स्थापना करके शुद्ध, अद्वैत, जड़ता रहित और सहज मन रहित स्थिति रूप योग निद्रा में अखंड आनन्द पद का अनुसरण करके जीवन्मुक्त होता है । ऐसे योगी आनन्द समुन्द्र में मग्न रहते हैं । इन्द्र आदि को भी उनकी अपेक्षा बहुत कम आनन्द होता है । इस प्रकार आनन्द प्राप्त करने वाला परमयोगी होता हैं, ऐसा यह रहस्य है ॥५॥

॥दूसरा ब्राह्मण समाप्त ॥

## तृतीयं ब्रह्मणम्

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्लक्षणं ब्रूहीति तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत् । इदममनस्कमतिरहस्यम् । यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शांभवीमुद्राऽन्वितम् ।

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्यलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं पराकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परं ब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेवं निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशादमनस्कसुखब्रह्मानन्दससुद्रे मनः प्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परं ब्रह्म प्राप्नोति ।

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिश्वासोच्छवासाभावान्नष्टःद्वन्द्वः सदाऽचञ्चलगात्रः परमशान्ति स्वीकृत्य मनः प्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति ।

पयः स्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशं भवति तदेवामनस्कम् । तदनु नित्यशुद्धः परमात्माऽहमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ।

परिपूर्ण परमाकाशमानमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गः अनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलोऽखण्डानंदनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ।

त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः ।
इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ।

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्य-मंडल में रहने वाले पुरुष से पूछा कि हे स्वामिन् ! अमनस्क स्थिति का लक्षण तुमने कहा पर मैं उसे भूल गया हूँ अतः फिर उसे कहो ।' 'बहुत अच्छा' यह कह कर वह मण्डल-पुरुष बोला, 'इस अमनस्क स्थिति का स्वरूप अति रहस्यमय है, उसके ज्ञान से मनुष्य कृतार्थ होता है। वह सदैव शांभवीमुद्रायुक्त होता है । परमात्म दृष्टि से उसको अनुभव कराने वाले लक्ष्यों को देखने के पश्चात् सब का ईश्वर, प्रमाणों द्वारा न जान सकने योग्य, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा-विष्णु रुद्र आदि के लक्षण रूप और

सब के कारण रूप परब्रह्म को अपनी ही आत्मा में देखने वाला पुरुष, हृदय रूपी गुफा में ही उनके बिहार को निश्चयपूर्वक जान कर भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से रहित होकर मन की उन्मत अवस्था का अनुभव करता है, फिर सब इन्द्रियों का नाश होने के लिये अमनस्क स्थिति के सुख रूप ब्रह्मानन्द के समुद्र में उसके मन का प्रवाह बहता है और उसके योगरूप से वायुरहित प्रदेश में रखे दीपक के समान अचल परब्रह्म को वह पाता है। फिर सूखे वृक्ष के समान मूर्च्छा और निद्रामय स्थिति में श्वासोच्छ्वास भी नहीं रहता, जिससे सुख-दुखादि द्वन्द्वों का नाश हो जाता है और सदा स्थिर गात्र वाला हो जाता है। इस प्रकार परम शान्ति को स्वीकार करके मन प्रचार शून्य बनता है और परमात्मा में लीन हो जाता है। जिस प्रकार दूध निकाल लेने के पश्चात् वह गाय के थनों में नहीं रहता, उसी प्रकार सब इन्द्रियों का नाश होने पर मन का भी नाश हो जाता है और वही अमनस्क स्थिति है। इसके पश्चात् 'नित्य शुद्ध परमात्मा मैं ही हूं' इस प्रकार 'तत्वमसि' महावाक्य का उपदेश प्राप्त होने से 'तू ही मैं हूं और मैं ही तू है' ऐसा तारक ब्रह्मरूप योग-मार्ग का आश्रय लेकर कृतार्थ होता है ॥१॥

जिसका मन परिपूर्ण पराकाश में मग्न हुआ हो, वह उन्मनी अवस्था को पाता है, उसका समस्त इन्द्रिय-वर्ग छूट जाता है, अनेक जन्मों से प्राप्त हुए पुण्य के समूह के द्वारा उसका कैवल्य रूप फल पक जाता है और अखंड आनन्द का अनुभव प्राप्त हो जाने से सर्व क्लेश रूपी पाप दूर हो जाते हैं। फिर 'मैं ब्रह्म हूं' इस भाव से वह कृतकृत्य हो जाता है। 'परमात्मा पूर्ण है इसलिए तू ही मैं हूं' एक प्रकार उच्चारण करते हुए गुरु ने शिष्य को भेंट कर इस ज्ञान का उपदेश दिया था ॥२॥

॥ तीसरा ब्राह्मण समाप्त ॥

— — –

## चतुर्थ ब्राह्मणम्

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति । स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति । सबाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम् । सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम् । अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम् । एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनात्तद्रूपो भवति ।

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥१

फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्य-मंडल में रहने वाले पुरुष से पूछा कि 'पंच आकाश का लक्षण तुम विस्तारपूर्वक कहो।' तब उसने बताया—'आकाश' पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश ऐसे पाँच आकाश हैं। उनमें बाहर और भीतर का अन्धकारमय आकाश है, बाहर से भीतर प्रलयकाल की अग्नि के समान पराकाश है। बाहर और भीतर अपरिमित कांति जैसा तत्व वाला महाकाश है। बाहर और भीतर सूर्य जैसा सूर्याकाश है और जिसका वर्णन न किया जा सके ऐसा ज्योतिरूप, सर्व व्यापक तथा निरतिशय आनन्दरूप लक्षण वाला परमाकाश है। इस प्रकार जिस-जिस लक्ष्य के दर्शन से मनुष्य का वैसा ही रूप होता है। नवचक्र, छः आधार, तीन लक्ष्य और पाँच आकाश को जो सम्यक् प्रकार से नहीं जानता, वह नाम का ही योगी है ॥१॥

॥ चौथा ब्राह्मण समाप्त ॥

## पञ्चम ब्राह्मणम्

सविषयं मनो वन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति । अतः सव चित्तगोचरम् । तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्थापरिपक्वं लययोग्यं भवति । तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत् । मनोलय-कारणमहमेव ।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात् । एतवेध परमतत्त्वम् । स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत् । एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्यनिद्राद्दग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ।

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति । तद्दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति । तत्सेवापरोऽज्ञोपि मुक्तो भवति । तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति । तन्मातृपितृजायाऽपत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत् ।।१।।

विषय वाला मन बन्धन के लिये होता है और विषय रहित मन मुक्ति के लिये होता है। इसलिये समस्त जगत चित्त का ही विषय है। वही चित्त यदि निराश्रय होवे, तो मन उन्मत अवस्था से परिपक्व होकर लय होने योग्य बनेगा। इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना, क्योंकि मन के लय का कारण 'मैं' ही है। अनहद शब्द और शब्द के भीतर जो ध्वनि होती है, उसके भीतर ज्योति रहती है। इस ज्योति के भीतर मन रहता है, यही मन तीनों जगतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार रूप कर्म करता है। यह मन जिसमें विलय होता है वही विष्णु का परम पद है। इसमें मन का लय होने से

शुद्ध अद्वैत तत्व की सिद्धि होती है। क्योंकि उसके पश्चात् कोई भेद नहीं रहता । यही परम तत्व है इसका जानने वाला पुरुष बालक उन्मत अथवा पिशाच के समान जड़ वृत्ति से संसार में आचरण करता है। इस प्रकार की अमनस्क स्थिति का अभ्यास होने से नित्य की तृप्ति होती मलमूत्र अल्प हो जाते हैं आहार भी थोड़ा ही लेना पड़ता है। शरीर मजबूत बनता है जड़ता नहीं रहती निद्रा और नेत्र वायु की गति (पलक झपना) नहीं रहती और ब्रह्म दर्शन के लिये सुखमय स्वरूप सिद्धि का ज्ञान हो जाता है । इस तरह बहुत समय तक समाधि का अभ्यास करने से उत्पन्न ब्रह्मरूप अमृत के पीने में परायण रहता हुआ संन्यासी परमहंस अवधूत बन जाता है उसके दर्शन से समस्त जगत पवित्र होता है। उसकी सेवा में तत्पर रहने वाला अज्ञानी भी मुक्त हो जाता और वह अपने कुल की एक सौ एक पीड़ियों को तार देता है । उसके माता-पिता स्त्री-संतान आदि भी मुक्त होते हैं। ऐसा यह उपनिषद है।

॥ पाँचवाँ ब्राह्मण समाप्त ॥

॥ मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् समाप्त ॥

# कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम् । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

ॐ । मेरी वाणी मन स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो। हे स्वयं प्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ हे वाणी और मन तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूं । मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा मेरी रक्षा करो वक्ता की रक्षा करो मेरी रक्षा करो वक्ता की रक्षा करो वक्ता की रक्षा करो । ॐ शांति, शांति, शांति ॥

## प्रथमोध्यायः

चित्रो ह वै गार्ग्याणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे । स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय यजयेति । तं हासीनं पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ते । संवृत लोके यस्मिन्नाधास्यहो बोचदध्वा लोके यास्यसीति । स होवाच नाममतद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति । स ह पितरमासाद्य पप्रच्छेति । मा प्राक्षीत् कथं ब्रवाणीति स होवाचाहमप्येतन्न वेद सदस्येव वयं स्वाध्यायमधीत्य हरामहे यन्नः परे ददत्येह्य भौ गमिष्याव इति ॥१॥

महर्षि चित्र गर्ग ऋषि के प्रपौत्र थे। उन्होंने यज्ञ करने का निश्चय कर अरुण के पुत्र उद्दालक को प्रमुख ऋत्विक बनाया । परन्तु

उद्दालक मुनि स्वयं उस यज्ञ में नहीं गए और अपने पुत्र श्वेतकेतु को उन्होंने आज्ञा दी कि तुम महर्षि चित्र के यज्ञ में जाकर उसे सम्पन्न करो। आज्ञा पाकर श्वेतकेतु यज्ञ स्थान मे पहुंचे और एक उच्च आसन पर जा विराजे। उन्हें देखकर महात्मा चित्र ने प्रश्न किया क्या इस लोक में कोई आवरण वाला ऐसा स्थान है जहाँ मुझे स्थित करोगे अथवा उससे भिन्न किसी आवरण-रहित अद्भुत स्थान में मुझे रखोगे ?

श्वेतकेतु बोले— मुझे इस सन्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं। मेरे पिता शास्त्र के रहस्यों का सम्यक् ज्ञान रखते हैं और स्वयं भी शास्त्रानुकूल ही वर्तते हैं। आपके प्रश्नों के सम्बन्ध में उन्हीं से पूछूंगा। इतना कहकर वे अपने पिता उद्दालक के पास पहुंचे और चित्र ने जो प्रश्न किया उसे उनके समक्ष रखा और बोले कि इस सम्बन्ध में उन्हें क्या उत्तर दिया जाय ? उद्दालक बोले मुझे भी इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात नहीं। इस महात्मा चित्र की यज्ञशाला में चल कर ही तत्व के अध्ययन द्वारा इस ज्ञान को प्राप्त करेंगे अन्य व्यक्तियों के समान चित्र से भी हमें धन प्राप्त होगा। इसलिए वहीं चलें ॥ १ ॥

स ह समित्पाणिश्चित्रं गार्ग्यायणिं प्रतिचक्राम उपायानीति। तं होवाच ब्रह्मार्घोऽसि गौतम यो मामुपागा एहि त्व ज्ञपयिष्यामीति। स होवाच ये वै के चास्माल्लोकात प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते। अथापरपक्ष न प्रजनयति। एतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं यश्चन्द्रमास्तं यत् द्रत्याहतमति स्रजते। य एनं प्रत्याहतमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति। त इह कीटो वा पतङ्गो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो वा परश्वा वा पुरुषो वाऽन्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्। तमागतं पृच्छति कोऽसीति। तं प्रतिब्रूयाद्।

विचक्षणादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात् प्रसूतात पित्र्या पतद्

स्तनमा पुंसि कर्तर्येरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरिमा निषिक्तः।
स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासः।
द्वादशत्रयोदशेन पित्रा संतद्विदेऽहम्।
तव ऋतवो मर्त्यव आरभध्वम्।
तेन सत्येन तपसर्तुरस्म्यार्तवोऽस्मि कोऽसि त्वमसीति तम तिसृजते ॥२॥

हाथ में समिधा लेकर जिज्ञासु रूप में महर्षि उद्दालक महात्मा चित्र के पास पहुंचे। वहाँ उन्होंने कहा—मैं ज्ञान प्राप्ति के निमित्त यहाँ आया हूं चित्र को उन्हें इस प्रकार जाया देखकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वे बोले—महर्षि उद्दालक! मेरे जैसे तुच्छ व्यक्ति के इस प्रकार आते हुए आपको अपने बड़प्पन का किंचि भी ध्यान न हुआ इसलिए तुम सब ब्राह्मणों में पूजनीय और ब्रह्मविद्या के अधिकारी हो। मैं पूछे हुए प्रश्न के विषय में आपको यथार्थ ज्ञान दूंगा ॥१॥

इस के पश्चात् यज्ञकर्त्ता महात्मा चित्र कहने लगे—महर्षे! यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठाता विद्वान् जब इस लोक को त्याग कर चलते हैं तब स्वर्गलोक को ही प्राप्त होते हैं। उनके प्राणों के योग्य से चन्द्रमा को बल मिलता है परन्तु कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा स्वर्ग में निवास करने वाले प्राणियों को तृप्त नहीं कर सकता।

चन्द्रमा के नाम से जो प्रसिद्ध हैं वह स्वर्गलोक का ही द्वार हैं। परन्तु स्वर्ग लोक का वह अधिकारी ऐसा सोचाता है कि स्वर्ग से पुनः गिरना हो ऐसा स्वर्ग लोक मैं क्या करूंगा? जो निष्काम कर्म करते हुए ऐसा निश्चय कर चंद्रलोक का त्याग कर देता है वह अपने शुभ कर्मों और दृढ़ निश्चय के कारण स्वर्ग से भी ऊपर ब्रह्मलोक में पहुंच जाता है परन्तु जो व्यक्ति सुख की कामना वाला होकर स्वर्ग के सुख-भोग में लग कर उस लोक का त्याग नहीं करता उस कामना

वाले स्वर्ग के निवासी को देवगण उसका पुण्य समाप्त होते ही वृष्टि के रूप में इस लोक में डाल देते हैं।

इस प्रकार जो शिष्य जगत् की स्वर्ग और नरक प्राप्त कराने वाली गति को जान लेता है और फिर उससे विरक्त होकर सद्गुरु की शरण में जिज्ञासु भाव से उपस्थित हुआ है, उस श्रद्धा से अपने शरणागत शिष्य से गुरु को इस प्रकार प्रश्न करना चाहिए कि 'तुम कौन हो ?' इस प्रश्न का शिष्य द्वारा इस प्रकार उत्तर दिया जाना चाहिए—'हे देवताओ ! जो पन्द्रह कला वाले शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के कारणभूत, श्रद्धा के द्वारा प्रकट हुए प्राणी को पितृलोक की प्राप्ति कराने वाले एवं विभिन्न प्रकार के भोग प्राप्त कराने वाले चन्द्रमा के पास से उत्पन्न होकर श्रद्धा, सोम, वर्षा और अन्न के प्रभाव से उत्पन्न हुआ जो वीर्य पुरुषाकार अग्नि में स्थित है, उसी वीर्य के रूप में परिवर्तित हुए मुझ प्राणी को आपने संयोग-काम्य पुरुष में स्थापित किया और फिर आपने उसी पुरुष के द्वारा मुझे गर्भ में धारण कराया। तब वर्षों से मैं स्वयं भी मिथ्याज्ञान, सांसारिक भ्रम और विकारों में तथा ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा में जीवन धारण किए हुए हूँ। अत: अब आप मुझे अमरत्व प्राप्त कराने वाले ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के निमित्त अनेक वर्षों तक निरोग रखने वाली बड़ी आयु दें। क्योंकि जब तक ब्रह्म से साक्षात्कार न हो तब तक जीवित रहना आवश्यक है, ऐसा समझकर ही देवताओं से मैं यह निवेदन करता हूं। मैंने जिस सत्य का उल्लेख किया है उसी सत्य एवं तपस्या के कारण मैं ऋत हूँ। यदि यह बात यथार्थ नहीं है तो आप ही मुझे यह बताने की कृपा करें कि मैं कौन हूँ, क्या मैं वही हूं जो आप हैं ?' उसकी बात सुन कर सद्गुरु उस शिष्य को भव-भय से भीत जान कर ब्रह्मविद्या का उपदेश करके उसे इस संसार-सागर से तार कर सब पापों से छुड़ा देता है ॥२॥

तनेतं देवयजनं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति । स

वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् । तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्यारो ह्रदोमुहूर्तोऽन्वेष्टिहा विरजा नदील्यो वृक्षः सालज्जं सस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ विभु प्रमितं विचक्षणसंध्यमितौजाः पर्यङ्कः प्रिया च मानसी प्रतिरूपा च चाक्षुषी पुष्पाण्यादायावयतौ वै च जग यम्बा चाम्बावयवाश्चाप्सरसोऽबया नद्यः । तमित्थंविधा गच्छन्ति । त ब्रह्मा हाभिधावत् मम यशभा विरजां पालयन्नदीं प्राप न वाऽयं जिगीष्यतीति ॥३॥

जो परमेश्वर की उपासना करता है, वह देवयान मार्ग द्वारा प्रथम अग्नि-लोक को प्राप्त होता है, फिर वायु-लोक में पहुँचता है, वहाँ से सूर्य-लोक में गमन करता है, फिर वरुण-लोक में जाकर इन्द्रलोक में पहुंचता है, इन्द्र-लोक से प्रजापति-लोक और प्रजापति-लोक से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। इस ब्रह्म-लोक में प्रविष्ट होने वाले मार्ग पर 'आर' नामक एक वृहद् जलाशय है। उससे पार होने पर काम-क्रोध आदि की उत्पत्ति द्वारा ब्रह्मलोक-प्राप्ति की साधना और यज्ञादि पुण्य-कर्मों को नष्ट करने वाले 'येष्टिह' नामक मुहूर्ताभिमानी देवता निवास करते हैं। उनसे छुटकारा मिलने पर विरजा नाम की नदी मिलती है, जिसके दर्शन मात्र से वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है। उससे आगे 'इला' नाम्नी पृथिवी का स्वरूप इल्य नामक वृक्ष है। उससे आगे एक नगर है, जिसमें अनेकों देवता निवास करते हैं। उसमें बाग बगीचे नदी, सरोवर बावड़ी, कुँए आदि सब कुछ हैं। नगर के एक ओर वही विरजा नदी और दूसरी ओर धनुष की प्रत्यंचा के समान एक परकोट बना है। उससे आगे बढ़ने पर 'अपराजित' नामक विशाल स्थान है, उसमें ब्रह्मा जी निवास करते हैं। यह सूर्य के समान तेज वाला भवन कभी किसी के द्वारा पराजित न होने से 'अपराजित' कहा जाता है। ब्रह्माजी के

उस भवन के द्वार रक्षक मेष तथा यज्ञ के प्रतीक रूप वायु और आकाश स्वरूप इन्द्र हैं।

वहाँ एक सभामण्डप है, जिसका नाम विभुप्रमति है। उसके बीच में विचक्षण नाम की एक वेदी है। वह वेदी अत्यन्त अद्भुत है। 'अमितौजा' नामक प्राण अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न है, वही ब्रह्माजी का सिंहासन है। प्रकृति रूपिणी उनकी प्रिया, मन को अत्यन्त प्रफुल्लित करने वाली होने के कारण 'मानसी' नाम वाली है। 'चाक्षुषी' नाम की उसकी एक छायाभूति है, वह अत्यन्त तेज वाली है, उसके अलंकारादि भी अत्यन्त तेजोमय हैं। संसार चार प्रकार के प्राणियों से पूर्ण है— जरायुज, अण्डज, स्वदेज और उद्भिज। इस संसार के सभी जड़, चेतन पदार्थ ब्रह्माजी की वाटिका के पुष्परूप तथा उनके धौत, उत्तरीय आदि वस्त्र हैं। वहाँ की अप्सरायें 'अम्बा' और 'आम्बायवी' कहाती हैं। अम्बा में जननी भाव और अम्बायवी में बुद्धि रूपिणी भाव निहित है। ब्रह्मज्ञान की ओर प्रवृत्त करने वाली होने से अम्बया नाम की नदियाँ प्रवाहित हैं। जो उस ब्रह्मलोक का इस प्रकार ज्ञाता है, वह उसी लोक को पा लेता है। जब कोई दिव्य पुरुष उस ब्रह्मज्ञानी को स्वर्ग लोक से लाता है, तभी ब्रह्माजी अपने अनुचरों को आदेश देते हैं कि 'जाओ, उस ज्ञानी पुरुष को मेरे यश के अनुकूल आदरपूर्वक लिवा लाओ। मेरे लोक को प्राप्त कराने वाली साधना के द्वारा ही यह विरजा नदी के समीप होता हुआ यहाँ आ गया है, अब कभी उसे वृद्धावस्था नहीं होगी'॥३॥

तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतिधावन्ति शतं मायाहस्ताः शतमाञ्जनहस्ताः शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं फल हस्ताः। तं ब्रह्मालकारेणालङ्कुर्वन्ति। स ब्रह्मालंकारेणालङ्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति। स आगच्छत्यार ह्रदं त मनसाऽत्येति। तमृत्वा संप्रतिविदो मज्जन्ति। स आगच्छति मुहूर्तान्वि-

हेष्ठिहास्तेऽस्मादपद्रवन्ति । स आगच्छति विरजां नदी तां मनसेवात्येति । तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृत मुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम् । तद्यथा रथेन धावयन् रथचक्रे पर्यवेक्षत एवमहोरात्रे पर्यवेक्षते । एवं सुकृतदुष्कृते धूनुते सर्वाणि च द्वन्द्वानि । स एव विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति ।।४।।

ब्रह्माजी के आदेश-पालनार्थ तुरन्त पाँच सौ अप्सराएँ आगत ब्रह्मज्ञानी के स्वागतार्थ दौड़ती हैं। उनमें सौ अप्सरायें केसर, कुंकुम, हरिद्रा आदि के चूर्ण हाथों में लेती हैं और सौ अप्सरायें विभिन्न प्रकार के दिव्य वस्त्राभूषण लिए रहती हैं। सौ अप्सराओं के हाथों में भांति-भांति के अङ्गराग होते हैं। वे सब अप्सरायें उस महात्मा को सब प्रकार से अलंकृत कर ब्रह्माजी के स्वरूप वाला बना लेती हैं। तब वह महात्मा पुरुष और नामक पूर्वोक्त जलाशय के समीप पहुंचता है और उसे मानसिक संकल्प के द्वारा ही लाँघ जाता है। जो अज्ञानी जन अपने पुण्यकर्मों के प्रभाव से उस जलाशअ तक पहुंच जाते हैं, वे उसी में डूब जाते हैं। उससे संकल्प द्वारा पार होने वाला ज्ञानी 'येष्टिहि' के समीप पहुंचता है, परन्तु वह देवता उसके ब्रह्मतेज के सामने नहीं ठहर पाते और भाग जाते हैं। फिर वह ज्ञानी विरजा नदी के पास जाकर अपने पुण्यों और पापों को वहीं त्याग कर अपने मानसिक संकल्प से ही उसे पार कर लेता है।

जो उस ज्ञानी से द्वेष रखते हैं, उन्हें उसके त्यागे हुए पापांश की प्राप्ति होती है, परन्तु उससे प्रेम रखने वाले कुटुम्बी आदि उसके पुण्यांश के भागी होते हैं। जैसे रथारोही पुरुष अपने रथ को द्रुत गति से चलाता हुआ रथ चक्रों को देखता है, उस समय उन चक्रों का जो संयोग-वियोग पृथिवी से होता है, वह चक्रों को देखते रहने पर भी आरोही को प्राप्त नहीं होता। वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष दिन-रात्रि को, पाप-पुण्य को तथा अन्य विभिन्न उचित-अनुचित दृश्यों को देखता है,

परन्तु देखने वाला होने के कारण ही वह उनसे सम्बन्ध रहित रहता है। इसीलिये पाप और पुण्य भी उसे व्याप्त नहीं करते। अतः ब्रह्मज्ञान के कारण वह ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है।४।

स आगच्छतील्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति। स आगच्छति सालज्जं संस्थानं तं ब्रह्म स प्रविशति। आगच्छत्यपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति। स आगच्छतीन्द्रप्रजापती द्वारागोपौ तावस्मादपद्रवतः। स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मयशः प्रविशति। स आगच्छति विचक्षाणामासन्दीं स प्रजा प्रज्ञया हि विपश्यति। आगच्छत्यमितौजसं पर्यङ्कं तं स प्राणः। तस्य भूतं च भविष्यच्च पूर्वौ पादौ श्रीश्चेरा चापरौ बृहद्रथन्तरे अनूच्ये भद्रयज्ञायज्ञीये शीर्षण्यमृतश्च सामानि च प्राचीनागानं यजूंषि तिरश्चीनानि सोमांशत्र उपस्तरणमुद्गोथ उपश्रीः श्रीरुपबर्हणम्। तस्मिन् ब्रह्मास्ते। तमित्थवित्पादेनैवाग्र आरोहति। तं ब्रह्माह कोऽसीति। तं प्रतिब्रूयात् ऋतुरस्म्यार्तवोऽस्म्याकाशाद्योनेः संभूतो हाव। एतत् संवत्सरस्य तेजोभूतस्य भूतस्य त्वामात्माऽसि यस्त्वमसि सोहमस्मीति। तमाह कोऽहमस्मीति ॥५॥

इल्य वृक्ष के समीप पहुंचते ही ब्रह्मज्ञानी की नासिका में ब्रह्म गन्ध प्रविष्ट होती है। इसके बाद वह सालज्य नामक नगर के पास पहुँचता है, वहाँ उसमें अत्यन्त दिव्य ब्रह्म रस प्रविष्ट हो जाता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उतने आनन्द का अनुभव पहले कभी नहीं हुआ। इसके पश्चात् वह ब्रह्माजी के अपराजित नामक भवन के पास जाता है वहां उसमें ब्रह्म तेज भर जाता है। तब वह भवन के द्वाररक्षक इन्द्र और प्रजापति के समीप पहुंचता है, वे उसको मार्ग छोड़ देते हैं। वह आगे बढ़ता हुआ विभुप्रमित नामक सभामण्डप में जाता है, वहाँ उसमें ब्रह्मयश स्थित होता है। फिर वह बृहत् और रथन्तर साम नामक

दो अगले पायों, श्यत और नौधस साम नामक पिछले पायों, वैरूप और वैराज साम नामक दक्षिण-उत्तर वाले पायों तथा शाक्वर और रैवत सम नामक पूर्व पश्चिम वाले पायों से युक्त विचक्षणा नाम की वेदी के समीप पहुँचता है। वह बुद्धि और महत्तत्व रूपिणी वेदी ब्रह्मज्ञानी को दिव्य दृष्टि प्राप्त कराती है। इसके पश्चात् वह प्राणस्वरूप अमितौजा नामक सिंहासन के समीप जाता है। उस सिंहासन के अगले दो पाये भूत और भविष्यत् हैं तथा पिछले पायों के रूप में श्री देवी और भूदेवी हैं। अनूच्य नाम वाले दो दीर्घ खट्वांग उसके उत्तर दक्षिण वाले पाये हैं। यह दोनों बृहत्तर और रथन्तर साम ही है। भद्र और यज्ञायज्ञीय नामक सामरूप लघु खट्वांग पूर्व-पश्चिम की ओर के पाये हैं। इन पर मस्तक और पाँव रखे जाते हैं। पूर्व से पश्चिम तक लगी हुई पाटियाँ ऋक् और साम के स्वरूप हैं तथा उत्तर-दक्षिण की ओर लगी आड़ी-टेढ़ी पाटियां यजुर्वेद की प्रतीक हैं। चन्द्र किरणें उस पर कोमल गद्दे के रूप में बिछी हैं। उद्गीथ उस पर बिछी हुई चादर है। लक्ष्मीजी रूपी तकिया उस पर लगा है। ऐसा दिव्य सिंहासन ब्रह्मा जी के विराजमान होने के लिये है। इस तत्व का जानने वाला ब्रह्मज्ञानी उस सिंहासन पर पाँव रख कर चढ़ता है। उस समय ब्रह्मा उससे प्रश्न करते हैं कि 'तुम कौन हो ?' उस ब्रह्मज्ञानी को उनके प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देना चाहिए।५। ।५।

सत्यमितिब्रूयात्। किं तत् सत्यमिति। यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्याश्च तत् सद्व यद्देवाश्च प्राणश्च तद्यत्तदेतया वाचाऽभिव्याह्रियतेसत्यमिति। एतावदिद सर्वमिदं सर्वमसीत्येवैनं तदाह। तमाह केन पौंसानि नामान्याप्नोनीत। प्राणेनेति ब्रूयात्। केन स्त्रीनामानीति। वाचेति। केननपुंसकनामानीति। मनसेति। केन गन्धानिति। घ्राणेनेति ब्रूयात्। केन रूपाणीति। चक्षुषेति। केन शब्दानिति। श्रोत्रेणेति। केनान्नरसानिति। जिह्वयेति।

केन कर्माणीति हस्ताभ्यामिति । केनं सुखदुःखे इति । शरीरेणेति । केनानन्दं रतिं प्रजातिमिति । उपस्थेनेति । केनेत्या इति । पादाभ्यामिति । केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति । प्रज्ञयेति प्रब्रूयात् । तमाहापेव खलु मे ह्यसावयं ते लोक इति । सा या ब्रह्मणि चिति या व्यष्टिस्तां चितिं जयति तां व्यष्टिं व्यश्नुते या एवं वेद य एवं वेद ॥६॥

मैं उस स्वयंभू, स्वयं प्रकाशित, विश्व के कारण भूत परमेश्वर से प्रकट हुआ हूं जो भूतों से अतीत, भूतों का कारण और जड़ चेतनमय भूतरूप उस संवत्सर के तेज स्वरूप वाला हूँ। ऋतु-सम्बन्धी हूँ और ऋत भी हूँ। मैं आत्मा हूँ, आप भी आत्मा हैं। मैं भी वही हूं जो आप हैं।' ऐसा उत्तर पाकर ब्रह्माजी पुनः प्रश्न करते हैं--मैं कौन हूं ?' इसका उत्तर ब्रह्मज्ञानी इस प्रकार दे कि आप साक्षात् सत्य हैं' यह सुनकर ब्रह्माजी का फिर प्रश्न होता है--'जिसे सत्य कहा जाता है, वह यथार्थ में क्या है ? इसका उत्तर इस प्रकार देना चाहिए कि 'जो दिव्यता और प्राण से भिन्न एवं अद्भुत है, वही सत् है और दिव्यता तथा प्राणत्य है। वाणी जिस शब्द को सत्य कहती है, वह सत्य इन दोनों का संयोग रूप है। जो सब कुछ है वही सत्य है तथा आप में भी सब कुछ निहित होने के कारण आप भी सत्य ही हैं।६।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

## द्वितीयोऽध्यायः

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दूतवान्भवति यश्चक्षुर्गोप्तृ गोप्तृमान्भवति यः श्रोत्रं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान्भवति

यो वाचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रीमान्भवति तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता आयाचमाना वलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वा लब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इत्येष धर्मो याचतो भवत्यनन्तरस्त्वेवैनमुपमन्त्र यन्ते दमाम त इति ॥१॥

ऋषि कौषीतकि का कथन है कि प्राण ही ब्रह्म है। इस प्राण रूप ब्रह्म को राजा के समान कल्पित किया गया है—वाणी उसकी रानी है, कान संदेश सुनाने वाले द्वारपाल हैं, नेत्र अङ्ग रक्षक हैं और मन दूत है। यह सब इन्द्रियाँ उनके अभिमानी देवताओं द्वारा बिना माँगे ही प्राण रूप ब्रह्म को भेट स्वरूप दी गई है। जो इस रहस्य का ज्ञाता है, उसको बिना याचना किये ही सब चराचर जीव भेंट समर्पित करते हैं। जैसे कोई भिखारी किसी गांव में जाकर भिक्षा माँगते-माँगते, कुछ भी न पाने पर निराश होकर भविष्य में उस गाँव वालों के देने पर भी अन्नादि न लेने का निश्चय कर लेता है, वैसे ही प्राण की उपासना करने वाले साधक का यह कठोर कर्तव्य है कि वह किसी से किसी वस्तु की याचना न करे। उसे अपने इस निश्चय में दृढ़ रहना चाहिये। क्योंकि याचक में दैन्य-भाव रहता है। इस भाव के कारण ही उसे भीख मिल पाती है और लोग कहते हैं कि "आओ, हम तुम्हें भिक्षा प्रदान करेंगे" ॥१॥

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह पैङ्गचस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो वाक्पपस्ताच्चक्षुरारुन्धे चक्षुः परस्ताच्छ्रोत्रमारुन्धे श्रोत्र परस्तान्मन आरुन्ध्रे मनः परस्तात्प्राण आरुन्धे तस्मै वा एतस्मै प्राणायब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानाय बलिं हरन्ति य एवं वेद

तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वा लब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त एत्येष धर्मो याचतो भवत्यनन्तरस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त एत्येष धर्मो याचतो भवत्यनन्तरस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददामत इति ॥१३॥

महर्षि पैङ्ग्य भी प्राण को ही ब्रह्म बताते हैं। उन प्राणस्वरूप ब्रह्म के निमित्त वाणी से अतीत नेत्रेन्द्रिय है, उसने वाणी रूप इन्द्रिय को सब ओर से व्याप्त कर रखा है। नेत्र से परे श्रोत्रेन्द्रिय है, उसने नेत्र रूप इन्द्रिय को सब ओर से व्याप्त किया हुआ है। श्रोत्रेन्द्रिय से परे मन है उस मन के द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय सब ओर से व्याप्त की हुई है। मन से परे प्राण है। इस प्राण ने मन को सब ओर से व्याप्त किया है। वही प्राण ब्रह्म है। यह सभी देवता उस प्राणरूप ब्रह्म को बिना याचना किए हुए भेंट देते हैं। उसका यह दृढ़ निश्चय है कि वह किसी से कभी कुछ न माँगे। जैसे किसी ग्राम में जाकर एक याचक भीख माँगता है, परन्तु उसे भीख नहीं मिलती तो वह हताश होकर भविष्य में किसी से भी भिक्षा न लेने की शपथ लेता है। उसका ऐसा निश्चय देखकर जिन्होंने पहले देने से न कर दिया था वे भी उसे आओ, हम तुम्हें भिक्षा देते हैं कह कर अपने पास बुलाते हैं ॥२॥

अथातएकधनावरोधन यदेकधनमभिध्यायात्पौर्णमास्यां वामावास्ययां वा शुद्धपक्षे व पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय परिसमुह्य परिस्तीर्य पर्युक्ष्य पूर्व दक्षिण जान्वाच्य स्रुवेण वा चमसेन वा कंसेनवैता आज्याहुतीर्जुहोति वाङ्नामदेवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुद्धां तस्यै स्वाहा प्राणो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमरुद्धा तस्यै स्वाहा चक्षुर्नाम् देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुद्धां तस्यै स्वाहा श्रोत्र नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमावरुन्द्धां तस्यै स्वाहा मनो नाम:देवतावरोधिनी सामेऽमुष्मादिदमवरुन्द्धां तस्यै स्वाहा प्रज्ञा नाम देवतावरोधिनी

सा मेऽमुष्मादिदमरुन्द्धां तस्यै स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघ्रायाज्यलेपेनाङ्गान्यनुविमृज्य वाचंयमोऽभिप्रज्यार्थं ब्रवीत दूतं वा प्रहिणुयाल्लभते हैव ॥३॥

अब धन-निरोध के सम्बन्ध में कहा जाता है। पूर्णिमा अमावस्या अथवा अन्य किसी पुण्य तिथि एवं पुण्य नक्षत्र में धन की कामना वाला व्यक्ति अग्नि स्थापन परि समूहन, कुशास्तरण मंत्रपूत जल द्वारा अभिसेंचन पात्र में रखे घृत को शोधन आदि करके विधिवत् आहुति समर्पित करे।

वाणी नाम वाली देवी कामना पूर्ति करने वाली हैं वह मुझ प्राण की उपासना करने वाले को अमुक से इच्छित धन प्राप्त करावे। उसके लिये यह घृताहुति स्वाहुत हो।

प्राण देवता अभीष्ट सिद्धि में समर्थ हैं वह मुझ उपासक को धन प्राप्त करावें। वह आहुति स्वाहुत हो।

चक्षु नाम वाली देवी कामना पूर्ति करने में सामर्थ्य वाली है वह मुझ प्राणोपासक को अमुक से इच्छित धन प्राप्त करावे। घृताहुति उसके लिए स्वाहुत हो।

श्रोत्र नाम वाली देवी अभीष्ट फलदायिनी हैं। वह मुझ प्राण रूप ब्रह्म के साधक को अमुक से इच्छित धन प्राप्त करावे। उसके निमित्त यह घृताहुति हो।

मन नाम की इन्द्रिय अभीष्ट फलदात्री देवी है वह मुझ प्राणोपासक को अमुक व्यक्ति से इच्छित धन दिलावे। यह आहुत उसके निमित्त स्वाहुत हो।

प्रज्ञा नाम की देवी अभीष्ट फल प्राप्त कराने वाली हैं। वह मुझ प्राण देवता के उपासक को अमुक व्यक्ति से अभीष्ट धन प्राप्त करावे। यह घृताहुति उसके लिये स्वाहुत हो।

इस प्रकार आहुतियाँ देने के बाद धूम को गन्ध को सूँघे और

हवन से बचे हुए घृत का लेप करे और मौन रहकर धन के स्वामी के समीप पहुंचकर इच्छित धन के लिये कहे कि इतना धन आवश्यक है, उसकी पूर्ति होनी चाहिए। यदि धनिक कहीं दूर हो तो किसी दूत के द्वारा उनके पास सन्देश भेजे। इस प्रकार के कर्म द्वारा इच्छित धन की प्राप्ति हो जाती है।।३।

अथातो दैवस्मरो यस्य प्रियो बुभूषे यस्यै वा एषां वैतेषामेवैतस्मिन्पर्वण्यग्निमुपसमाधायैवावृतैता आज्याहुतीर्जुहोति वाच ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा प्रज्ञानं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघायाज्यलेपेनाङ्गान्यनुविमृज्य वाचंयमोऽभिप्रवृज्य संस्पर्शं जिगमिषेदपि वाताद्वा संभाषमाणस्तिष्ठेत्प्रियो हैव भवन्ति स्मरन्ति हैवास्य ।।४।।

अब वाणी द्वारा सिद्ध होने वाले अभीष्ट की पूर्ति का ढंग कहते हैं। यदि उपासक किसी का प्रिय बनने की इच्छा करे तो वह किसी का भी प्रिय होने से पूर्व वाणी आदि देवताओं का प्रिय बने। इसके लिये किसी पुण्य तिथि आदि में पूर्वोक्त रीति से ही अग्नि स्थापन आदि सभी कर्म करके घृताहुति समर्पित करे।

मैं तुम्हारी वाणी रूपी इन्द्रिय को अपने में हवन करता हूँ। मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो। यह आहुति स्वाहुत हो।

मैं तुम्हारे प्राण को अपने में हवन करता हूँ। मेरे अमुक कार्य की सिद्धि हो। यह आहुति स्वाहुत हो।

मैं तुम्हारे श्रोत्रों को अपने में हवन करता हूँ। मेरे अमुक कार्य की सिद्धि हो। यह आहुति स्वाहुत हो।

मैं तुम्हारे नेत्रों को अपने में हवन करता हूँ। मेरे अमुक कार्य की सिद्धि हो। आहुति स्वाहुत हो।

मैं तुम्हारे मन को अपने में हवन करता हूँ। मेरे अमुक कार्य की सिद्धि हो। यह आहुति स्वाहुत हो।

मैं तुम्हारी प्रजा को अपने में हवन करता हूं। मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो। यह आहुति स्वाहुत हो।

आहुतियों के पश्चात् हवन की धूम-गन्ध सूँघ कर होमावशिष्ट घृत का अंगों पर लेप करे और मौन का अवलम्बन कर इच्छित व्यक्ति के पास जाय या ऐसे स्थान पर खड़ा होकर कहे, जहां से वायु उसके शब्दों को इच्छित व्यक्ति तक पहुंचाने में सहायक हो तो वह व्यक्ति उसका तो प्रिय होता ही है, साथ ही उस स्थान को छोड़ने पर वहाँ के निवासी सदा याद करते हैं ॥४॥

अथातः सायमन्नं प्रातर्दनमान्तरमग्निहोत्रमिति चाचक्षते। यावद्वै पुरुषो भासते न तावत् प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्भातुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति। एतेऽनन्तेऽमृताहुती जाग्रच्च स्वपंश्च संततमव्यवच्छिन्नं जुहोति। अथ या अन्या आहुतयोऽन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो भवन्ति। एतदु वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुह्वाचक्रुः। अथ कथं ब्रह्मेति। शुष्कभृङ्गारस्तद्-गित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रेष्ठयायाभ्यर्च्यन्ते। तद्यजुरित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रेष्ठयाय युज्यन्ते। तत् सामेत्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रेष्ठयाय सनमन्ते। तच्छ्रीत्युपासीत तद्यश इत्युपासीत तत्तेज इत्युपासीत तद्यथैतच्छास्त्राणां श्रीमत्तमं यशस्वितमं तेजस्वितमं भवति। तथैवैवविद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रीमत्तमो यशस्वितमस्तेजस्वितमो भवति। तदेतदैष्टकं कर्म यमात्मानमध्वर्युः संस्करोति तस्मिन् यद्धर्ममयं प्रभवति तद्धर्ममयं त्वम्मयं होतर्मयं साममयमुद्गाता स एष सर्वस्यै त्रयीविद्याया आत्मैष उव एव स्यान्नेतदात्मा भवति य एवं वेद ॥५-६॥

अब दिवोदास-तनय प्रतर्दन द्वारा किया गया अनुष्ठान प्रतिदिन और संयम से पूर्ण होने से सायंमन अग्निहोत्र के सम्बन्ध में कहा जाता है। मनुष्य जब तक मुख से बोलता है, तब तक पूरी तरह श्वास नहीं ले पाता। उस समय प्राण का वाणी रूप अग्नि में हवन हो जाता है।

वाणी और प्राणरूप आहुतियां कभी भी अन्त न होने वाली तथा अमर हैं। जागते हुए या सोते हुए भी प्राणी इन आहुतियों को होमता रहता है। वाणी और प्राणरूप आहुतियों से भिन्न जो द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे कर्म द्वारा ही चलती हैं। जो प्राचीनकालीन ज्ञानी इस रहस्य के ज्ञाता थे, वे केवल कर्ममयी आहुतियाँ नहीं देते थे ॥५॥

महान् आत्मा शुष्कभृङ्गार भी प्राण को ही ब्रह्म जानते हैं। उक्थ रूप प्राण को ऋक् मानकर उपासना करे। जो ज्ञानी पुरुष प्राण-रूप उक्थ को ऋक् जान लेता है, उस ज्ञानी की संसार के सभी श्रेष्ठ बनने की इच्छा वाले प्राणी पूजा करते हैं। उक्थ में यजुर्बुद्धि रखने वाले उपासक का श्रेष्ठ बनने की कामना वाले प्राणी सहयोग करते हैं। जिस साधक की उक्थ में साम-बुद्धि हो उसके सामने श्रेष्ठ-काम्य प्राणी सिर नवाते हैं। उक्थ की श्री-भाव से उपासना की जाती है, उत्तम यश भाव रखा जाता है तथा उक्थ को तेज मानकर भी उपासना की जाती है जैसे दिव्य धनुष सब धनुषों में श्रेष्ठ, शक्तिसम्पन्न यश-सम्पन्न और अत्यन्त तेज वाला होता है वैसे ही इस रहस्य का ज्ञाता भी सब प्राणियों में श्रेष्ठ, यशस्वी, तेजस्वी, तथा श्री से सम्पन्न होता है।

ईंटों की बनाई हुई वेदी पर संचित कर्मयुक्त प्राणरूप अग्नि को आत्मस्वरूप में स्वीकार करता हुआ ऋत्विक् आत्म संकार करता है, तभी वह प्राण में यजुर्वेद की विधि से सिद्ध होने वाले कर्मों की वृद्धि करता है और यजुर्वेद से सिद्ध होने वाले कर्मों में ऋग्वेद की विधि

से सिद्ध होने वाले कर्मों की वृद्धि होती है। ऋग्वेद से सिद्ध होने वाले कर्मों में ही सामवेद से साध्य कर्म विस्तृत होते हैं। इन तीनों वेदरूपी विद्या का आत्मा यह अध्वर्यु रूप प्राण है। प्राण ही इस विद्या का आत्मा कहा गया है। जो प्राणी प्राण को इस प्रकार जानता है वह स्वयं प्राण के समान ही हो जाता है ॥६॥

अथातः सर्वजितः कौषीतकिस्त्रीण्युपासनानि भवन्ति । यज्ञोपवीतं कृत्वाऽप आचम्य तिरुदपात्रं प्रसिच्योद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठेत् वर्गोऽसि पाप्मा मे वृङ्ग्धीति, एतयैवावृता मध्ये सन्तं उद्वर्गोऽसि पाप्मानं म उद्वृङ्ग्धीति, एतयैवावृताऽस्तं यन्तं संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्ग्धीति, यदहोरात्राभ्यां पाप करोति स तद्वृङ्क्ते । अथ मासिमास्यमावास्यायां पश्चाच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवर्ता हरिततृणाभ्यां वा वृत्तः स्यात् यत्ते सुसीमं हृदयमसि चन्द्रमसि श्रितं तेदामृतत्वमस्येशान माऽहं पौत्रमघं रुदमिति । न हास्मात् पूर्वा प्रजाः प्रयन्तीति । नजातपुत्रस्याथ जातपुत्रस्य ह य समेत्तातु सन्ते पयांसि सस्वयन्तु राजा यमादित्या अंशुमाप्यायायन्तीत्येतास्तिस्र ऋचो जपित्वा तास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्यायययिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि य च वयं द्विष्मः तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्यायस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्तयति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते ॥७-८॥

अब कौषीतकि ऋषि द्वारा तीन बार की अनुभूत उपासना कही जाती है। सव्य रहते हुए आचमन करे और फिर पात्र को पवित्र निर्मल जल से तीन बार भरकर उदय होते हुए सूर्य को अर्घ्य देते हुए कहे संसार को तृणवत् त्याग देने से तुम वर्ग कहाते हो, मेरे पापों को नष्ट करो।' फिर मध्यान्ह काल में सूर्य को उपस्थान करते हुए कहे 'तुम उद्वर्ग कहे जाते हो, मेरे पापों को नष्ट करो।' इसी प्रकार सायंकाल

होने पर अस्ताचलगामी सूर्य की उपासना करता हुआ कहे—'तुम संवर्ग कहलाते हो, मेरे पापों को दूर करो।' इस उपासना के परिणाम स्वरूप मनुष्य का मन पवित्र हो जाता है और वह दिन या रात्रि में, कभी भी पाप नहीं करता।७।

अब दूसरी उपासना कहते हैं। हर मास की अमावस्या को सूर्य मण्डल के पश्चिमी भाग में स्थित सुषुम्णा नामक रश्मि में चन्द्रमा का स्थित होना स्पष्ट लक्षित होता है। उस समय सूर्य की उपरोक्त प्रकार से पूजा करे। साथ ही अर्घ्य वाले जल-पात्र में हरी दूब के दो अंकुर रखे और निवेदन करे कि 'हे चन्द्रमण्डल की अधिष्ठात्री देवी! अत्यन्त सुन्दर भावना वाला तुम्हारा हृदय चन्द्रमण्डल में विराजमान है, उसके द्वारा तुम अविनाशी पद पर भी अधिकार रखने वाली हो तुम मुझ पर ऐसी कृपा करो, जिससे कभी पुत्र-शोक में व्यथित होकर न रोऊँ।'

इस प्रकार उपासना करने वाला यदि पुत्रवान् हो तो उसका पुत्र उसके मरने से पहिले नहीं मरता। यदि वह पुत्रहीन हो तो पूर्ववत् पूजन करते हुए निम्न मन्त्र-जाप करे।

हे नारी रूप वाले सोम! तुम पुरुष रूप सूर्य के तेज को पाकर प्रवृद्ध होओ। उत्पत्ति का कारणभूत वीर्य रूप तेज तुम में स्थित हो। तुम अन्न प्राप्ति में भी हेतु रूप हो जाओ। (१)

हे सोम! तुम सौम्य गुण वाले हो। तुम्हारा श्रेष्ठ रस पुरुषों का उपकार करने वाला है और शक्तिदायक होता हुआ शत्रुओं को हराने में भी समर्थ है। वह रस अन्न-जल से जीवन यापन करने वाले प्राणियों को सरलता से प्राप्त होता रहे। तुम तेज से तेजस्वी होकर हमें अमृतत्व प्राप्त कराने वाले होओ और स्वर्ग लोक में श्रेष्ठ यश को प्रतिष्ठित करो। (२)

जिस स्त्री रूप सोम को द्वादश आदित्य रूप पुरुष अपने वीर्य

रूप तेज से आनन्दित करते हैं, तथा स्वयं पुष्ट रहते हुए अक्षय बल वाले सोम को पीते हैं, उस सोम की तरंगों से त्रैलोक्य रक्षक वरुण और बृहस्पति हमें बल और आह्लाद प्रदान करें। (३)

हे सोम ! तुम हमारे जीवन प्रजाओं और पशुओं से अपनी भूख शान्त न करो। जो हमसे बैर करता है या हम जिससे बैर करते हैं उसके जीवन संतति और पशुओं से अपनी तृप्ति करो। मैं इस मन्त्र के अधिपति देवता का और तुम्हारी संचरण-क्रिया का अनुवर्ती हूं। (४)

इस प्रकार ऋचा-पाठ पूर्वक अपनी दक्षिण भुजा का अन्वावर्तन करना चाहिये।८।

अथ पौर्णमास्यां पुरस्ताच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता—सोमो राजाऽसि विचक्षणः पचममुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोत्थितेन मुखेन मामन्ववाद कुरु। राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोत्थितेनैव मुखेन मामन्ववादं कुरु। येश्नस्त एकं मूखं तेन मुखेन पक्षिणोत्थिनैव मुखेन मामन्ववादं कुरु। अग्निस्त एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमुत्थि तेन मुखेन मामन्वादं कुरु। सर्वाणि भूतनोत्येव पंचममुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्युत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। माऽस्माक प्राणेन प्रजया पशुभिररक्षिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि य च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरपक्षीयस्वेति स्थितिर्दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावतन्त इति दक्षिणं बाहुमवावर्तते। अथ संवेश्य नु जायायै हृदयेमभिमृशेत्।

यत्तेः स्वसीमे हृदयो हितमन्तः प्रजापतौ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वासं माऽह पौत्रमघं रुहम्॥
इति। न हास्मात् पूर्वाः प्रजाः प्रैति (प्रयन्ति) ॥८-१०॥

अब इससे अन्य उपासना कही जाती है। पूर्णिमा के दिन, सायंकाल के समय जब पूर्व में चन्द्रमा दिखाई दे उस समय पूर्वोक्त प्रकार से चन्द्रमा का उपस्थान तथा निम्न मन्त्र पाठ करे—

'हे सोम! तुम संसार की प्रकृति रूपिणी उमा के साथ रहने वाले सोम नामक राजा हो। तुम सब कार्यों में कुशल, पाँच मुख वाले प्रजापति हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है। उस मुख से तुम क्षत्रिय राजाओं का भक्षण करते हो। उसी मुख के द्वारा तुम मुझे अन्न भक्षण और उसे पचाने में समर्थ करो। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है उससे तुम वैश्यों का भक्षण करते हो। अपने उस मुख से मुझे अन्न के भक्षण और पचाने में समर्थ करो। श्येन तुम्हारा एक मुख है, उससे तुम पक्षियों का भक्षण करते हो, उस मुख से मुझे अन्न खाने और पचाने में समर्थ बनाओ। अग्नि तुम्हारा एक मुख है, उनके द्वारा तुम इस संसार का भक्षण करते हो। उस मुख से मुझे अन्न का उपभोग करने वाला बनाओ। तुममें जो तुम्हारा पाँचवाँ मुख है, उसके द्वारा तुम सब जीवों का भक्षण करते हो। उससे मुझे अन्न-भोजी बनाओ। तुम मेरे प्राण, प्रजा, पशु किसी का भी क्षय न करो। हमारे वैरियों के प्राण, प्रजा, पशु को नष्ट कर डालो। मैं मन्त्राधिपति देवता की ओर तुम्हारी संचरण-क्रिया का अनुसरण करने वाला हूँ।'

इस प्रकार मन्त्र पाठ पूर्वक दक्षिण भुजा का अन्वावर्तन करे ॥८॥

उक्त प्रकार सोम का पूजन करने के बाद पत्नी के हृदय का स्पर्श कर उसके पास बैठे और कहे कि 'हे श्रेष्ठ मांग वाली! तुम सोम रूपिणी हो, तुम्हारा हृदय प्रजाओं का पोषण करने वाला है। उसमें निहित सोममण्डल के समान अमृत-राशि का मैं ज्ञाता हूं। इस सत्य कथन के कारण मैं कभी पुत्र-शोक से न रोऊँ।'

इस प्रकार के कथन से साधक की संतान उससे पूर्व नहीं मरती ॥१०॥

अथ प्रोष्यायनः पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशति-अंगादगात् संभवसि हृदयादधि जायसे । आत्मा वै पुत्र माविध स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति । मा छेत्ता मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र । ते नाम्ना मूर्धानमभिजिघ्राम्यसाविति त्रिमूर्धानमभि जिघ्रेत । गवात्वा हिंकारेणाभि हिंकरोमीति त्रिमूर्धानमभिहिंकुर्यात् ॥११॥

अथातो देवः परिसरः । एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलत्यथैतन्म्रियते यन्न ज्वलति तस्यादित्यमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः । एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यथा मर्त्यो दृश्यतेऽथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः । एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्विद्यु द्विद्योततेऽथैतन्म्रियते यन्न विद्योतते तस्य वायुमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः । ता वा एताः सर्वा देवता वायुमेव प्रविष्य वायौ तृप्ता न मूर्च्छन्ते तस्माद्धैव पुनरुदीरत इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मम् । एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्वाचा वदत्यथैतन्म्रियते यन्नं वदति तस्य चक्षुरेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः । एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चक्षुषा पश्यत्यथैतन्म्रियते यन्न पश्यति तस्य श्रोत्रमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः । एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यन्मनसा ध्यायत्यथैतन्म्रियते यन्न ध्यायति तस्य प्राणमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः । ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणमेव प्रविश्य प्राणे क्लृप्ता न मूर्च्छन्ते तस्माद्धैव पुनरुदीरते । तद्यदिह वा एवं विद्वाँस उभौ पर्वतावभिप्रवर्तयातां तस्तूर्षमाणौ दक्षिणश्चोत्तरश्च न हैवैनं त्रीणि वीयताम् । अथ य एन द्विषन्ति यांश्च स्वयं द्वेष्टि त एनं सर्वे परितो म्रियन्ते ॥१२–१३॥

परदेश से लौटकर आया हुआ पिता अपने पुत्र के मस्तक को

सूँघ कर कहे—'हे पुत्र ! तुम मेरे ही अङ्ग और हृदय से प्रकट हुए हो। तुमने मेरी नर्क से रक्षा की है। तुम सौ वर्ष तक जीवित रहो। तुम वंश की परम्परा को छिन्न मत होने देना और मन, वचन, काया से कभी पीड़ित न होना। जैसे गौ अपने बच्चों के लिए रँभाती है वैसे ही प्रेमपूर्वक मैं भी तुमको पुकारता हूँ ॥११॥

अब देव-परिमर (परिसर) का विवेचन किया जाता है। जब यह लौकिक अग्नि बुझ जाती है। ( मर जाती है ) तो उसका तेज सूर्य में चला जाता है। जब सूर्य दिखाई नहीं देता तो उसका तेज चन्द्रमा में आ जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा का तेज विद्युत में और विद्युत का वायु में प्रविष्ट कर जाता है ॥१२॥

इसी प्रकार मनुष्य वाणी द्वारा जो बात करता है वह ब्रह्मरूप ही है। जब वाणी बन्द रहती है तो उसका तेज चक्षु को मिल जाता है। जब चक्षु बन्द हो जाते हैं तो उनकी शक्ति कानों को प्राप्त हो जाती है। जव कान की शक्ति समाप्त हो जाती है तो वह मन में मिल जाती है। जब मन भी निष्क्रिय हो जाता है तो उसका तेज प्राणों में मिल जाता है। फिर प्राणों से ही इन सब शक्तियों का फिर से आविर्भाव होता है। जिस पुरुष को इस 'दैवी परिमर' का ज्ञान होता है उसकी आज्ञा को पर्वत भी अमान्य नहीं कर सकते और उससे द्वेष रखने वाले सर्वथा नष्ट हो जाते है ॥१२-१३॥

अथातो निःश्रेयसादानम्। सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमाना अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुः। तद्दारुभूतं शिश्ये। अथ हैनद्वाक्प्रविवेश तद्वाचा वदच्छिश्य एव। अथ हैनच्चक्षुः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एव। अथ हैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एव। अथ हैनन्मनः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्याय-

च्छ्रिष्य एव । अथ हैनत् प्राण प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ तद्देवाः प्राणे निःश्रेयसं विजित्य प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः । ते वायुप्रतिष्ठाकाशात्मानः स्वर्जयः । तथो एवंवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माच्छरीरादुत्क्रामति स वायुप्रतिष्ठाकाशात्मा स्वरेति सद्भवति यत्रैतद्देवास्तत् प्राप्य तदमृतो भवति यदमृतो देवाः ।।१४।।

वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि के देवता एक बार अहंकारवश अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्राण के साथ ही शरीर से निकल गये । इसके पश्चात् इन इन्द्रियों के देवताओं ने एक-एक करके देह में प्रवेश किया तो शरीर बोलने, देखने, सुनने, विचारने तो लग गया पर प्राण के अभ व से उठकर कार्यक्षम न बन सका । तब सब इन्द्रियों ने प्राण की श्रेष्ठता को स्वीकार किया और उसके साथ वायु में प्रतिष्ठित होकर आकाश स्वरूप होकर स्वर्ग को गमन किया और अन्त में अमृतत्व के स्वरूप को प्राप्त कर लिया ।।१४।।

अथातः पित्रापुत्रो यं संप्रदानमिति चाचक्षते । पिता पुत्रं प्रेष्याह्वयति । न नवैस्तृणैरागारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा संप्रच्छन्नं ह्यत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिष्पद्येत इन्द्रियैरस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वाऽस्याभिमुखत एवासीत । अस्थस्मै संप्रयच्छति-वाचं मे त्वयि दधानीति पिता, वाचं ते मयि दध इति पुत्रः । चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता, चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः । श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता, श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रः । मनो मे त्वयि दधानीति पिता, मनस्ते मयि दध इति पुत्रः । अन्नरसान् मे त्वयि दधानीति पिता, अन्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः । कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता, कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः । सुखःदुःखे मे त्वयि दधा-

नीति पिता, सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्रः। आनन्दं रतिंप्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता, आनन्द रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः। इत्या मे त्वयि दधानीति पिता इत्यास्ते मयि दध इति पुत्रः। धियो विज्ञातव्यं कामान् मे त्वयि दधानीति पिता, धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रः। अथ दक्षिणाप्राक् प्राङ् परिक्रामति तं पिता न मन्वयति-यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामिति अथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनाऽन्तर्धाय वसनान्तेन वा प्रच्छाद्य स्वर्गान् लोकान् कामानवाप्नुहीति स्वयं ह्य कतः स्यात् । पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत परि वा व्रजेयुः। यद्यु वै प्रयुज्यादेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति ॥१५॥

जब पिता को अपने अन्तकाल का निश्चय हो जाय तो पुत्र को बुलाकर अपनी प्राण-शक्ति को उसमें प्रतितिष्ठित करदे । इसके लिए वह पुत्र का सर्वांग से स्पर्श करके अपनी वाक् प्राण, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न-रस, कर्म, सुख-दुख, सन्तानोत्पत्ति शक्ति, गतिशक्ति, बुद्धि आदि को उसे प्रदान करे और पुत्र उसको ग्रहण करे । इसके पश्चात् पिता यदि जीवित रहे तो पुत्र के आश्रय में रहे या संन्यासी होकर चला जाय । इस प्रकार पुत्र को पिता की सभी शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं और वह उसका वास्तविक उत्तराधिकारी हो जाता है ॥१५॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

## तृतीयोऽध्यायः

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण च । तं हेन्द्र उवाच प्रतर्दन वरं ते ददानीति । स होवाच प्रतर्दनस्त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति ।

तं हेन्द्र उवान्च न वै वरं परस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेति । अवरो वै तर्हि किल म इति होवाच प्रतर्दनः । अथो खल्विन्द्रः सत्या देवतेयाय सत्तं हीन्द्रः । स होवाच मामेव विजानीह्येतवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयां विशीर्षाणं त्वाष्ट्र-महनमरुङ्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः सधा अति-क्रम्य दिवि प्रह्लादीनतृणमन्तरिक्षे पौयोमान् पृथिव्यां काल-काश्यांतस्य मे तत्र न लोम च मीयते । स वो मां विजानीयान्नस्य मीयते न मातृवधेन पितृवधेन न स्तेयेर न भ्रूणहसथा नास्य पापं केन च कर्मणा लोको च न चक्रुषो मुख नील वेत्तीति ॥१॥ स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञाऽऽमा त मामायुरमृतमित्युपास्स्वायु प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण प्राण उवा अमृत यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति द्वावदायुः प्राणेन ह्येवामुष्मिल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति ।

प्रज्ञया सत्यसंकल्पः स यो न आयुरमृतमित्युपास्ते सार्वमायुरस्मिल्लोक आप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके । तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति । न हि कश्चन शक्नुयात् सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चलुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातमिति एक भूयं वै प्राणा एकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति । वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति चक्षुः पश्यत् सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति श्रोत्र शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति मानो ध्यायत् सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्तीति एवमु हैवैतदिति हेन्द्र उवाचास्तीत्येव प्राणानां निःश्रेयसमिति।२। जीवति वाग्पेतो मूकान् विपश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान् विपश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान् विश्यामो जीवति राहु-च्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न इत्येवं हि पश्याम इति प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति ।

अथ खलु तस्मादेतमेवोक्थमुपासीत । यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः । सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः । तस्यैषैव दृष्टिरेतद्विज्ञानम् । यत्रैतत् पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यातैः सहाप्येति । स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवंतस्मादात्मनः प्राणा यथाऽऽयतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः । तस्यैवैष सिद्धिरेतद्विज्ञानम् । तत्रैतत् पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यं न्येत्य मोहं ने (न्ये) ति तदाऽऽहुरुदक्रमीच्चित्तं न शृणोति न पश्यति न वाच वदति । अथास्मिन् प्राण एवैकधा सवयि तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्र सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यातैःसहाप्येति । स यदा प्रतिबुध्यतेयथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गाविप्रतिष्ठेरवनैमेवं तस्मादात्मनः प्राणा यथाऽऽयतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका ॥३॥

एक बार राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन स्वर्गलोक में गए। उनके अद्वितीय रण-चातुर्य और पुरुषार्थ को देखकर इन्द्र अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'मैं आपको क्या वर दूँ ? इस पर प्रतर्दन ने कहा—'सुरराज ! आप जिस वस्तु को मानव जाति के लिए कल्याणकारी समझें वही मुझे दे दें। वर देने के लिए क्या हो, वह आप ही चुनें।' तब इन्द्र बोले—'यह बात सभी जानते हैं कि वर किसी अन्य के लिए नहीं माँगा जाता, अतः आप जो माँगना चाहें, अपने लिए ही मांगें।' प्रतर्दन ने कहा 'तब तो मेरे लिए मांगने को ही कुछ नहीं है।' यह सुनकर इन्द्र अपने वचन से नहीं डिगे। इन्द्र सत्यरूप हैं। वे बोले-प्रतर्दन ! आप मुझे जानिये। मानव जाति के लिए यही कल्याणकारी है कि मुझे भले प्रकार जान लिया जाय।'

प्रजापति का जो पुत्र तीन शिर वाला था, उस विश्वरूप का मैंने वज्र से वध कर डाला। अनेकों आश्रमोचित आचरण से भ्रष्ट हुए संन्यासियों के अंग-भंग कर श्रृगालों को दिये। अनेक बार प्रहलाद के परिचारक राक्षसों को मार दिया। पुलोमासुर के परिचारक राक्षसों और कालकाश्य नामक दैत्यों को नष्ट किया। परन्तु मेरा एक बाल भी क्षीण न हो सका। इस प्रकार मुझे जान लेने पर ज्ञाता का पुण्य-लोक अक्षुण्ण रहता है।

जो मेरे रूप का ज्ञाता है, उसे कोई महापाप भी नहीं सताता। वह किसी पाप का भागी ही नहीं होता। पाप की प्रवृत्ति जागरित होने पर भी उसके मुख से नीलापन नहीं झलकता ॥१॥

इन्द्र ने पुनः कहा मैं प्रजा का साक्षात्रूप प्राण हूँ। उस प्राण और प्रजारूप आत्मायुक्त जाने हुए मुझ इन्द्र को तुम आयु और अमृत मानकर उपासना करो।'

'प्राण अमृत है, वही आयु है और आयु ही प्राण है। इस देह में प्राण के स्थित रहने तक ही आयु रहती है। परन्तु प्राणरूप प्राणी परलोक में जाकर अमृतत्व का आनन्द-लाभ करता है।

'सत्यासत्य का निर्णय प्रज्ञा द्वारा ही किया जाता है। मुझ इन्द्र को आयु और अमृत मानकर जो मेरी उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण आयु को प्राप्त करता है और स्वर्ग की प्राप्ति होने पर कभी भी नष्ट न होने वाले अमृतत्व का आनन्द प्राप्त करता है।

'प्राण के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि समस्त प्राण एक भाव वाले ही हैं। कोई भी व्यक्ति कानों से सुनने, मन से विचार करने, नेत्र से देखने, वाणी से कहने में एक साथ समर्थ नहीं होता, अतः यह यथार्थ है। कि सब प्राण एक भाव वाले ही हैं। इसके द्वारा प्रत्येक विषय का अनुभव पृथक-पृथक समय में ही होता है।

जब मन विचार करता है तब अन्य सभी प्राण उसके सहयोगी होकर विचारमग्न हो जाते हैं। नेत्र किसी वस्तु को देखने लगते हैं तब अन्य प्राण उनका अनुसरण करते हैं। वाणी जब कुछ कहती है तब अन्य प्राण उसके सहायक होते हैं। कान जब सुनने लगते हैं तब अन्य सभी प्राण उनके साथी हो जाते हैं। मुख्य प्राण के कार्य में अन्य प्राणों का पूर्ण सहयोग होता है।

इन्द्र बोले—सब प्राण एक है। इन पाँचों प्राण अत्यन्त कल्याण-स्वरूप हैं। यह बात यथार्थ है॥२॥

वाणी से शून्य मनुष्य जीवित रहते हैं, गूँगे व्यक्ति इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। नेत्र-विहीन व्यक्ति भी जीवित रहते हैं। बहरे भी श्रवण शक्तिहीन होकर नहीं मरते। मनरूप शक्ति के न होने पर भी छोटे-छोटे बालक जीवित रहते हैं। अंग-भंग हो जाने पर भी मनुष्य जीवित रह सकता है। परन्तु प्राणहीन होने पर कभी जीवित नहीं रह सकता।

क्रियाशक्ति का बोध कराने वाला प्राण ही ज्ञान में प्रवृत्त कराने वाला प्रज्ञात्मा है। यही इस देह को सब ओर से पकड़ कर विभिन्न क्रियाएँ कराता है अतः इस प्राण को ही उक्त मानकर उपासना करे। जो प्राण रूप से प्रसिद्ध है, वही प्रज्ञा है। प्रज्ञा और प्राण दोनों का देह में एक साथ ही निवास है और यह प्राणों से मिलकर साथ ही ऊँचे उठते हैं। प्राणमय ब्रह्म का यही यथार्थ ज्ञान है। जब प्राणी मुख्य प्राण में एकीभाव को प्राप्त होता है, तब वह सुषुप्तावस्था में भी स्वप्न नहीं देखता। उस अवस्था में प्राणी अपने नामों के साथ, नेत्र रूपों के साथ, कान सब शब्दों के साथ और मन सभी चिन्तनों के साथ एक मुख्य प्राण में लीन हो जाते हैं।

जैसे प्रज्वलित अग्नि से सब ओर को चिनगारियां निकलती हैं, वैसे ही मनुष्य के जानने पर प्राणरूप आत्मा से वाणी आदि सभी प्राण निकल कर अपने-अपने स्थानों को ग्रहण करते हैं, फिर उनसे अग्नि आदि देवता प्रकट होकर विभिन्न विषयों के प्राकट्य का कारण बनते हैं।

प्राणरूप आत्मा सिद्धि आगे बताई जा रही है। जब मनुष्य रोगार्त्त होकर मरने लगता है, तब वह शक्तिहीन होकर चैतन्यता रहित हो जाता है उस समय वह किसी भी परिचित व्यक्ति अथवा प्रियजन को पहिचानने में समर्थ नहीं होता। तब कहा जाता है प्राणोत्क्रमण हो रहा है। उस समय वह न देखता है, न सुनता है, न कुछ कहता है और न कुछ चिन्तन कर सकता है; केवल प्राणों में ही लीन हो जाता है, उस अवस्था में नाम रूप, शब्द एवं चिन्तनीय विषय सब कुछ प्राण में मिल जाते है। परन्तु जब वह मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म ग्रहण करता है, उस समय, जैसे प्रज्वलित अग्नि से सब ओर से चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही प्राण रूप आत्मा से पाचों प्राण निकलकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करते हैं और उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होकर लोक, आदि को प्रकट कर देते हैं ॥३॥

स यदाऽऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति वागस्मात् सर्वाणि नामान्यभिविसृजते वाजा सार्वाणि नामान्यप्नोति प्राणोऽस्मात् सर्वात् गन्धानभिविसृजते प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति चक्षुरस्मात् सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति श्रोत्र, मस्मात् सर्वात् शब्दानभिविसृजते श्रोत्रेण सर्वान् शब्दानाप्नोति मनोऽस्मात् सर्वाणि ध्यातान्यभिविसृजत मनसा सर्वाणि ध्याताभ्याप्नोति। सषा प्राणे सर्वाप्तिः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः स ह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः।

अथ खलु यथा प्रज्ञायां सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्यामः ।। ४ ।।

वागेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य नाम परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । घ्राणमेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य गन्धः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । चक्षुरेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य रूपं परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । श्रोतमेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य शब्दः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । जिह्वैवास्या एकमङ्गलदूढं तस्यान्नरसः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । हस्तावेवास्या एकमङ्गमुदूढं तयोः कर्म परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । शरीरमेवास्या एकमङ्गमुदूढ तस्य सुखदुःखे परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । उपस्थ एवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । पादावेवास्या एकमङ्गमुदूढं तयोरित्या परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा । प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यै धियो विज्ञातव्यकामाः परस्तात् प्रतिविहिता भूतमात्रा ।। ५ ।।

शरीर से उन्मुक्त होने वाला प्राणी जब उत्क्रमण करता तब वह इन सब इन्द्रियों के सहित उत्क्रमण करता है । उस समय वाणी सब नामों को त्याग देती है, घ्राणेन्द्रिय गन्धों से रहित हो जाती है, नेत्र सब रूपों से शून्य हो जाते हैं, कान सब शब्दों को त्याग देते हैं, मन सभी चिन्तनीय विषयों का परित्याग कर देता है । इस प्रकार प्राणरूप आत्मा में सभी इन्द्रियाँ समर्पित हो जाती हैं और अपने-अपने विषयों का पूर्णतः त्याग कर देती हैं ।

प्राण ही प्रज्ञा है, प्रज्ञा ही प्राण है, दोनों ही देह में एक साथ निवास करते हैं और एक साथ ही इनका उत्क्रमण होता है ।

इस प्रज्ञा में जिस प्रकार सब भूत एक हो जाते हैं, अब उसकी व्याख्या की जायगी ॥४॥

प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति वाणी रूप इन्द्रिय ने की है। उसके विषय के अनुरूप बाहर की ओर भूतों का अंशरूप नाम है। प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति घ्राणेन्द्रिय ने भी की है। उसके विषय के अनुरूप गन्ध है। प्रज्ञा के एक अंश की पूर्ति नेत्र ने की है। उसके विषयानुरूप रूप है। प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति श्रोत्रेन्द्रिय ने की है, उसके विषय के अनुरूप शब्द है। जिह्वा ने भी प्रज्ञा के एक अङ्ग को पूर्ण किया है, उसके विषय के अनुरूप अन्न का रस है। हाथों ने भी प्रज्ञा के एक अङ्ग की पूर्ति की है, उनके विषयानुरूप कर्म है। देह ने भी प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। उसके विषय के अनुरूप सुख और दुःख है। प्रज्ञा के एक अंग को उपस्थ ने भी पूर्ण किया है। उसके बाह्य विषय रति एवं प्रजनन कर्म हैं। पाँवों ने भी प्रज्ञा के एक अंग का पूर्ण किया है। उनका बाह्य विषय चलना-फिरना है। प्रज्ञा के एक अंग को प्रज्ञा ने ही पूर्ण किया है। उससे सम्बन्धित बाह्य विषय बुद्धि के द्वारा अनभूत वस्तुएँ और मनुष्योचित कामनाएं हैं ॥५॥

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति। प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति। प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वान् शब्दानाप्नोति। प्रज्ञया जिह्वां समारुह्य जिह्वया हि सर्वानन्नरसानाप्नोति। प्रज्ञया हस्तौ समारुह्य हस्ताभ्यां सर्वाणि कर्माण्याप्नोति। प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुख-दुःखे आप्नोति। प्रज्ञयोपस्थं समारुह्योपस्थेनानन्दं रतिं प्रजाति-माप्नोति। प्रज्ञया पादौ समारुह्य पादाभ्यां सर्वाइत्या आप्नोति। प्रज्ञयैव धियं समारुह्य प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्य कामानाप्नोति ॥६॥

न हि प्रज्ञाऽपेता वाङ्नाम किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतन्नाम प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतः प्राणो गन्धं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतं गन्धं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं चक्षू रूपं किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतद्रूपं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं श्रोत्रं शब्दं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतं शब्दं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेता जिह्वाऽन्नरसं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतन्नरसं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतौ हस्तौ कर्म किंचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्कर्म प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं शरीरं सुखदुःखे किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्सुखदुःखे प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेत उपस्थ आनन्दं रतिं प्रजातिं कांचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतमानन्दं प्रजातिं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतौ पादावित्यां कांचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतामित्यां प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेता धीः काचन सिद्ध्येन्न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत ॥ ७ ॥

प्रज्ञा के द्वारा ही मनुष्य वाणी को वश में रख कर नामों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा के द्वारा ही प्राण पर अधिकार कर सब प्रकार की गन्धों को ग्रहण करने वाला होता है। चक्षुओं पर भी प्रज्ञा के द्वारा ही अधिकृत होकर रूपों का ग्रहण होता है। प्रज्ञा ही श्रोतों के द्वारा शब्दों को ग्रहण करती है, जिससे सुनने की क्रिया सम्पन्न होती है। प्रज्ञा द्वारा ही जिह्वा अन्न रसों को ग्रहण कर विभिन्न प्रकार से स्वादों का आस्वादन कराती हैं। प्रज्ञा द्वारा ही हाथ विविध कर्मों के लिए क्रियाशील होते हैं। प्रज्ञा द्वारा मानव शरीर विभिन्न प्रकार के सुख-दुःखों का भोग करता है। प्रज्ञा ही उपस्थ भोगजनित प्रजनन किया करता है प्रज्ञा द्वारा ही पांव गमनागमन की क्रिया वाले होते हैं। प्रज्ञा

द्वारा प्रज्ञा पर अधिकार कर मानव विभिन्न इच्छाओं को ग्रहण करता है ।६।

प्रज्ञाहीन वाणी किसी नाम का बोध कराने में समर्थ नहीं है। ऐसी अवस्था में कहा जाता है 'मेरा मन अमुक ओर था, मैं इस बात को नहीं समझ पाया। 'प्रज्ञाहीन घ्राणेन्द्रिय गंध-बोध से शून्य रहती है। प्रज्ञाहीन नेत्र रूप का ज्ञान नहीं कर सकते। प्रज्ञाहीन श्रोत्र किसी भी शब्द को नहीं सुन सकते। प्रज्ञा-विहीन जिह्वा अन्न-रसो का स्वाद नहीं ले सकती। प्रज्ञाहीन हाथ किसी कर्म का ज्ञान न होने से निष्क्रिय रहते हैं। प्रज्ञा-हीन देह किसी भी सुख दुःख का अनुभव करने में समर्थ नहीं है। प्रज्ञा-हीन उपस्थ प्रजनन क्रिया नहीं कर सकता। प्रज्ञा-रहित पाँव कहीं जाने आने का ज्ञान नहीं रख सकते। प्रज्ञा के बिना कोई बौद्धिक कार्य भी सिद्ध नहीं हो सकता ।७।

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्याम् नो गन्धविजिज्ञासत घ्रातारं विद्यात् न रूपं विजिज्ञासीत रूपविदं विद्यात्। न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यात्। नान्नरसं विजिज्ञासीतान्नरसविज्ञातारं विद्यात्। न कर्मं विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यात्। न सुख-दुःखे विजिज्ञासीत सुखदुःखयोर्विज्ञातारं विद्यात्। नानन्दं रतिं प्रजातिं विजिज्ञासीतानन्दस्य रतेः प्रजातेर्विज्ञातारं विद्यात्। नेत्यां विजिज्ञासीतैतारं विद्यात्। न मनो विजिज्ञासीत मन्तारं विद्यात्। ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युर्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः ॥ ८ ॥

न ह्यन्ततरतो रूपं किंचन सिध्येत्। नो एतन्नाना। तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूत मात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्रा प्राणे अर्पिताः। स वा एष

प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतो साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान्। एव ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते। एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः स म आत्मेति विद्यात् स स आत्मेति विद्यात् ॥ ८ ॥

वाणी को जानने से कोई लाभ नहीं, वाणी को प्रेरित करने वाले आत्मा को जानना चाहिए। गन्ध को जानने का यत्न न करे, गंध-ग्राहक आत्मा को जानना चाहिए। रूप को जानने का प्रयत्न व्यर्थ है, रूप के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिए। शब्द को जानने की इच्छा व्यर्थ है, शब्द के सुनने वाले आत्मा को जानना चाहिए। अन्न-रस के ज्ञान की कामना व्यर्थ है, अन्न-रस के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिए। कर्म को जानना व्यर्थ है, कर्म कर्त्ता आत्मा को जानना चाहिए। सुख-दुखों के ज्ञान की जिज्ञासा व्यर्थ है, सुख दुःख के जानने वाले और अनुभव करने वाले आत्मा को जानना चाहिए। प्रजनन-कर्म और उसके आनन्द को जानना व्यर्थ है, प्रजोत्पत्ति के जानने वाले आत्मा को जानना चाहिए। आने-जाने की क्रिया को जानने की इच्छा व्यर्थ है, गमनागमन के साक्षी आत्मा को जानना चाहिए। मन को जानने की जिज्ञासा न करे, मननशील आत्मा को जानना चाहिये।

प्रज्ञा में स्थित नाम आदि विषय यह दस भूत मात्राएँ हैं तथा भूतों में स्थित वाणी आदि इन्द्रियां, यह दस ही प्रज्ञा मात्राएँ हैं। भूत मात्राओं के न होने पर प्रज्ञा-मात्राओं का अस्तित्व भी सम्भव नहीं है। इन दोनों में से कोई अकेला ही किसी विषय विशेष को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इसलिए भूतमात्रा और प्रज्ञामात्रा दोनों की स्थिति आवश्यक है।

प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा के स्वरूप में कोई विभिन्नता नहीं है। जैसे रथ की नेमि अरो में और अरे रथ-नाभि के आश्रित रहते हैं, वैसे ही भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओं में प्रज्ञामात्राएँ प्राण में स्थित हैं। यह प्राण ही अजर, अमर, सुखमय और प्रज्ञात्मा है। वह प्राण श्रेष्ठ कर्मों से वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और बुरे कर्मों से घटता भी नहीं है। प्रज्ञा और प्राण रूप परमेश्वर ही जिस मनुष्य को ऊपर के लोकों में पहुँचाना चाहता है, उसमें शुभ कर्म कराता है। तथा जिस मनुष्य को नीचे धकेलना चाहता है, उससे दुष्ट कर्म करता है। यह आत्मा सब लोकों का अधीश्वर, लोकपाल एवं सब का स्वामी है। ऐसे गुणों वाला प्राण ही आत्मा है।८-९।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

## चतुर्थोऽध्यायः

गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस सोऽयमूषीनरेषु सत्वमत्स्येषु कुरुपाञ्चालेषु काशीविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति। त होवाचाजातशत्रुः सहस्रं दद्य एतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति।१।

स होवाच बालाकिये एवैष आदित्ये पुरुस्तमेवाहमुपास इति। न होवाचाजातशत्रुर्मामैतं तस्मिन् समवादयिष्ठा बृहन् पाण्डारवासाऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धेति वा अहमेतद्धा उपास इति। स यो हैतमवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति ॥ २ ॥

गार्ग्य नामक एक गर्गवंशीय ब्राह्मण थे उनके पिता का नाम बलाका था। उन्होंने सब वेदों का भले प्रकार स्वाध्याय किया था तथा वे वेद विषयक प्रवचन भी किया करते थे। उन दिनों उनकी बड़ी प्रसिद्धि

थी। वे उशीनर देश के रहने वाले थे परन्तु अपने घर पर न रह कर अधिकतर भ्रमण करते रहते । इस प्रकार वे कभी काशी में, तो कभी कुरुक्षेत्र या पंजाब में, कभी मत्स्य देश में, तो कभी मिथिला में निवास करते थे ।

एक बार वे काशी के राजा अजातशत्रु के पास पहुंचे। अजातशत्रु भी बड़े विद्वान् थे । उनसे गार्ग्य ने अहंकारपूर्वक कहा 'मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दूंगा ।' यह सुनकर राजा ने कहा—ब्रह्मन् ! मैं आपकी इस कृपा लिये एक सहस्र गौऐं देता हूं । इस काल तो लोग जनक, जनक कहते हुए राजा जनक के पास ही दौड़ते हैं' ।१।

विप्रवर गार्ग्य कहने लगे—'सूर्य मण्डल में जो परमेश्वर निहित है मैं उसी की ब्रह्म-बुद्धि द्वारा साधना करता हूँ ।' इस पर राजा अजातशत्रु बोले-'ब्रह्मन् ! आप इस विषय में कुछ न कहें । अवश्य ही यह शुक्ल वस्त्रधारी सब से महान् है । यह सबको लाँघकर सबसे ऊँचा स्थित है। यह सबका शीश है । मैं इसकी इसी भाँति उपासना करता हूँ । जो मनुष्य सूर्य-मण्डल में स्थित उस पुरुष की इसी प्रकार उपासना करता है, वह सबको लाँघकर सबसे ऊँचा पहुंचता है और सब प्राणियों के मस्तक के समान हो जाता है' ।२।

स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहं ब्रह्मोपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् समवादयिष्ठाः सोमो राजन्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति ॥३॥

स होवाच बालाकीर्य एवैष विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन समवादयिष्टास्तेजस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते तेजस्यात्मा भवति ॥४॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष स्तनयित्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् समवायिष्ठाः शब्दस्थात्मेति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति ॥५॥

स होवाच बालकिर्य एवैष अकाशे पुरुस्तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मामितस्मिन् समवादायिष्ठाः पूर्णमप्रवति ब्रंह्मेति वा अहमैतमुपास इति । स यो हैतमेचमुपास्ते पूर्यते प्रजया शशुभिर्नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते ॥६॥

तब बलाका-तनय गार्ग्य ने कहा-'चन्द्रमण्डल में प्रतिष्ठित अंतर्यामी परमेश्वर का मैं उपासक हूं । वही ब्रह्म है ।' ऐसा सुनकर अजातशत्रु तुरन्त बोले-'इस विषय पर कुछ न कहें । यह चन्द्रमा सब का राजा है, यही अन्न का प्राण है । इसकी मैं इसी प्रकार उपासना करता हूँ । जो मनुष्य चन्द्रमण्डल में प्रतिष्ठित इस पुरुष की ब्रह्मरूप से उपासना करता है वह अवश्य ही अन्न का आत्मा हो जाता है ।६।

तब वे विप्रश्रेष्ठ गार्ग्य कहने लगे—विद्युन्मण्डलान्तर्गत यह जो अन्तर्यामी ब्रह्म है, मैं उसी का उपासक हूं ।' इस पर राजा अजातशत्रु तुरन्त बोले—'आप इस विषय में कुछ भी न कहें । मैं इसे तेज का आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूं । जो विद्युन्मण्डल में प्रतिष्ठित ब्रह्म की इस प्रकार उपासना करता है, वह तेज का आत्मा ही हो जाता है ।४।

बलाका के पुत्र विप्रवर गार्ग्य ने फिर कहा—'मेघमण्डल में प्रतिष्ठित अन्तर्यामी परमेश्वर की मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूं । इस पर राजा अजातशत्रु बोले—आप इस विषय में कुछ भी न कहें । मैं इस शब्द का आत्मा मानकर इसकी उपासना करता हूँ । इस प्रकार जो मनुष्य मेघ-मण्डल में स्थित ब्रह्म को शब्द का आत्मा मानकर उपासना करता है, वह शब्द का आत्मा हो जाता है ।५।

तब बलाका-तनय गार्ग्य बोले—'आकाश मण्डल में स्थित अन्तर्यामी पुरुष की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा—'आप इस विषय में कुछ न कहें'। यह तो प्रवृत्ति शून्य एवं पूर्ण ब्रह्म है, मैं इसको ऐसा मानकर ही उपासना करता हूं। जो मनुष्य आकाश मंडल में प्रतिष्ठित इस ब्रह्म की इस भाव से उपासना करता है, वह संतान और पशुओं से सम्पन्न होता है। उसकी संतति समय से पूर्व नहीं मरती ।।६।।

स होवाच बालाकिर्य एवेष वायो पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रूर्मामैतस्मिन्समवादयिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते जिष्णुर्ह वा पराजिष्णुरन्यतस्त्यजाया भवति ।।७।।

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन समवादयिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतसुपास इति। स यो हैतमेवामुपास्ते विषासहिर्वा एष भवति ।।८।।

स होवाच बालकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन समवादयिष्ठा नाम्नोऽस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्नोऽस्यात्मा भवति। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यातमम् ।।९।।

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातत्रुर्मामैतस्मिन समवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः ।।१०।।

बलाका—पुत्र विप्रवर गार्ग्य कहने लगे—'वायु मंडल में स्थित अंतर्यामी पुरुष की ब्रह्म भाव से उपासना करता हूं।' इस पर राजा अजातशत्रु बोले—'आप इस सम्बन्ध में कुछ न कहें। यह इन्द्र है यही

बैकुण्ठ है और यही कभी भी न हारने वाली वीरसेना है। मैं इसकी इसी भाव से उपासना करता हूं। जो मनुष्य इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती और वह सदा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है ॥७॥

बलाका नन्दन गार्ग्य ने कहा––'अग्नि मण्डल में स्थित जो अन्तर्यामी पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्म भाव से उपासना करता हूं।' इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा––'आप इस विषय में कुछ न कहें। यह विषासहि है, मैं इसकी इसी भाव से उपासना करता हूँ। जो साधक अग्नि मण्डल में स्थित पुरुष की इस भाव से उपासना करता है, वह दूसरों के आक्रमण को सहने में समर्थ होता है ॥८॥

गार्ग्य कहने लगे– 'वारि मण्डल में स्थित अन्तर्यामी पुरुष की मैं ब्रह्मभाव से उपासना करता हूँ।' इस पर राजा अजातशत्रु बोले-'आप इस विषय में कुछ न कहें। यह नामधारी जीवों का आत्मा है, ऐसा मानकर ही मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो उपासक इसी भाव से, इसकी उपासना करता है, वह नामधारी प्राणिमात्र का आत्मा हो जाता है। यह आधिदैविक उपासना कही गई है। अब आध्यात्मिक उपासना कहते हैं ॥९॥

बलाका के पुत्र सुप्रसिद्ध ब्राह्मण गार्ग्य ने कहा––'इस दर्पण स्थित पुरुष की मैं ब्रह्म भाव से उपासना करता हूं।' इस पर राजा अजातशत्रु बोले––'आप इस विषय में कुछ न कहें। मैं इसकी प्रतिरूप भाव से उपासना करता हूं। जो साधक दर्पण में स्थित पुरुष की इस भाव से उपासना करता है, वह प्रतिरूप गुण वाला होता है। उसकी सन्तान उसी के समान होती है ॥१०॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्रतिश्रुत्कायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् समवादयिष्ठा

द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयवान् भवति ॥११॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् समवादयिष्ठाः आयुरिति वा अहमेतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुराकालात् समोहमेति ॥१२॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष छायायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति । तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् समवादयिष्ठा मृत्युरिति वा अहमैतमुपास इति । स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुराकालत् प्रमीयते ॥१३॥

बलाका-तनय गार्ग्य कहने लगे—'मैं प्रतिध्वनि में निहित पुरुष को ब्रह्मा मानकर उपासना करता हूँ।' यह सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा—'आप इस विषय में कुछ न कहें। मैं इसे द्वितीय और अनपग मानकर उपासना करता हूं। जो मनुष्य ध्वनि में निहित पुरुष की इस भाव से उपासना करता है, वह स्वयं के सिवाय द्वितीय को प्राप्त करता हैं (अर्थात् वह अकेला कभी नहीं रहता, उसके साथ अन्य कुटुम्बीजन स्त्री, पुत्रादि भी होते है) ।११।

बलाका नन्दन सुप्रसिद्ध ब्राह्मण गार्ग्य ने कहा—'गमनशील पुरुष के पीछे ध्वनियुक्त पदचाप सुनाई देती है, उसमें जो ब्रह्म है, उसी की मैं उपासना करता हूं।' इस पर राजा अजातशत्रु बोले—'आप इसके संबंध में कुछ न कहें। मैं इसकी प्राणरूप से उपासना करता हूँ। जो मनुष्य उसकी इस प्रकार उपासना करता है वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है, अल्पायु में नहीं मरता। उसकी सन्तति भी पूर्ण आयु पाये बिना नहीं मरती ।१२।

बलका-तनय गार्ग्य कहने लगे—देहधारी के साथ जो छाया रहती है, मैं उस छाया पुरुष की ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस पर

अजातशत्रु बोले—'आप इस विषय में कुछ न कहें। यह छाया तो मृत्यु रूप है और मैं इसकी इसी भाव से उपासना करता हूं। जो इसकी इस रूप में उपासना करता है, वह समय से पूर्व नहीं मरता और न उसकी सन्तान ही समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होता है।१३।

स होवाच बाकिर्य एवैष शारीरः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामतस्मिन् समवादयिष्टाः प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिः ॥१४॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्राज्ञ आत्मा येनैतत् सुप्तः स्वप्नयया चरति तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् समवादयिष्ठा यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते सर्व हास्मा इद श्रेष्ठचाय यम्यते ॥१५॥

बलाका-तनय सुविख्यात गार्ग्य ने कहा—"यह जो पुरुष शरीर में निवास करता है, उसे मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूं। इस पर सुप्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा—आप इस विषय में कुछ भी न कहैं यह प्रजापति है, मैं इसकी इसी भावना से उपासना करता हूं। जो मनुष्य शरीर में निवास करने वाले पुरुष की प्रजापति भाव से उपासना करता है, वह प्रजाओं और पशुओं से परिपूर्ण रहता है।१४।

बलाका-तनय गार्ग्य ने कहा—'जो प्रज्ञावान् एवं प्राणरूप आत्मा है, उससे संयुक्त हुआ पुरुष सुषुप्तावस्था में स्वप्न मार्ग से विचरण करता है। मैं उसे ही ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।' इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा—'आप इसके संबंध में कुछ भी न कहें। मैं इसकी यमरूप से उपासना करता हूं। जो मनुष्य उसकी इस प्रकार उपासना करता है, उस उपासक को श्रेष्ठ मानने के लिए सम्पूर्ण विश्व उसके समक्ष झुकता है।१५।

स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा तस्मिन् समवादयिष्ठा नाम्न आत्माऽग्नेरात्मा ज्योतिष आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥१६॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येक्षऽन् पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन् समवादयिष्ठाः सत्यस्यात्मा विद्युत आत्मा तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥१७॥

तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास। त होवाचाजातशत्रुरेतावन्नु बालाका इति। एतावद्धि ति होवाच बालाकिः। तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै किल मा संविदिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति। तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रामोपायानीति। तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव स्यायत् क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेदेहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति। तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज। तौ ह सुप्तं पुरुषमीयतुः। तं हाजातशत्रुरामन्त्रयांचक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति। स उ ह तूष्णीमेव शिश्ये। तत उ हैनं यष्टया विचिक्षेप। स तत एव समुत्तस्थौ। तं होवाचाजातशत्रुः क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतगादिति। तदुभय बालाकिर्न विजिज्ञो ॥१८॥

बालका-पुत्र गार्ग्य बोले—"मैं इस दक्षिण चक्षु में स्थित पुरुष की ब्रह्म भाव से उपासना करता हूं। इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा—आप इसके विषय में कुछ भी न कहें। मैं इसे नाम, अग्नि और ज्योति को आत्मा मानकर उपासना करता हूं। जो पुरुष इसको इस भाव से उपासना करता है, वह इन सभी का आत्मरूप हो जाता है।

तब बलाका-तनय गार्ग्य ने कहा—'मैं इस वाम चक्षु में

स्थित पुरुष की ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।' इस पर राजा अजातशत्रु बोले—'आप इसके विषय में कुछ भी कहने का कष्ट न करें। यह सत्य, तेज और विद्युत का आत्मा है, इसकी मैं इसी रूप में उपासना करता हूँ। जो मनुष्य इस प्रकार उपासना करता है, वह इन सब का आत्मा होता है ॥१७॥

अब बालका तनय गार्ग्य मौन हो गए। इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा—'क्या आपका ब्रह्मज्ञान यहीं तक सीमित है?' गार्ग्य ने कहा—'यहीं तक है।' यह सुनकर अजातशत्रु ने पुनः कहा—'तब आपने ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने की कोई बात व्यर्थ ही कही थी। आपके कहे हुए इन सब पुरुषों का जो कर्त्ता है, वही जानने के योग्य है।

यह सुनकर बालका के पुत्र गार्ग्य हाथ में समिधा लेकर जिज्ञासु भाव से राजा अजातशत्रु के पास पहुँचकर कहने लगे—'मैं आपको गुरुरूप से वरण करने के लिए आया हूं।' इस पर राजा ने कहा—'क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण को शिष्य रूप में स्वीकार किया जाना लोकाचार के विरुद्ध होगा, अतः आप मेरे साथ आवें, मैं आपको ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कराऊँगा।

राजा ने गार्ग्य का हाथ पकड़ा और वहाँ से चलकर एक सोते हुए व्यक्ति के घर पहुंच कर उसे पुकारा—'हे राजा सोम! हे बृहन्! हे पांडरवासा!' इस प्रकार कई आवाज देने पर भी वह व्यक्ति न जागा। इस पर राजा ने उसके शरीर पर बेंत-प्रहार किया। चोट खाते ही मनुष्य जागकर खड़ा हो गया। तब राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा—'यह पुरुष चेतनाहीन होकर कहाँ सो रहा था? किस देश में सोता था। अब जागकर कहाँ से आ गया' ॥१८॥

तं होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदगात्। हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततमभिप्रतन्वन्ति यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिंगल-

स्याणिम्नातिष्ठन्ते शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति । तासु-तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कचन पश्यति । अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति । तथैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यातैः सहाप्येति । स यदा प्रतिबुध्यतेयथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेव-मेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः । तद्यथा क्षुरः क्षुरधाने ह्यतस्यास्य विश्वंभरो वा विश्वंभर कुलाय एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आ लोमस्य आ नकेभ्यः ॥१९॥

तमेतामात्मानमेतमात्मनोऽन्ववपश्यन्ति । यथा च श्रेष्ठिनं स्वास्तद्यथा श्रेष्ठैस्तभुंङ्क्ते तद्यथा वा श्रेष्टिनं स्वा भुञ्जन्त न्ति एवं श्रेष्ठिनं स्वास्त एवावर्धयाः । इन्द्र ऐतमात्मानं न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः । स यदा विजिज्ञावथ हत्वाऽसुरान् विजित्य सर्वेषां भूनानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति । तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद ॥२०॥

इन प्रश्नों का उत्तर गार्ग्य से न बन पड़ा । वे इस रहस्य को समझने में असमर्थ रहे । तब राजा अजातशत्रु पुनः कहने लगे—'जहाँ यह सोता था, जहाँ शयन किया था और जहाँ से यह जानकर चला आया है, वह स्थान बताता हूँ । हृदय-कमल सम्बन्धित 'हिता' नाम की अनेकों नाड़ियाँ हैं, वे हृदय-कमल से निकल कर सम्पूर्ण देह में फैली हुई हैं । एक बाल की नोंक को चीरने पर जो हजारवाँ अंश होता है, उतना सूक्ष्म इनका आकार है । वे नाड़ियाँ विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म सार से परिपूर्ण हैं । उनमें श्वेत, पीत, लोहित और कृष्ण यह सभी रंग निहित हैं । सुप्तावस्था में पुरुष उन्हीं नाड़ियों में लीन रहता है ।

सुषुप्तावस्था में भी जब मनुष्य स्वप्न नहीं देखता, तब प्राण में

ही लीन हो जाता है। उस समय वाणी अपने सब नामों सहित, नेत्र सब रूपों सहित, श्रोत्र सब शब्दों सहित और मन सब चिन्तनीय विषयों सहित प्राण में ही स्थित हो जाते हैं। जब मनुष्य जागता है तब प्रज्ज्वलित अग्नि से सब ओर चिनगारियाँ निकलने के समान प्राणरूप आत्मा से सब इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थान की ओर गमन करती हैं। उस समय उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्राणों से प्रकट होकर नाम आदि सब विषयों को प्रकट कर देते हैं। जैसे पेटी से उस्तरा रखा रहता है, वैसे ही देह में स्थित हृदय में अंगुष्ठ प्रमाण पुरुष के रूप में परमेश्वर निवास करता है। जैसे अग्नि अरणि आदि काष्ठों में वर्तमान रहता है, वैसे ही इस शरीर में आत्मा भी नख से शिखा पर्यन्त सर्वत्र विद्यमान है ॥१९॥ जैसे किसी शुभ गुण युक्त धनवान् के आश्रितजन उसके अनुगत रहते हैं, वैसे ही वाणी आदि सब इन्द्रियरूप प्राण देह में निवास करने वाले आत्मा के अनुगत रहते हैं। जैसे कोई धनिक अपने परिजनों के सहित भोग करता है और परिजन उस धनी के धन से भोग करने के कारण धनी को ही भोगते हैं, वैसे ही आत्मा वाणी आदि के साथ भोगता है और वह वाणी आदि भी आत्मा को भोगते हैं। जब तक देवराज इन्द्र ने आत्मा को नहीं जाना, तब तक दैत्यगण उन्हें हराते रहे। परन्तु जैसे ही उन्होंने आत्मा को जाना, वैसे ही उन्होंने दैत्यों का संहार किया और स्वर्ग का राज्य पाकर देवताओं में श्रेष्ठ हो गए। वैसे ही इस आत्मा के जानने वाला ज्ञानी अपने सब पापों को मिटाकर सब प्राणियों में श्रेष्ठ होकर सब का स्वामी बनता है। इस प्रकार जानने वाले को पूर्व कहे हुए सभी फलों की प्राप्ति होती है ॥२०॥

**॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥**

**॥ कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् समाप्त ॥**

# जाबालदर्शनोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शान्तिपाठ—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों, वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद ब्रह्मरूप हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुए मुझको उपनिषद् धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हरिः ॐ दत्तात्रेयो महायोगी भगवान्भूतभावनः।
चतुर्भुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः ॥१
तस्य शिष्यो मुनिवरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान्।
पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्जलिर्विनयान्वितः ॥२
भगवन्ब्रूहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम्।
येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥३
सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम्।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च ॥४
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम्।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने ॥५

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥६

सब प्राणियों की उत्पत्ति और पालन करने वाले चतुर्भुज भगवान् विष्णु ने महायोगी दत्तात्रेयजी के रूप में अवतार धारण किया दत्तात्रेय जी योग-साम्राज्य के अधिपति हैं। उनके शिष्य सांकृति नामक ऋषि अपने गुरु के परम भक्त है। उन्होंने एक बार एकान्त में अपने गुरु भगवान् दत्तात्रेय की सेवा में जाकर करबद्ध निवेदन किया—'भगवन्! मेरे प्रति अष्टांग योग का सविस्तार वर्णन करिये जिसे जानकर मैं जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर सकूँ ।१-३।

दत्तात्रेयजी ने कहा—'सांकृते ! मैं तुम्हारे प्रति अष्टांग योग-दर्शन का उपदेश करता हूं ! योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, और समाधि हैं। इनमें से यम के दस प्रकार है—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दया, आजव, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, परिमित, आहार और बाह्याभ्यंतरिक पवित्रता' ।४-६।

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन ।
कायेन मनसा वाचा हिंसाहिंसा न चान्यथा ॥७
आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो न ग्राह्य इति मे मतिः ।
सा चाहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥८
चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर ।
तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥९
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः ।
तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानपारगैः ॥१०
अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च ।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥११
आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम् ।

यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामते ।।१२
कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम् ।
ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ।।१३
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप ।।१४
स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा ।
अनुज्ञा या दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ।।१५

वेदोक्त विधि के अतिरिक्त मन, वाणी और शरीर के द्वारा यदि किसी को सताया जाता या उसके प्राणों को देह से पृथक् कर दिया जाता, तो वही यथार्थ रूप से हिंसा कही जाती है। इससे भिन्न कोई हिंसा नहीं है। यह भाव रखना कि सर्वत्र व्याप्त आत्मा का शस्त्र द्वारा छेदन नहीं हो सकता, हाथों या इन्द्रियों के द्वारा उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता, वेदान्त के ज्ञाता सन्तों ने 'अहिंसा' ही कहा है। नेत्रादि के द्वारा देखा, सुना सूँघा अथवा अनुभव किया गया विषय वाणी द्वारा कहना ही 'सत्य' है। इससे भिन्न कोई अन्य प्रकार सत्य का नहीं है। इसके विपरीत सत्यस्वरूप परमात्मा ही सर्वार्थरूप में सत्य है, परमात्मा से भिन्न, अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है, इस प्रकार का मत ही वेदान्त ज्ञान के विद्वानों ने सर्वश्रेष्ठ सत्य कहा है। दूसरों के धन-ऐश्वर्य-मणि, मुक्ता, रत्न, सुवर्ण आदि किसी भी बड़ी-छोटी वस्तु पर मन न चलना ही 'अस्तेय' है, विद्वज्जन इस अचौर्य को ही अस्तेय कहते हैं। संसार के सभी व्यवहारों में अनात्म-बुद्धि रखते हुए उन्हें आत्मा से भिन्न मानना भी ज्ञानी पुरुषों ने अस्तेय बताया है। मन, वाणी और देह के द्वारा नारी-संग का परित्याग अथवा अपनी पत्नी से ही ऋतु-काल में धर्मबुद्धि से संग करना ब्रह्मचर्य कहा गया है। अथवा काम क्रोधादि को दबा कर मन को परब्रह्म परमेश्वर के ध्यान में ही लगाये रखना सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मचर्य है। सब जीवों को अपने ही समान मानना और मन, वाणी,

देह के द्वारा उनके प्रति आत्मीय भाव रखना ही वेदान्त-ज्ञानियों ने दया का लक्षण बताया है ।।७-१५।।

पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि संततम् ।
एकरूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया ।।१६
कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडित ।
बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ।।१७
वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा ।
इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ।
अहमात्मा न चोन्योऽस्मीत्येवमप्रच्युमा मतिः ।।१८
अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम् ।
तस्माद्योगानुगुण्येन भोजन मितभोजनम् ।।१९
स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने ।
यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः ।
अह शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः ।।२०
अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधियते ।।२१
ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्य यो रमते नरः ।
स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत ।।२२
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्ववित् ।।२३
लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम् ।।२४
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादिसाधनैः ।
वात्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदनात् ।।२५

शत्रु, मित्र, पुत्र, स्त्री तथा अपने आत्मा में भी समान भाव रखना आर्जव मानता हूं। शत्रुओं द्वारा मन, वाणी और देह से भी पीड़ा

देने पर चित्त, बुद्धि में किंचित् क्षोभ उत्पन्न न होने देना क्षमा है। वेद की अनुकूलता से ही संसार में प्राणियों को मुक्ति प्राप्त होती है, इससे भिन्न किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं होती, इस प्रकार का दृढ़ निश्चय ज्ञानियों ने धृति बताया है।' मैं आत्मा हूं, आत्मा से अन्य कुछ नहीं हूं,' इस प्रकार की अविचल वृत्ति सर्वश्रेष्ठ धृति है। अल्प मात्रा में सात्विक अन्न का आहार करना, उसमें उदर के आधे भाग को अन्न से, और चौथाई भाग को जल से भर कर चौथाई भाग को खाली रखना, यह परमित आहार कहा गया है। इतना भोजन ही योग के अनुकूल माना गया है। मिट्टी और जल के द्वारा शरीर को पवित्र करना बाह्य शौच है। परन्तु ज्ञानीजन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ,' ऐसा भाव रखने को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते है। यह देह बाहर भीतर दोनों ओर से ही मलीन है, परन्तु देह का धारण करने वाला आत्मा अत्यन्त स्वच्छ है। इस प्रकार देह आत्मा के अन्तर का ज्ञान हो जाने पर फिर किसे पवित्र किया जाय? हे श्रेष्ठव्रत वाले मुनीश्वर! ज्ञानरूप पवित्रता को त्याग करके जो पुरुष बाहरी पवित्रता में ही रमा रहता है वह सुवर्ण को त्याग कर मिट्टी के ढेलों का संग्रह करने वाले मूर्ख के ही समान है। जो योगी ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त हो जाता है, संसार में उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। यदि कोई शेष समझे तो वह तत्वज्ञानी नहीं कहा जा सकता। आत्मज्ञानी सन्तों के लिये तीनों लोकों में कहीं भी कुछ कर्त्तव्य नहीं है। इसलिये तुम प्रयत्नपूर्वक अहिंसा आदि साधनों से अनुभव-युक्त-ज्ञान को पाकर इस आत्मा को ब्रह्मस्वरूप एवं अविनाशी समझो॥१०-२५॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

## द्वितीय खण्ड

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।

सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।।१
एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु ।।२

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः ।
शरीशोषण यत्तप– इत्युच्यते बुधैः ।।३

को वा मोक्षः कथं तेन संसारं प्रतिपन्नवान् ।
इत्यालोकनमर्थज्ञास्तपः शसन्ति पण्डिताः ।।४

यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम् ।
तत्संतोष विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः ।।५

ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम् ।
सर्वत्र विगतस्नेहः संतोषं परमं विदुः ।
श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते ।।६

न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने ।
अन्यद्वा यत्प्रदीयन्ते तद्दानं प्रोच्यते मया ।।७

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना ।
हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ।।८

सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं ध्रुवम् ।
प्रत्यगित्यवगन्तव्यं वेदान्तवण बुधाः ।।९

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता ।
वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत् ।।१०

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तत्र संबन्धवर्जितः ।
वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः ।।११

कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके ।
इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया ।।१२

जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥१३
वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः ।
मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमश्रितः ॥१४
उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते ।
मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुणमुच्यते ॥१५
उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।
नीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः श्रुतिश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥१६

तप, संतोष, दान, आस्तिकता, लज्जा, मति, जप, व्रत, ईश्वर पूजा और सिद्धान्तों का सुनना यह दस नियम कहे हैं, इनका वर्णन करता हूं। वेद में वर्णित कृच्छ और चान्द्रायण आदि व्रतों द्वारा देह क्षीण करने को ही विद्वजन 'तप' कहते हैं। मोक्ष के स्वरूप और आत्मा के संसार-बंधन को प्राप्त होने वाले कारण के विचार को ही तत्वज्ञानी जन 'तप' कहते हैं। ईश्वरेच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष एवं प्रसन्नता बनी रहे, उसे ही ज्ञानीजन संतोष समझते हैं। सर्वत्र अनासक्त रहकर ब्रह्मादि देवों के लोक तक के सुखों से विरक्ति हो और तब भी मन प्रसन्न रहता हो, वही श्रेष्ठ संतोष है। वेदों और स्मृतियों में कहे हुए धर्म में दृढ़ आत्मा का होना आस्तिकता कहा गया है। जो धन आदि आवश्यक वस्तुएं संकटग्रस्त वेदज्ञ पुरुषों अथवा श्रेष्ठ आचरण वालों को दी जाय, वह मेरी दृष्टि में 'दान' है ॥१-९॥

असत्य भाषण आदि दोषों से परे रहने से अदूषित वाणी, राग आदि विकारों के मुक्त रहता हुआ हृदय तथा हिंसा आदि क्रूरता से रहित कर्म ही ईश्वर-पूजन रूप हैं। यह आत्मा सत्य, ज्ञानरूप, सर्वोत्कृष्ट, नित्य, अनन्त और अन्तर्यामी है। इस सिद्धान्त को बारम्बार सुन कर उसके अनुकूल विश्वास करना ही सिद्धान्त श्रवण है। वैदिक और

लौकिक मार्गों में माने गए सिद्धान्त कर्मों के करने में जो स्वभावत: संकोच होता है वही लज्जा है। गुरुजनों के अनुमति देने पर भी वेद-विरुद्ध मार्ग का अवलम्बन न कर वेदोक्त उपदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखना ही मति है। वेदोक्त प्रकार से ही मन्त्रों के बारम्बार जाप को ही जप कहा गया है। वेदों के समान ही धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास और कल्प-सूत्रादि में मन का निरन्तर लगे रहना ही मेरे विचार में 'जप' है। जप के दो भेद कहे गए हैं। एक वाचिक जप और दूसरा मानसिक जप। वाचिक जप के भी दो भेद माने गये हैं एक 'उच्चै' और दूसरा 'उपांशु'। इसी प्रकार मानसिक जप के भी भेद हैं--एक मनन दूसरा ध्यान। उच्च स्वर द्वारा किए गए जप की अपेक्षा उपांशु जप सहस्र गुणा श्रेष्ठ कहा गया है। जप की अपेक्षा मानसिक जप करना उससे भी सहस्र गुणा श्रेष्ठ है। परन्तु, मन्त्र के चाँडाल आदि नीच व्यक्तियों द्वारा सुन लेने पर वह फलहीन हो जाता है।।८-१६।।

।। द्वितीय खण्ड समाप्त ।।

## तृतीय खण्ड

स्वस्तिक गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ।।१
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गवं।
जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ।।२
समग्रीवशिर: काय: स्वस्तिक नित्यमभ्यसेत्।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।। ३
दक्षिणेऽपि तथा सव्य गोमुखं तत्प्रचक्षते।
अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।।४
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम्।
पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम् ।।५

दक्षिणोतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत् ।
ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम् ।।६

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेवेतद्विषरोगविनाशनम् ।।७

निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मं दक्षिणोतरगुल्फतः ।
वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् ।।८
मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि ।
गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने ।।६

कूर्पराग्रे मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः ।
भूभ्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः ।।१०

समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ।।११
येन केन ऽकारेण सुखं धैर्यं च जायते ।
यत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ।।१२
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ।
अनेन विधिना युक्तः प्राणायानं सदा कुरु ।।१३

हे तपोधन ! नो प्रकार के आसन कहे गए हैं। स्वस्ति आसन, गोमुख आसन, पद्मासन, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुख-आसन। स्वस्तिकासन वह कहा जाता है जिसमें घुटनों और जंघाओं के मध्य दोनों पावों को भले प्रकार रखकर कण्ठ, मस्तक और देह को समान भाव से धारण किये रहे। नित्य अभ्यास करने से यह आसन सिद्ध होता है। दक्षिण पाद के घुटने को वाम ओर के पृष्ठ भाग तक ले जाय और वाम पाद के घूटने को दक्षिण ओर के पृष्ठ भाग तक ले जाय, यह

स्थिति गोमुखासन कही जाती है। दोनों पांवों को दोनों जांघों पर व्युत्क्रम से रखकर उनके अँगूठों को दोनों हाथों के द्वारा पीठ पीछे से पकड़े, इसे पद्मासन कहा गया है यह सभी रोगों के भय को दूर करता है। बांए पैर को दक्षिण जंघा पर रख कर देह को सीधा करके बैठे यही वीरासन है। दोनों घुटरों को अण्डकोष के नीचे दोनों पाश्वों में रखे और दोनों हाथों को घुटनों पर रख कर सब अँगुलियाँ फैलावे और मुँह खोल कर नाक के अग्रभाग पर दृष्टि करले और चित्त को एकाग्र करे, यह सिंहासन है। दोनों घुटनों को अण्डकोष के नीचे, पाश्वों में रखे और दोनों हाथों से पार्श्वभाग तथा पाँवों को दृढ़ता से बाँध कर बैठे, यह भद्रासन विष से उत्पन्न हुए रोगों का नाश करने वाला है। सीवन की बारीक रेखा को बांए घुटने से दबाकर दांये घुटने से बांए को दबाने पर मुक्तासन होता है। अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पाश्वों में रखे, फिर सिर और पाँवों को ऊँचा उठा कर आकाश में दण्ड के समान स्थित हो, यह मयूर आसन सब पातकों का नाश करने वाला है। जिस प्रकार बैठने से शरीर को सुख की अनुभूति हो और धैर्य में न्यूनता न आवे उस स्थिति को सुखासन कहते हैं। निर्बल साधक को इस आसन का आश्रय लेना चाहिये। जो आसन को जीत सका, उसने त्रिलोकी जीत ली समझो। तुम इसी प्रकार योग धारणपूर्वक सदा प्राणायाम करते रहो ॥१-१३॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

## चतुर्थ खण्ड

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यंगुणात्मकम् ।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥१

त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते ।
गुदात्तु द्वयंगुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्वयंगुलादधः ॥२

देहमध्यं मुनिप्रोक्तमनुजानीहिसांकृते ।
कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवांगुलम् ॥३

चतुरंगुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव ।
कुक्कुटाण्डसमाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥४

तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव ।
कन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता ॥५

तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाड्यो मुनिपुङ्गव ।
द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश ॥६

सुषुम्ना पिंगला तद्वदिडा चैव सरस्वती ।
पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी ॥७

अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी तपस्विनी ।
शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश ॥८

आसां मुख्यतमास्तिस्त्रस्तिस्वेकोत्तमोत्तमा ।
ब्रह्मनाड़ीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥९

पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत ।
सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥१०

हे सांकृते मानव शरीर अपने हाथ के नाप से ९६ अंगुल का होता है। इस देह के मध्यभाग में अग्नि का स्थान है तथा उसका रंग तप्त हुए सुवर्ण के समान तेजस्वी है। यह त्रिकोण आकृति का है। मेरी यह बात यथार्थ ही है। गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा उपस्थ से दो अंगुल नीचे का जो स्थान है, उसे ही मनुष्य-देह का मध्य भाग समझना

चाहिए। वही मूलाधार हैं। वहाँ से नौ अंगुल ऊपर कन्द स्थान है जिसकी लम्बाई-चौड़ाई चार-चार अंगुल की तथा आकृति कुक्कुटांड के समान है। वह ऊपर से चर्म आदि से मढ़ा हुआ है। हे मुनिपुङ्गव उसी कन्द-स्थान के मध्य में नाभि है ऐसा योग के तत्व जानने वालों का कहना है। कन्द के मध्य भाग में जो नाड़ी है, वह सुषुम्णा के नाम से कही गयी है। उसके चारों ओर बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। उनमें सुषुम्ण, पिङ्गला, इडा, सरस्वती, पूषा, वरुण, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी अलम्बुषा, कुहू, विश्वोदरी, पयस्विनी, शंखिनी और गांधारा यह चौदह नाड़ियाँ प्रमुख मानी जाती हैं। चौदह नाड़ियों में भी तीन उन सब में भी प्रमुख हैं। इन तीनों में भी एक सुषुम्णा नाड़ी सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। पीठ के मध्य भाग में जो मेरुदण्ड है वह हड्डियों की राशि मात्र है, उससे निकलती हुई सुषुम्णा नाड़ी मस्तक तक पहुँची है।१-१०।

नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यंगुलं मुने।
अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम ॥११

यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः।
परितः कन्दपार्श्वेषु विरुध्यैव सदा स्थिता ॥१२

स्वमुखेन समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने।
सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिंगला स्थिता ॥१३

सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते।
गांधारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपार्श्वयो ॥१४

पूषा यशस्विनी चैव पिंगला पृष्ठपूर्वयोः।
कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता ॥१५

यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठता।
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी ॥१६

गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ।
अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा ॥१७
पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः ।
अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते ॥१८
इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिया मुनिपुङ्गव ।
यशस्विनी च वामस्य पादांगुष्ठान्तमिष्यते ॥१९
पूषा वामक्षिपर्यन्ता पिंगलायास्तु पृष्ठतः ।
पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यये बुधैः ॥२०
सरस्वती तथा बोर्ध्वंगता जिह्वा तथा मुने ।
हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादांगुष्ठान्तमिष्यते ॥२१
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते ।
गान्धारा सव्यनेत्रन्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥२२
विश्वोदराभिधा नाडी कन्दमध्ये व्यवस्थिता ।

नाभि-कन्द से दो अंगुल नीचे ही कुण्डलिनी है जो कि आठ प्रकृतियों से युक्त मानी गई है । वह वायु की चेष्टा और जल-अन्न आदि का अवरोध कर सदा नाभिकन्द के दोनों पार्श्वों को घेरे रहती है और ब्रह्मरन्ध्र के मुख को अपने मुख से ढके रहहती है । सुषुम्णा नाड़ी के वाम भाग में इडा और दक्षिण भाग में पिंगला है, सुषुम्णा के दोनों पार्श्वों में सरस्वतो और कुहू हैं । इडा के पीछे गान्धारा तथा पूर्व भाग में हस्ति-जिह्वा है । कुहू और हस्तिजिह्वा के मध्य में विश्वोदरी स्थित है । यश-स्विनी और कुहू के मध्य में वरुण नाड़ी की स्थिति है । पूषा और सर-स्वती के मध्य में पयस्विनी नाड़ी कही जाती ह गांधारा और सरस्वती के मध्य भाग में शंखिनी है । नाभिकन्द के मध्य भाग से गुदा तक अल-म्बुसा गई हुई हैं सुषुम्णा को राका भी कहा गया है । उसी के पूर्व

भाग में कुहू नामक नाड़ी है। यह ऊपर और नीचे स्थित है। इसकी स्थिति दक्षिण नासिका तक समझी जाती है। इडा नामक नाड़ी की स्थिति वाम नासिका तक है। यशस्विनी नाड़ी दक्षिण पांव के अंगूठे तक फैली है। पूषा पिंगला के पीछे से होती हुई दांए नेत्र तक गई है और पयस्विनी दाँए कान तक फैली हुई कही जाती है। सरस्वती ऊपर की ओर जिह्वा तक और हरिस्तजिह्वा बाँए पाँव के अंगूठे तक स्थित है। शंखिनी नाम की नाड़ी बाँए कान तक फैली है और गांधार बांए नेत्र तक गई है। विश्वोदरा नाभिकन्द के मध्य भाग में स्थिति है।११-२२।

प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च ।।२३
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।
एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ।।२४
तेषु प्राणादयः पंच मुख्याः पंचसु सुव्रत ।
प्राणसंज्ञस्तथापानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने ।।२५
आस्यनासिकलोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि ।
प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ।।२६
अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु ।
उदरे सफले कट्यां नाभौ जघे च सुव्रत ।।२७
व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च कदुद्यां गुल्फयोरपि ।
प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुंगव ।।२८
उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयोर्हस्तयोरपि ।
समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसशयः ।।२९
नागादिवायवा पच त्वगस्थ्यादिषु संस्थताः ।

दस प्राणुवायु सब नाड़ियों में संचरित होते हैं। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय यही दस

प्राणवायु कहे गए हैं। इन दशों में प्राण आदि पाँच वायु ही प्रमुख हैं। इन पाँचों में भी प्राण और अपान को ही सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इन प्राण रूप वायु मुख और नाक के मध्य भाग में, नाभि और हृदय में सदा निवास करता है। अपान वायु गुदा, उपस्थ, जाँघ, घुटने उदर, कटि, नाभि एवं पिण्डलियों में भी स्थित रहता है। व्यान दोनों कानों, नेत्रों, कन्धों, घुटनों, प्राण-स्थानों तथा कण्ठ में रहता है। उदान दोनों हाथों और दोनों पांवों में स्थित रहता है। समान सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर रहता है। नाग आदि पंच वायु चर्म में तथा अस्थि आदि में स्थित रहते हैं।२३-२९।

निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि सांकृते ॥३०

अपनाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम् ।

समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुंगव ॥३१

उदान ऊर्ध्वगवनं करोत्येव न सशयः ।

व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥३२

उद्गारादिगुणः प्रोक्तो व्यानाख्यस्य महामुने ।

धनंजयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते ॥३३

निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकरस्य च ।

देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकम प्रकीर्तितम् ॥३४

सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः ।

पिगलाया विरञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने ॥३५

पूषाधिदेवता प्रोक्ता वरुण वायुदेवता ।

हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत् ॥३६

यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करस्तथा ।

अलम्बुसाया अम्बात्मा वरुणः परिकीर्तितः ॥३७

कुहो क्षुद्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता ।
शंखिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापति ॥३८

प्राणवायु के कार्य उच्छ्वास लेना, नि:श्वास छोड़ना तथा खांसना है। अपान वायु का कार्य मल मूत्रादि का त्याग करना है। समान वायु का कार्य सम्पूर्ण शरीर को समान अवस्था में रखना है। उदान वायु ऊपर की ओर जाता है। ज्ञानीजन व्यान वायु को ध्वनि-व्यंजक कहते हैं। डकार आना, वमन आदि करना यह कार्य नाग वायु का है। धनञ्जय वायु देह में शोभा आदि का सम्पादन करता है। नेत्र खोलना, बन्द करना आदि कूर्म वायु की प्रेरणा से होता है। कृकर नामक वायु क्षुधा-पिपासा उत्पन्न करता और देवदत्त वायु को तन्द्रा और आलस्य का कारण कहा गया है। ३०—३४।

सुषुम्णा नाड़ी के देवता शंकर, इडा के देवता विष्णु, पिङ्गला के देवता ब्रह्मा और सरस्वती के देवता विराट् हैं। पूषा नाड़ी के देवता पूषा नामक सूर्य, वरुणा के देवता वायु, हस्तिजिह्वा के देवता वरुण, यशस्विनी के देवता भास्कर हैं। अलम्बुसा नाड़ी के देवता भी जल रूप वरुण, गांधारी के देवता चन्द्रमा तथा कुहू की अधिष्ठात्री देवी क्षुधा हैं। शंखिनी नाड़ी के देवता चन्द्रमा, पयस्विनी के प्रजापति और विश्वोदरी के अग्नि हैं। ३५—३८।

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः ।
इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने ॥३९
पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदां वर ।
पिङ्गलायामिडायां तु वायोः संक्रामणं तु यत् ॥४०
तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुते वेदान्तवेदिभिः ।
इडायां पिङ्गलायां तु प्राणसंक्रमणं मुने ॥४१

दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः ।
इडापिङ्गलयोः संधि यदा प्राणः समागतः ॥४२

अमावस्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर ।
मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम ॥४३

तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम ।
प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्राविशद्यदा ॥४४

तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः ।
निःश्वासोच्छ्वासन सर्वं मासानां संक्रमो भवेत् ॥४५

इडाया कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः ।
सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्वविदां वर ॥४६

यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः ।
तदातदा भवेत्सूर्यग्रहण मुनिपुङ्गव ॥४७

इडा नाड़ी में चन्द्रमा और पिङ्गला नाड़ी में सूर्य नित्य प्रति संचरण करते हैं। पिङ्गला से इड़ा में जो संवत्सर से सम्बन्धित प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है उसे ही वेदान्तवेत्तागण उत्तरायण कहते हैं। इसी प्रकार इड़ा पिङ्गला में सूर्य का संक्रमण होना दक्षिणायन कहा गया है। हे पुरुष श्रेष्ठ ! जब प्राण इडा और पिङ्गला की सन्धि में पहुंचता है उस समय इस देह में ही अमावस्या कहते हैं । प्राण मूलाधार में प्रविष्ट होता है तब तत्वज्ञानी महर्षियों ने अन्तिम विषुव योग में स्थित होना बताया है। सभी उच्छ्वास और निःश्वास मास-संक्राति माने गये हैं। इडा द्वारा जब प्राण कुण्डलिनी-स्थान पर आ जाता है तब चन्द्र-ग्रहण का समय कहा जाता है । परन्तु जब पिङ्गला नाड़ी से प्राण कुण्डलिनी पर आता है तब सूर्य-ग्रहण का समय होता है।३९—४७।

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके ।
वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥४८
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयाग हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम् ॥४९
आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥५०
भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।
अन्यथालिंगयते कान्ता अन्यथालिंगयते सुता ॥५१
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवाकाष्टादिनिर्मितान् ।
योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥५२
बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ।
आत्मतीर्थं महातीर्थं मन्यत्तीर्थं निरर्थकम् ॥५३
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्धयति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥५४
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा ।
वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥५५
ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव ॥५६

देह के मस्तक पर श्रीशैल नामक तीर्थ तथा ललाट में केदार तीर्थ स्थित है। नाक और भ्रूद्वय के मध्य में काशीपुरी है। स्तनद्वय के स्थान पर कुरुक्षेत्र और हृदय-कमल में तीर्थराज प्रयाग की स्थिति है। हृदय के मध्य में चिदम्बर तीर्थ और मूलाधार में कमलालय तीर्थ है। यह आत्म-तीर्थ सबसे बढ़कर है, जो मनुष्य इन तीर्थों का परित्याग कर बाह्य तीर्थों में भटकता फिरता है वह मानो हाथ में रखे हुए

बहुमूल्य रत्न को त्याग कर कांच को ढूंढ़ता फिरता है। भाव सब कर्मों में प्रमाणभूत है, इसलिये भावमय तीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। पत्नी और पुत्री दोनों को हृदय से लगाया जाता है, परन्तु दोनों के हृदय से लगाने में भावों का अन्तर होता है। योगीजन आत्मतीर्थ में श्रद्धा और निवास रखते हैं, इसलिए वे जलमय तीर्थों और काष्ठ-पाषाण आदि से निर्मित प्रतिमाओं में भटकते नहीं फिरते। बाह्य तीर्थ से आन्तरिक तीर्थ अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, यह महातीर्थ हैं, इसके सामने अन्य तीर्थ व्यर्थ हैं। देह के भीतर निवास करने वाला दूषित चित्त बाहरी तीर्थों में गोते लगाने मात्र से निर्णय नहीं होता। क्योंकि मदिरा का घड़ा ऊपर से सैकड़ो बार शुद्ध जल से धो लिया जाय तो भी भीतर मदिरा के रहने से वह अपवित्र ही रहता है। अपने देह में ही जो विषुव योग, उत्तरायणदक्षिण काल तथा सूर्य, चन्द्रमा के ग्रहण हैं, उनमें नाक और भौंहों के बीच वाराणसी आदि तीर्थों में भावनापूर्वक स्नान करके मनुष्य पवित्र हो सकता है। अज्ञानी मनुष्यों के अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ज्ञानयोग में तत्पर योगियों का चरण-जल श्रेष्ठ तीर्थरूप ही है ॥४०-५६॥

तीर्थे दाने जपे काष्ठे पाषाणके सदा।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥५७

अंतस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते।
हस्तस्थ पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥५८

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥५९

अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम्।
प्रज्ञाघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यथि ॥६०

नाडीपुञ्जं सदा सारं नरभावं महामुने।
समुत्सृज्यात्मनात्मा ऽमहमित्येव धारय ॥६१

अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम् ।
आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥६२
विभेदजनके ज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ॥६३

कल्याणरूप परमेश्वर इस देह में ही विराजमान है। उसे न जानने वाला मूर्ख तीर्थ, दान, जप, यज्ञ काष्ठ और पाषाण में ही परमात्मा को खोजा करता है। अपने अन्तर में निरन्तर निवास करने वाले मुझ परमात्मा का निरादर करता हुआ जो जीव केवल बाह्य रूप में बनी हुई स्थूल प्रतिमा की सेवा करता है, वह अपने हाथ में रखे हुए अन्न को त्याग कर अपनी कुहनी चाटने के समान कार्य करता है। योगीजन तो परमात्मा के दर्शन अपने ही आत्मा में करते हैं, प्रतिमाओं में कभी नहीं करते। प्रतिमाओं की कल्पना तो इसीलिए की गई है कि आज्ञानियों के हृदय में भगवान् के प्रति भावना जाग्रत हो और वे उसके द्वारा भगवान् में विश्वास बना सकें ॥५७-५९॥ जिसके भिन्न कारण या कार्य कुछ भी नहीं है, जो प्रज्ञानघन स्वरूप अद्वितीय एवं सत्यरूप है, जो पुरुष उस आनन्दमय ब्रह्म के अपने ही भीतर दर्शन करता है, वही यथार्थ रूप से दर्शन करता है। यह मनुष्य देह नाड़ियों का ढाँचा मात्र है। यह कभी सारमय नहीं हो सकता। इसके प्रति आत्मभाव को सर्वथा त्याग दो और तब ऐसा विश्वास करो कि 'परमात्मा मैं ही हूँ।' जो इस देह में निवास करता हुआ भी इससे भिन्न है, वह व्यापक और महान् आत्मा सबका स्वामी है। जो उस आनन्दस्वरूप अक्षर ब्रह्म को जान लेता है, उसके कभी शोक की उत्पत्ति नहीं होती।६०-६२। हे महामुने ! ज्ञान रूपी बल से जब से भेद उत्पन्न करने वाला अज्ञान नष्ट हो जायगा, तब ऐसा कौन मूर्ख है जो आत्मा और ब्रह्म में मिथ्या भेद की बात कहेगा ॥६३॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

## पञ्चम खण्ड

सम्यक्कथय मे ब्रह्मन्नाडीशुद्धि समासतः ।
यथ शुद्धया सदा ध्याय ज्जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥१

सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धि समासतः ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसङ्कल्पवर्जितः ॥२

यमाद्यष्टांगसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः ।
स्वात्मन्यवस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः ॥३

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा ।
पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा ।
मनोरमे शुचौ देशे मठ कृत्वा समाहितः ॥४

आरभ्य चासनं पश्चात्प्रांमुखोदमुदंमुखोऽपि वा ।
समग्रीवशिरः कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥५

नासाग्रे शशभृद्बिम्बे बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ।
स्रवन्तममृत पश्येन्नेत्राभ्या सुसमाहितः ॥६

इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
ततोऽग्नि देहमध्यस्थ ध्यायज्ज्वालावलीयुतम् ॥७

विन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ।
पश्चाद्विरेचयेत्सम्यक्प्राणं पिंगलया बुधः ॥८

पुनः पिंगलयापूर्य वह्निबीजमनुस्मरेत् ।
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनै ॥९

त्रिचतुर्वासरं वाथ त्रिचतुारमेवव च।
षट्कृत्वा विचरेन्नित्यं रहस्यैव त्रिसंधिषु ॥१०

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः।
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जठरवर्तिनः ॥११

नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ।
यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत् ॥१२

अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत् ।
आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयंप्रभः ॥१३

अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो भवत्ययम् ।
अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः ।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः ॥१४

सांकृते ने प्रश्न किया—'प्रभो ! नाड़ी की शुद्धि किस प्रकार होती है, यह बात मेरे प्रति समझाकर कहिये, जिससे कि मैं नाड़ी के शुद्ध होने पर सदा परमेश्वर का चिन्तन करता हुआ जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो सकूँ ।१। भगवान् दत्तात्रेय बोले—नाड़ी के शुद्ध होने का मैं संक्षेप में वर्णन करता हूँ उसे तुम ध्यान से सुनो। शास्त्रों ने जो अपने निर्देश द्वारा कर्मों का विधान किया है, उन्हीं कर्मों में कर्त्तव्य करने में रत रहने वाली बुद्धि से लगा रहे। कामनाओं और उनके फल की आकांक्षा का त्याग करे। अष्टाङ्ग-योग का सेवन करते हुए मन को शान्त बनावे तथा सत्य का पालन करे। ज्ञानी महात्माओं की सेवा में जाकर उनसे जिज्ञासापूर्वक ज्ञान प्राप्त करे। अपने आत्म-चिन्तन में ही लगा रहे। पर्वत के ऊपर, नदी के किनारे पर, एकान्त वन में बिल्ववृक्ष के निकट अथवा किसी पवित्र और रमणीक प्रदेश में आश्रम बनावे और वहाँ मन को एकाग्र करके रहे। फिर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके आसन लगावे। ग्रीवा, मस्तक और देह को समभाव से स्थित रख मुख को बन्द करले। इस प्रकार निश्चल रूप से बैठे। नाक के अग्रभाग पर चन्द्रमण्डल स्थित है ऐसी भावना करे और वहाँ प्रणव बिन्दु में तुरीय रूप परमात्मा का अमृत स्रोत प्रवाहित करते हुए प्रत्यक्ष दर्शन करे। फिर इडा नाड़ी द्वारा प्राणवायु को भीतर खींच कर उदर में भर

कर देह के मध्य भाग में स्थित अग्नि का ध्यान करे। ऐसा भाव करे जैसे खींची हुई वायु के सम्पर्क से अग्निदेव अपनी लपटों सहित प्रदीप्त हो रहे हों। फिर प्रणव-बिन्दु और नाद-युक्त अग्निबीज का चिन्तन करे। फिर पिंगला नाड़ी से प्राणवायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। इसके पश्चात् पिंगला द्वारा प्राणवायु को खींच कर शरीर में भरे और अग्नि-बीज का चिन्तन करने के बाद इडा नाड़ी के द्वारा उसे बाहर निकाले। इस प्रकार यह क्रिया तीन-चार दिनों तक लगातार करे अथवा नित्य प्रति तीनों संध्याओं में यह क्रिया तीन चार या छः बार करे। इस क्रिया से नाड़ी शुद्ध हो जाती है। इसके शुद्ध हो जाने के कुछ प्रत्यक्ष लक्षण भी दिखाई देते हैं। इससे शरीर हल्का होगा, जठराग्नि का उदीप्त होना, अनाहतनाद की अभिव्यक्ति होना आदि लक्षण सिद्धि के प्रकट करने वाले हैं। जब तक इन लक्षणों का आभास न हो, तब तक अभ्यास करते रहने से उद्देश्यपूर्ण होता है।१-१२। यदि ऐसा न करे तो आत्मशुद्धि का अनुष्ठान करना चाहिए। यह आत्मा सदैव शुद्ध है, स्वयं प्रकाश रूप तथा सुख रूप है। इसमें मलीनता का आरोप अज्ञानवश ही होता है। जब हो जाता है, तब यह विशुद्ध रूप में ही रहता है। जो पुरुष अज्ञानरूप मल को ज्ञानरूप जल से धो डालता है, वही पुरुष परम शुद्ध है। जो ज्ञान की उपेक्षा करके लौकिक कर्मों में आसक्त रहता है वह पुरुष शुद्ध नहीं है।१३—१४।

॥ पंचम खण्ड समाप्त ॥

## षष्ठ खण्ड

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये साकृते शृणु सादरम्।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकः ॥१
वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः।
स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामस्तु तन्मयः ॥२

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रै रकारं तत्र संस्मरेत् ।।३
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुः षष्ट्यातु मात्रया ।
उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ।।४
यावद्वा शक्यते तावद्धारयेज्जपतत्परः ।
पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ।।५
शनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
प्राणायामो भवेदेवं ततश्चैवं समभ्यसेत् ।।६
पुनः पिङ्गलयापूर्य मात्रै षोडशभिस्तथा ।
अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः ।।७
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं संजपन्वशी ।
उकारमूर्तिं स ध्यायश्चतुःषष्टया तु मात्रया ।।८
मकारं तु स्मरन्पश्चाद्रेचयेदिडयानिलम् ।
एवमेव पुनः कुर्यादिडायापूर्य बुद्धिमान् ।।९
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर ।
एवमभ्यासतो नित्यं षण्मासाद्यत्नवान्भवेत् ।।१०
वत्सराद्ब्रह्मविद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत् ।
योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः ।।११

अब मैं प्राणायाम के क्रम का वर्णन करता हूं । इसे भी ध्यानपूर्वक सुनो । पूरक, कुम्भक, रेचक क्रियाओं द्वारा जो प्राण संयमित किया जाता है वही प्राणायाम है । ओंकार, में अकार, उकार और मकार यह तीन वर्ण हैं । वे क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचक से सम्बन्धित हैं । इन तीनों वर्णों का एकत्र होना ही प्रणव है । इसलिए प्राणायाम भी प्रणवरूप माना गया है । इडा के द्वारा वायु को धीरे-

धीरे भीतर खींचकर उदर में भरना और वहाँ सोलह मात्राओं से युक्त 'अकार'' का ध्यान करना, फिर उदर में भरी हुई बाह्य वायु को कुछ समय धारण किये रहना और चौंसठ मात्राओं से युक्त "उकार" का ध्यान करते हुए प्र०.व का जाप करना चाहिए। जब तक हो सके उदर में वायु धारण किये रहे और जप करता रहे। फिर बत्तीस मात्रामय 'मकार' के ध्यान पूर्वक उस भरी हुई वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करे।१-६।

फिर पिङ्गला नाड़ी द्वारा वायु को शनै-शनै खींच कर भीतर भरे और सोलह मात्रामय "अकार" का एकाग्रमन से चिन्तन करें। जब वायु उदर में भर जाय तब मन और इन्द्रियों को पूरी तरह वश में रख कर चौंसठ मात्रा विशिष्ट 'उकार' का कुछ समय तक ध्यान करते हुए प्रणव-जप के सहित वायु को उदर में ही धारण किये रहे। फिर बत्तीस मात्राओं से विशिष्ट "मकार" के ध्यान और प्रणव के जपपूर्वक, वायु को इडा के द्वारा शनै शनै बाहर निकाल दे। मेत्रात्रीजन इसी प्रकार बारम्बार अभ्यास करते रहते हैं। हे मुने! इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास प्रतिदिन करे। छः महीने तक ऐसा करे तो ज्ञानहीन पुरुष भी ज्ञानवान् हो जाय। एक वर्ष तक इस प्रकार प्राणायाम करने वाले साधक पुरुष को ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। इसीलिए प्राणायाम के नित्य अभ्यास करने का निर्देश है। योगाभ्यास में रहने वाला तथा धर्म-पालन में तत्पर पुरुष प्राणायाम द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करता हुआ इस जगत के बन्धन से मुक्त होता है।७-११।

प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति।
बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥१२
संपूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्।
बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥१३
प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः।

कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमं विदुः ॥१४
पूर्वंपूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्थानसंभवः ।
संभवत्युतमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत् ॥१५
प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत ।
चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः ॥१६
प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति ।
प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः ॥१७
देहश्चोत्तिष्ठते तेन किंचिज्ज्ञानद्विमुक्तता ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ॥१८
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात् ।
मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥१९
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥२०

जिस क्रिया द्वारा बाह्य वायु को उदर में भरते हैं, वह क्रिया पूरक है। जैसे घड़ा जल से भर जाता है, वैसे ही वायु को उदर में भर लेना और उसे धारण करना कुम्भक है तथा वायु का उदर से बाहर निकला जाना रेचक कहा जाता है।१२-१३। जिस प्राणायाम के करते समय देह में पसीना आ जाय, वह प्राणायाम सब प्राणायामों में निम्न प्रकार का है। प्राणायाम के समय देह का कम्पित होना मध्यम श्रेणी के प्राणायाम का सूचक है और प्राणायाम के समय देह ऊपर की ओर उठता हुआ-सा जान पड़े तो वैसा प्राणायाम उत्तम प्रकार का कहा गया है। जब तक ऊपर उठने के अनुभव वाला प्राणायाम सिद्ध न हो तब तक निम्न श्रेणी या मध्यम श्रेणी के प्राणायाम का अभ्यास

करता रहे । इससे कालान्तर में उत्तम श्रेणी का प्राणायाम भी सिद्ध हो जाता है, जिसके सिद्ध होने पर मनुष्य अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है। प्राणायाम करने वाले का चित्त स्वच्छ हो जाता है और चित्त के स्वच्छ होने पर अन्तर में प्रकाशरूप शुद्ध आत्मतत्व से साक्षात्कार होने लगता है । प्राणायाम में जो लगा रहता है उस साधु पुरुष का प्राण चित्त से संयोग स्थापित कर परमात्मा में स्थित होता है। उस अवस्था में उसका देह ऊपर को उठने लगता है। उससे ज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है रेचक और पूरक की अपेक्षा कुम्भक का ही अधिक अभ्यास करना चाहिए । इस प्रकार करने वाला योगी सब पापों से छूटकर श्रेष्ठ ज्ञान को पाता है मन के समान तेज वाला होकर मन को जीत लेता है । उसके बाल पकने का रोग नष्ट होता है । जो पुरुष प्राणायाम में अनन्य आस्था रखता है, उसके लिए कुछ भी प्राप्त कर लेना दुर्लभ नहीं है । अतः यत्नपूर्वक अभ्यास से प्राणायाम सिद्ध करना चाहिए ।१४–२०।

विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत ।
सध्ययोर्ब्राह्मकालेऽपि मध्याह्ने वाथवा सदा ॥२१
बाह्यं प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेण च ।
नासाग्रे नाभिमध्ये च पादांगुष्ठे च धारयेत् ॥२२
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः ।
नासाग्रधारणाद्वापि जितो भवति सुव्रत ॥२३
सर्वरोगनिवृत्तिः स्यान्नाभिमध्ये तु धारणात् ।
शरीरलघुता विप्र पादांगुष्ठनिरोधनात् ॥२४
जिह्वया वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः ।
श्रमदाहविनिर्मुक्तो योगी नीरोगतामियात् ॥२५
जिह्वया वायुमाकृष्य जिह्वमूले निरोधयेत् ।

पिबेदमृतमव्यग्रं सकलं सुखमाप्नुयात् ॥२६
इडता वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ।
नः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मुच्यते हि सः ॥२७
इडया वेदतत्त्वज्ञस्तथा पिङ्गलयैव च ।
नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥२८
मासमात्रं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयारोप्य मारुतम् ।
अमृतं च पिबेन्नाभौ मन्दं मन्दं निरोधयेत् ॥२९
वातजाः पित्तजा दोषा नश्यन्त्येव न संशयः ।
नसाभ्यां वायुमाकृष्य नेत्रद्वन्द्वे निरोधयेत् ॥३०
नेत्ररोगा विनश्यन्ति तथा श्रोत्रनिरोधनात् ।
तथा वायुं समारोप्य धारयेच्छिरसि स्थितम् ॥३१

अब मैं प्राणायाम के विनियोग कहता हूं। दोनों सन्ध्याओं में, ब्राह्ममुहूर्त में अथवा मध्याह्न काल में बाह्य वायु को खींचकर उदर में भरकर स्थित रखने तथा उदर, नाक के अग्रभाग, नाभि के मध्यभाग और पांव के अँगूठे में उस वायु के धारण करने से सभी रोगों से छुटकारा मिलता है और मनुष्य सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है । नासिका के अग्रभाग में धारण करने से प्राणवायु वश में होता है और नाभि के मध्य धारण करने से सब रोगों का शमन होता है । पाँव के अंगूठे में वायु को रोकने से शरीर में हल्कापन आता है जिह्वा के द्वारा खींचकर वायु-पान करता रहने वाला मनुष्य थकान और दाह से बचता हुआ सदा निरोग रहता है। जिह्वा द्वारा वायु खींच कर जिह्वा के मूल में ही उसका अवरोध कर शान्त भाव से उसे पीवे । ऐसा करने से सर्व प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है । इडा द्वारा वायु को खींच कर उसे भौंहों में धारण करे और अमृत-पान की भावना करे तो सब रोगों से

छुटकारा मिलता है। इडा और पिङ्गला द्वारा वायु खींचकर नाभि में धारण करने से भी सब रोगों से मुक्ति मिलती है। यदि एक मास तक त्रिकाल सन्ध्या करते समय जीभ के द्वारा शनैः-शनैः वायु के भीतर खींचकर अमृतपान की भावना करते हुए, नाभि में उसका अवरोध करे तो वात पित्त जनित सम्पूर्ण विकार दूर हो जाते हैं। नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा वायु को भीतर खींचकर दोनों नेत्रो में रोके तो नेत्रों के समस्त रोग दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार खींची हुई वायु का कानों में अवरोध करने से सभी कर्ण रोगों की निवृत्ति होती है। वायु को खींचकर मस्तक में रोके तो सब शिरोरोग मिट जाते हैं। यह जो कुछ भी कहा गया है, वह सब यथार्थ है।२१—३१।

शिरोरोगा विनश्यन्ति सत्यमुक्तं हि सांकृते।
स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥३२

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैः शनैः।
हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानि च ॥३३

अंगुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी।
नासापुटावधानाभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥३४

आनन्दाविर्भवो यावत्तावन्मूर्धनि धारणात्।
प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने ॥३५

ब्रह्मरन्ध्रं गते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ।
शंखध्वनिनिभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥३६

शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्रवणं यथा।
पश्चात्प्रीतो महाप्राज्ञः साक्षादात्मोन्मुखो भवेत् ॥३७

पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात्संसारनिह्नुतिः।
दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीविनीं पीडयेत्स्थिरम् ॥३८

सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद्बुद्धिमान्नरः ।
जान्वोरधः स्थितां सन्धिं स्मृत्वा देवं त्रियम्बकम् ॥३९
विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः ।
लिगनालात्समाकृष्य वायुमप्यग्रतो मुने ॥४०
प्रणवेन नियुक्तेन विन्दुयुक्तेन बुद्धिमान् ।
मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्ये त तु निरोधयेत् ॥४१
निरुध्य वायुना दीप्तो वह्निरूहति कुण्डलीम् ।
पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निन सह गच्छति ॥४२

स्वस्तिकासन लगाकर मन को एकाग्र करे और ॐकार का जप करते हुए अपान वायु को शनैः-शनैः ऊपर उठावे तथा कान आदि को अपने दोनों हाथों से भले प्रकार दबाये रखे । ऊपर की सब इन्द्रियों को इस प्रकार ढक कर वायु को तब तक वहां रोके, जब तक आनन्द-युक्त अमृत की अनुभूति न होने लगे । ऐसा करने ब्रह्मरन्ध्र में प्राण प्रविष्ट हो जाता है । जब ब्रह्मरन्ध्र में प्राण का प्रवेश हो जाता है, तब प्रथम एक गम्भीर नाद, शंख की ध्वनि के समान होने लगता है, वही नाद मेघ-गर्जन के समान सुनाई देने लगता है और जब वायु मस्तक के मध्य में स्थित होता है, तब पर्वत से गिरने वाले झरने के समान कल-कल शब्द सुनाई देता है । जब ऐसा हो जाता है तब योगी को अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव होता है और वह आत्मा से साक्षात् करने लगता है । उस समय आत्मतत्व का ज्ञान भले प्रकार हो जाता है और जगत के बन्धनों से छुटकारा मिल जाता है ।२२–३७।

गुदा और उपस्थ की मध्यवर्ती नाड़ी सीवनी कही जाती है । क्योंकि वही देह के दो भागों को परस्पर एक करती है । उसी सीवनी को अपने दोनों पार्श्वों की ओर दबा कर स्थिर भाव से बैठे और घुटनों के नीचे की सन्धि में त्र्यम्बक नाम वाले ज्योतिर्लिङ्ग की भावना करे ।

इसके साथ ही भगवती सरस्वती और गणपति का ध्यान करे। फिर बिन्दुपथ ॐकार का जप करते हुए उरस्थ की नली के छेद के द्वारा आगे की ओर से वायु खींचे और उसे मूलाधार के मध्य में स्थित करे। वहाँ वायु का अवरोध किये रहने से वहाँ की अग्नि दीप्त होकर कुण्डलिनी पर चढ़ जाती है। फिर वायु उस अग्नि को साथ लेकर सुषुम्णा के द्वारा ऊपर जाने लगती है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से वायु को जीत लिया जाता है।३८-४२॥

एवमभ्यासतस्तस्त जितो वायुर्भवेत्भृशम्।
प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात्कम्पन मुनिपुङ्गव ॥४३
उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनले।
एवमभ्यासतस्तस्य मूलरोगो विनश्यति ॥४४
भगन्दरं च नष्टं स्यात्सर्वरोगाश्च सांकृते।
पातकानि विनश्यति क्षुद्राणि च महान्ति च ॥४५
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमद्भुतम्।
पुनर्ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥४६
विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम्।
तेन पापापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देव सदाशिवम् ॥४७
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्।
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥४८
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विलक्षणम्।
अर्थस्वरूपविज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥४९
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः।
क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः ॥५०

रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम् ।
तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संयुज्यते ।।५१

आरम्भ में स्वेद टपकना, फिर शरीर का काँपना और इसके उपरान्त देह का ऊपर की ओर उठना, यह सभी लक्षण वायु को जीत लेने के हैं । जो पुरुष इस प्रकार के अभ्यास मे संलग्न रहता है उसके सभी रोग समूल नष्ट हो जाते हैं । प्राणायाम के द्वारा भगन्दर जैसे भयंकर रोग भी दूर होते हैं, बड़े-छोटे पाप मिट जाते हैं और जब पाप मिट जाते हैं तब चित्त में अत्यन्त शुद्धता आ जाती है और वह दर्पण के समान निर्मल हो जाता है । इसके अनन्तर तो ब्रह्मादि देवताओं के आनन्दमय लोकों को प्राप्त करने की इच्छा भी शान्त हो जाती है और भोग से उत्पन्न होने वाले सुखों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार संसार से वैराग्य उत्पन्न होने पर कैवल्य-मोक्ष का साधनभूत ज्ञान प्राप्त होता है । उसी ज्ञान से नित्य मङ्गलमय परमात्मा का तत्व जाना जाता है और तत्व-ज्ञान होने पर संसार के सभी बन्धन सर्वथा कट जाते हैं । जो पुरुष एक बार भी ज्ञानमय अमृत का आस्वादन कर चुका, वह सब कामनाओं और कार्यों को छोड़कर उसी की ओर जाता है । ज्ञानीजन इस विश्व को ज्ञान रूप ही कहते हैं । कुत्सित दृष्टि वाले अज्ञानी जन इस विश्व को भोग रूप में देखते हैं । परन्तु आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर अज्ञान स्वयं ही नाश हो जाने पर रागादि विषय भी नष्ट हो जाते हैं और विषयों के नष्ट होने पर पुण्य पाप भी नहीं रहते और ऐसा होने पर मनुष्य को पुनः जन्म ग्रहण नहीं करना होता ।४३–५१।

।। षष्ठ खण्ड समाप्त ।।

## सप्तम खण्ड

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने ।

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥१
बलदाहरणं तेषां प्रत्यहारः स उच्यते ।
यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः ॥२

प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः ।
यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ॥३
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहार स उच्यते ।
अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः ॥४
काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा वायुमकृष्य स्थानात्थानं निरोधयेत् ॥५
दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम् ।
उरोदेशात्समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत् ॥६
नाभिदेशात्समाकृष्य कुण्डल्यां तुः निरोधयेत् ।
कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत् ॥७
अथापानात्कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे ।
तस्माज्जानुद्वये जंघे पादांगुष्ठे निरोधयेत् ॥८
प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारस्मरैः पुरा ।
एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥९
सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥१०
पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम् ।
पश्चात्पादद्वये यद्वन्मूलाधारे तथैव च ॥११
नाभिकन्दे च हृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके ।
भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत् ॥१२
देहे स्वात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः ।

आत्मनात्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥१३
प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः ।
एवमभ्यस्तस्तस्य न किंचिदपि दुर्लभम् ॥१४

अब मैं प्रत्याहार की व्याख्या करता हूँ। स्वभाव से विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक विषयों से लौटा लाने को प्रत्याहार कहते हैं। मनुष्य को जो कुछ दिखाई देता है वह सब ब्रह्म है, ऐसा भाव कर ब्रह्म में मन को एकाग्र कर लेना, ब्रह्मज्ञानियों ने प्रत्याहार ही कहा है। मृत्यु के समय तक मनुष्य जो भी शुद्ध या दूषित कर्म करता है, उन सब कर्मों को वह परमात्मा के लिए समर्पित करदे। यह भी प्रत्याहार कहा जाता है। नित्य कर्मों को अथवा आकांक्षित कर्मों को भगवान के निमित्त करना भी प्रत्याहार कहा गया है। वायु को एक स्थान से खींचे और दूसरे स्थान पर स्थापित करे। दन्त-मूल से वायु खींचकर कण्ठ में, हृदय में और हृदय से नाभि में ले जाय। नाभि से कुण्डलिनी में ले जाय और कुण्डलिनी से मूलाधार में स्थापित करे। फिर वहाँ से भी हटाकर कटि के दोनों भागों में ले जाय और इसके अनन्तर जाँघों के मध्य भाग में स्थित करे। जाँघों से घुटनों में, घुटनों से पिंडलियों में और पिंडलियों से पाँव के अँगूठे में ले जाकर उस वायु का अवरोध करे। जो महात्मा प्रत्याहार में प्राचीन काल से लगे रहे हैं, उन्होंने इसे ही प्रत्याहार बताया है।१—६।

प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले सन्तों के सभी पाप और जन्म-मरण रूप व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। स्वस्तिकासन लगाकर स्थिर चित्त से बैठकर नाक के दोनों छिद्रों द्वारा वायु को खींचकर पाँव से मस्तक तक के स्थानों में धारण करे। दोनों पाँव, मूलाधार, नाभिकन्द, हृदय के मध्य में, कण्ठ-मूल, तालु भौंह के मध्य में, ललाट एवं मस्तक में वायु को धारण करे। इसे वायु धारणात्मक प्रत्याहार माना गया है।१०—१२।

एकाग्र चित्त होकर आत्म-बुद्धि का परित्याग करे और निर्विकल्परूप आत्मा में अपनी बुद्धि स्थिर किया करे। वेदान्ततत्त्ववेत्ता महात्माओं ने यथार्थ प्रत्याहार इसी को कहा है। इस प्रकार जो पुरुष प्रत्याहार का अभ्यास करता है, उसके लिए विश्व में कुछ भी अलभ्य नहीं है ॥१३-१४॥

॥ सप्तम खण्ड समाप्त ॥

## अष्टम खण्ड

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥१
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥२
हयवरलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत्क्रमात्।
धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥३
जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते।
हृदयांशस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः ॥४
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः।
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ॥५
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके।
आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम् ॥६
अथवा तव वक्ष्मामि धारणां मुनिपुङ्गव।
पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥७
धारयेद्बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥८

सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् ।
साक्षादात्मनि संपूर्णे धारयेत्प्रणवेन तु ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत् ॥६

हे मुने ! अब मैं तुम्हारे प्रति पञ्च धारणाओं के सम्बन्ध में कहता हूँ । अपने देह में जो आकाश स्थित है, उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिए । इसी प्रकार प्राण में बाह्य पवन की, जठराग्नि में बाह्य अग्नि की देह गत तरल में बाह्य जल की तथा पार्थिव भाग में सम्पूण पृथ्वी की धारणा करे । तथा प्रत्येक धारणा के समय हं, यं, रं, वं, लं, इन बीज मन्त्रों का क्रमशः उच्चारण करे । इस धारणा को सर्वश्रेष्ठ कहा गया, क्योंकि यह सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने वाली है । पाँव से घुटने तक का भाग पृथिवी का अंश और घुटने से गुदा तक का भाग जलीय अंश माना गया है । गुदा से हृदय तक अग्नि का, हृदय से भौंहों तक वायु का और मस्तक-भाग आकाश का अंश कहा गया है । पृथिवी के अंश में ब्रह्मा का, जलांश में विष्णु का, अग्नि के अंश में महेश्वर का, वायु के अंश मे ईश्वर का और आकाश के अंश में शिवजी का ध्यान करना चाहिए ॥१-६॥

हे मुने ! मैं अब तुम्हारे प्रति एक अन्य धारणा का वर्णन करता हूँ । ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा में बोधमय, आनन्दमय और कल्याणमय परमात्मा की नित्य प्रति धारणा करे । इससे सभी पापों से छुटकारा मिलता है । कार्य रूपी ब्रह्मा आदि को अपने-अपने कारण में लय करके जो बुद्धि से परे, अनिर्वचनीय, परम कारण और अव्यक्त परमेश्वर है उनकी अपने ही आत्मा में धारणा करे और ऐसा करते समय अपने मन को सब कलाओं वाले ॐकार रूप परमेश्वर में लय करदे । इसके साथ ही इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त कर आत्मा में ही संलग्न करदे ।७-९।

॥ अष्टम खण्ड समाप्त ॥

## नवम खण्ड

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम् ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम् ॥१

ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम् ।
सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥२

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
अत्यर्थमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥३

तथा स्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥४

आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत ।
अहमस्मीत्यभिध्यायेतध्येयातीतं विमुक्तये ॥५

एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ।
क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः ॥६

अब मैं ध्यान के उस प्रकार का वर्णन करता हूं जो जगत के बन्धन से मुक्त करने वाला है । जो परमात्मा योगीश्वरों के भी ईश्वर, विकराल नेत्र वाले, ऊर्ध्वरेता, विश्व-रोग की एक मात्र औषधि, विश्व-रूप महान् ईश्वररूप हैं, उन सत्य स्वरूप परब्रह्म का आत्मरूप से श्रद्धा-सहित ध्यान कर और इस प्रकार की भावना करे कि वह परब्रह्म परमेश्वर मैं हूँ ॥१-२॥

ध्यान का एक दूसरा प्रकार भी है । जो सबका ईश्वर, सत्य-स्वरूप, आनन्दमय, अद्वितीय, निर्मल, ज्ञानस्वरूप, आदि-मध्य अन्त से रहित, स्थूल प्रपंच से परे, नित्य स्पर्शयोग वायु से भी विलक्षण, आकाश से भिन्न नेत्रों को दिखाई पड़ने वाले, अग्नि से भी भिन्न एवं अधिक तेजस्वी, जल और पृथिवी से भी विलक्षण, अप्रमेय, अनुपम, देहातीत,

परमेश्वर है, उसका चिन्तन करे और बुद्धि द्वारा यह भावना करे कि परब्रह्म परमेश्वर मैं ही हूं। इस प्रकार का चिन्तन मोक्ष की सिद्धि करने वाला होता है ॥३-५॥

जो महात्मा पुरुष इस प्रकार के चिन्तन और अभ्यासों में लगा रहता है, उसे वेदान्तोक्त ब्रह्म तत्व का निःसदेह विशेष ज्ञान हो जाता है ॥६॥

॥ नवम खण्ड समाप्त ॥

## दशम खण्ड

अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधि भवनाशनम् ।
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥१

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ।
एकः सन्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ॥२

तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपंचो न ससृतिः ।
यथाकाशो घटाकाश मठाकाश इतीरितः ॥३

तथा भ्रान्तैर्द्विधाप्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ।
नाहं देहो न च प्राणा नेन्द्रियाणि मनो नहि ॥४

सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः ।
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ॥५

साहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्य कदाचन ।
यथा फेनतरंगादि समुद्रादुत्थित पुनः ॥६

समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्यनुलीयते ।
तस्मान्मनः पृथङ् नास्ति जगन्माया च नास्ति हि ॥७

यस्यैवं परमात्मायं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः ।

स तु याति च पुंभावं स्वयं साक्षात्परामृतम् ॥८
यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रग सदा ।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम् ॥९
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१०
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणाऽसौ तदा भवति केवलः ॥११
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः ।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः ॥१२
एवमुक्त्वा स भगवान्दत्तात्रेयो महामुनिः ।
सांकृतिः स्वस्वरूपेण सुखमास्तेऽतिनिर्भयः ॥१३

जगत के बन्धनों को काट देने वाली समाधि का अब मैं वर्णन करता हूं । परमात्मा और जीवात्मा के एकीभाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि का प्राकट्य ही समाधि है । यह आत्मा, नित्य, एक रस, सर्वव्यापी और सर्वदोषहीन है । वह एक होते हुए भी माया से उत्पन्न हुए भ्रम के कारण भिन्न-भिन्न दिखाई देता है । यथार्थ में उसमें कोई भेद नहीं है । इसलिए अद्वैत भाव ही सत्य है प्रपञ्च नामक किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है । जैसे आकाश को ही घटाकाश या मठाकाश कहते हैं, वैसे ही अज्ञानी पुरुष एक ही ईश्वर को जीव और ब्रह्म दो रूपों में मानते हैं । जो अपने को देह, प्राण, इन्द्रिय और मन आदि नहीं मानते तथा साक्षी स्वरूप में स्थित एक मात्र शिवरूप परमात्मा ही मानते हैं उनकी ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि को ही समाधि कहते हैं ।१-५।

मैं परमेश्वर हूं, जगत के बन्धनों में पड़ा हुआ प्राणी नहीं हूँ । मुझसे भिन्न किसी वस्तु का कभी भी अस्तित्व नहीं रहा । जैसे फेन और लहरें समुद्र से उठकर फिर समुद्र में ही लीन हो जाते हैं, वैसे ही

यह जगत मुझसे ही उत्पन्न होता और मुझ में लय हो जाता है। इसलिए सृष्टि का कारणभूत मन भी मुझ से अलग नहीं है। इस विश्व का और माया का भी मुझ से भिन्न अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार जो पुरुष परमात्मा को अपने आत्मारूप से मानने लगता है, वह परम अमृतमय परमात्मभाव को प्राप्त होता है। जब योगी के चित्त में सर्वव्यापी आत्म चैतन्य का अनुभव होने लगता है, तब वह स्वयं ही परमात्मरूप में स्थित हो जाता है। जब ज्ञानी पुरुष सब प्राणियों को अपने में ही देखता है तथा अपने को सब प्राणियों में स्थित देखता है, तब वह साक्षात् ब्रह्म ही हो जाता है। जब समाधिस्थ पुरुष परमात्मा से एकत्व प्राप्त कर अपने से भिन्न किसी प्राणी को नहीं देखता, तब वह परमात्मरूप से ही स्थित होता है। जब वह केवल अपने आत्मा को ही सत्यरूप में देखता और सम्पूर्ण विश्व को माया का खेल मात्र मानता है, तब वह परमानन्द को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार उपदेश देकर दत्तात्रेयजी चुप हो गये और सांकृति मुनि उस उपदेश को हृदयंगम कर अपने यथार्थ रूप में स्थित हुए और भय रहित होकर आनन्द में विमग्न हो गए। ६-१३।

॥ दशम खण्ड समाप्त ॥

## ॥ श्रीजाबालदर्शन उपनिषत् समाप्त ॥

# हंसोपनिषत्

ॐ पूर्णमिदः पूर्णामिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्ति पाठ—ॐ यह ब्रह्म पूर्ण है यह जगत पूर्ण है, इस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत उत्पन्न होता है। इस पूर्ण ब्रह्म में से पूर्ण जगत को पृथक् करदें तो पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहेगा। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

गौतम उवाच —

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि येनोपायेन जायते ॥१

सनत्कुमार उवाच—

विचार्यं सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः ।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम ॥२
अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसंनिभम् ।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥३
अथ हंसपरमहसनिर्णय व्याख्यास्यामो ब्रह्मचारिणे दान्ताय गुरुभक्ताय हंसहंसेति यदा ध्यानम् ॥४

सर्वेषु देहेषु व्याप्त वर्तते यथा ह्यग्निः काष्टेषु तिलेषु तलमिव । तं विदित्वा न मृत्युमेति ॥५

गौतम ने पूछा—हे भगवन् ! आप सब धर्मों के मर्मज्ञ और सब शास्त्रों के जानने वाले हैं,ब्रह्म विद्या का ज्ञान किस विधि से प्राप्त किया जा सकता है ? यह कृपा करके बतलाइये ।१। सनत्कुमार ने कहा—श्री महादेव जी ने सर्व वेदों के मतों पर विचार करके श्री पार्वती जी

को जो कुछ बतलाया था उसे तुम सुनो ।२। इस गुह्य रहस्य को किसी अज्ञात से कहना नहीं चाहिए और योनियों के लिए यह एक कोश के तुल्य है । हंस (आत्मा) की स्थिति को बतलाने वाला यह वर्णन मुक्ति रूपी फल को प्रदान करने वाला है । जो ब्रह्मचारी, शान्त, इन्द्रियों को जीतने वाला और गुरु-भक्त हो उसके सम्मुख हंस और परमहंस का रहस्य प्रकट करना उचित है । समस्त देहों में यह जीव हंस, हंस जपता हुआ व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जैसे काठ में अग्नि रहती है और तिलों में तेल रहता है । इसके जान लेने वाला मृत्यु को उलंघन कर जाता है ।५।

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य शिश्नाभे पार्श्व भवतः । विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुयायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येव सर्वदा पश्यत्नाकारश्च भवति ॥ ६ ॥ एषोऽसौ परमहसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं सर्वं व्याप्तम् ॥७॥

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति । पूर्वदले पुण्ये मतिः । आग्नेये निद्रालयस्यादयो भवन्ति । याम्ये क्रौर्ये मतिः । नैर्ऋते पापे मनीषा । वारुण्यां क्रीडा । वायव्यां गमनादौ बुद्धिः । सौम्ये रतिप्रीतिः । ईशान्ये द्रव्यादानम् । मध्ये वैराग्यम् । केसरे जाग्रदवस्था । कर्णिकायां स्वप्नम् । लिङ्गे सुषुप्तिः पद्मत्यागे तुरीयम् । यदा हसे नादो विलीनो भवति तत् तुरायातीतम् ॥८॥ अथो नाद आधाराद्ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त शुद्धस्फटिकसंकाशः स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ॥९॥

पहले गुदा को खींच कर आधार चक्र की वायु को बाहर निकालना, फिर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणायें करना, मणिपूर चक्र में जाकर अनाहत चक्र का अतिक्रमण करना चाहिए। फिर विशुद्धचक्र में प्राणों का निरोध करके, आज्ञाचक्र का ध्यान करते हुए ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार 'त्रिमात्र आत्मा मैं हूँ'

ऐसा ध्यान करने से आधार-चक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक जो नाद होता रहता है, वह स्वच्छ स्फटिक के तुल्य परमात्मा है, ऐसा कहा गया है ।।६-६।।

अथ हंस ऋषिः । अव्यक्तगायत्री छन्दः । परमहंसो देवता । हं बीजम् । सः शक्तिः सोऽहं कीलकम् ।।१०।। षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्ति । सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति ।।११।। अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयात्तङ्गन्यास-करन्यासौ भवतः ।। १२ ।। एवं कृत्वा हृदये हंसमात्मानं ध्यायेत् ।।१३।।

अग्नीषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दुस्त्रिनेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणि चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ।। १४ ।। एवं हंसवशान्मनो विचार्यते ।। १५ ।।

अस्यैव जपकोटचा नादमनुभवतिः । स च दशविधो जायते । चिणिति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयः । घण्टा-नादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठस्ताल-नादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो भेरीनादः । नवमो मृदङ्गनादः। दशमो मेघनादः ।। १६ ।।

नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ।।१७
प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीते गात्राभञ्जनम् ।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ।।१८
पञ्चमे स्त्रवती तालू षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तने गूढविज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे ।।१६ ।
अदृश्यं नवमे देह दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम् ।
दशमं च परं ब्रह्म भवेद्ब्रह्यात्मसंनिधौ ।।२०

तस्मान्मनो विलीने मनसि गते संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्ततमः प्रकाशयतीति वेदानुवचनं भवतीत्युपनिषत् ॥ २१ ॥

इसमें हंस ऋषि है, अव्यक्त गायत्री छन्द है, देवता परमहंस है, 'अहं' बीज रूप है और 'सु' शक्ति रूप है, -सोहं' कीलक है। इस प्रकार इन छः की संख्या द्वारा एक दिन रात्रि में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लिये जाते हैं। "सूर्याय सोमाय, निरञ्जनाय निराभासाय तनु सूक्ष्म प्रचोदयात् इति अग्निषोमाभ्यां वौषट" इस मन्त्र का जप करते हुए हृदय आदि अङ्गों का तथा करान्यास करना। ऐसा करने के पश्चात् आठ दल वाले हृदय कमल में हंस-आत्मा का ध्यान करना। अग्नि और सोम इस हंस के पक्ष हैं, ओंकार मस्तक है, विन्दु नेत्र हैं रुद्र मुख रूप है, रुद्राणी दोनों चरणों के रूप में है, काल दोनों बाहुओं के रूप में और दोनों बगलें अग्नि रूप हैं। पश्यन्ति तथा अनाकार ( सगुण और निर्गुण ब्रह्म ) दोनों पार्श्व के रूप में हैं। ऐसा जो परमहंस है वह करोड़ सूर्य के समान प्रकाशयुक्त होता है और सर्वत्र उससे व्याप्त है। उसकी वृत्ति आठ प्रकार की होती है। इन आठ में से जब वह पूर्व दिशा के पत्र पर रहता है तो उसकी मति पुण्य में होती है। जब आग्नेय दिशा के पत्र पर होता है तब निद्रा और आलस होता है, दक्षिण दिशा के पत्र पर क्रूरतायुक्त विषयों में मति होती है, नैऋत्य में पाप में बुद्धि हो जाती है, पश्चिम दिशा वाले पत्र पर क्रीड़ा और वायव्य में चलने फिरने की ओर बुद्धि जाती है, उत्तर दिशा के पत्र पर बैठने से विषय की ओर रुचि होती है, ईशान के पत्र पर द्रव्य न देने की प्रवृत्ति और मध्य स्थान में बैठता है तो लोक-परलोक के विषय में वैराग्य की भावना प्रादुर्भूत होती है। जब यह हंस (आत्मा) उस हृदय रूपी कमल के केसर पर आसीन होता है

तब जागृतावस्था, कर्णिका पर स्वप्नावस्था और मध्य भाग के सूक्ष्म स्थान पर रहने से सुषुप्ति अवस्था होती है। जब हंस हृदय कमल को त्याग देता है तो तुरीयावस्था में चला जाता है। जब हंस नाद में लीन होता है तो तुर्यातीत, उन्मन, अजपोपसंहार, इन नामों से कहा जाता है। इस प्रकार सर्व भाव हंस के वश में रहते हैं, इसलिए वह मन में रहते हुए चिन्तवन करता है। यही हंस जब एक करोड़ जप कर लेता हैं तब उसे नाद का अनुभव होता है। यह सब नाद हंस के वश में है और वह इस प्रकार का होता है—प्रथम, चिण, चिञ्चिण द्वितीय, घण्टा का नाद तीसरा, शंख का नाद चौथा, तंत्री नाद पाँचवां, ताल नाद छठा, वेणु का नाद सातवां, मृदङ्ग नाद आठवां, भेरीनाद नौवां, मेघ का नाद दसवां। इनमें प्रथम नौ को त्याग कर दसवें का अभ्यास करना चाहिए। प्रथम नाद के प्रभाव से देह चिनचिनाती है, दूसरे से गात्र का भय होता है, तीसरे से पसीना उत्पन्न होता है, चौथे से शिर में कँपकँपी होती है, पाँचवे से तालु से स्राव होता है, छटे से अमृत की वर्षा होती है, सातवें से गूढ़ विज्ञान ज्ञान होता है और आठवें से परावाच प्राप्त होता है। नौवे से देह को अदृश्य करने की विद्या तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। दसवे से परब्रह्म का ज्ञान होता है और ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। तब मन उस हंस में विलीन हो जाता है, संकल्प विकल्प का मन में लय होकर, पुण्य-पाप का नाश हो जाता है। तब हंस सदाशिव रूप, शक्ति रूप, सर्वत्र अवस्थित, स्वयं ज्योति शुद्ध बुद्ध नित्य निरंजन शान्तरूप से प्रकाशमान होता है। ऐसा वेद का वचन है, ऐसा उपनिषद् है ॥१०-२१॥

॥ हंसोपनिषद् समाप्त ॥

# स्वसंवेद्योपनिषत्

ॐ सर्वेषां प्राणिबुद्बुदानां निरंजनाव्यक्तामृतनिधौ विलयविलासः स्थितिर्विजृम्भते। तेषामेव पुनर्भवन नो इहास्ति। स यथा मृत्पिण्डे घटानां तन्तौ पटानां तथैवेति भवति। वस्तुतो नोपादानमत एव नोपादेयमत एव न निमित्तमत एव न विद्या न पुराणं नो वेदा नेतिहासा इति न जगदिति न ब्रह्मा नो विष्णुः नाथ रुद्रो नेश्वरो न बिन्दुः नो कलेति अग्रे मध्येऽवसाने सर्वं यथावास्थतं यथावस्थितज्ञानं तेषां नो भवत्यागमपुराणेतिहासधर्मशास्त्रेषु धृताभिमानास्ते। यत्तानि तु मुग्धतरमुनिशब्दवाच्यैः जीवबुद्बुदैः रचितानीति भवन्ति। तत्र प्रामाण्यं तादृशानामेव। ते त्वज्ञानेनाबृताः सयत्नेन गर्भास्तदप्येष श्लोको भवति। तदत्र श्लोको भवति॥

ॐ प्राणि रूपी बुलबुलों ( जल के बुद्बुद ) का निरंजन, अव्यक्त, अमृत की निधि ब्रह्म में विलय होना रूप जो स्थिति है, वह प्रकट है, सत्य है, हुआ करती है। जो ब्रह्मलीन हो जाया करते हैं उन्हीं का फिर यहाँ जन्म नहीं होता। उनकी तो वही स्थिति हो जाती है जो कि मिट्टी के पिण्ड में घड़ों की धागे में कपड़ों की वस्तुतः वह उपादान नहीं इसी से उपादेय भी नहीं है और इसी कारण निमित्त भी नहीं। सो विद्या भी नहीं और पुराण, वेद, इतिहास, सब कुछ नहीं। न संसार है न ब्रह्मा न विष्णु न रुद्र न ईश्वर न बिन्दु न कला आदि। मध्य व अन्त में उन्हें यथावस्थित ज्ञान नहीं हुआ करता। क्योंकि वे आगम्, पुराण, इतिहास एवं धर्म शास्त्रों में अभिमान धारण करने वाले हैं। क्योंकि वे बेचारे मुनि शब्दों से कहे जाने वाले बुद् बुदों

द्वारा निर्मित हैं। उस विषय में तो वैसों की ही प्रामाणिकता मानी जाती हैं। वे तो अज्ञान से घिरे हैं। बड़े यत्न से कुछ ज्ञान प्राप्त करते हैं फिर भी यह सब प्रसिद्ध है ही कि वे सब अज्ञानावृत्त हैं मुग्धतर हैं।

इह तेनाप्यज्ञानेन नो किञ्चत्। अथ यथावस्थितज्ञानेन किंचित् नेति तदस्ति तदस्ति यन्नास्ति नास्ति तत। कालकर्मात्मकमिदं स्वभावात्मक चेति। न सुकृत नो दुष्कृतम्। अत एव सुमेरुदातारो गोदातारो वा गोघ्नैः ब्राह्मणघ्नैः सुरापानैः पश्यताहरैः परोक्षहरैर्वा गुरुपापनिष्ठैः सर्वपापनिष्ठैः समानास्त एते। तैश्च न गोः न ब्राह्मणः न सुरा न पश्यताहरः न परोक्षहरः न गुरुपापानि न लघुपापानि मत एव तन्निष्ठाः मत एव न निर्वाणं नो निरय इति तदप्येष श्लोको भवति॥

परन्च यहां उस अज्ञान से, यथावस्थित ज्ञान से भी कुछ प्रयोजन नहीं। जिसकी सत्ता है वह ठीक है जिसकी नहीं वह भी सत्य है। ये सब कालकर्मात्मक (समयानुसारी) एवं स्वभावात्मक है। न पुण्य है न पाप। इसी कारण सुमेरु के दान करने वाले अथवा गौ के दाता भी गौ हत्यारे, ब्रह्म हत्यारे शराबी, चोर ( सुतार ) ( ठग ) गुरुपापी अथवा सभी पापियों के समान हैं। अर्थात् सब की स्थिति एक सी है। काल (समय) के वश ये सब चीज होती हैं आत्मा इससे परे है। उनसे न गौ, न ब्राह्मण, न शराब, न चोर, न ठग न बड़े पाप, न छोटे पाप, कुछ नहीं होते। वे सब मतनिष्ट हैं। उनका सर्वस्व मत है न मोक्ष है न नरक है। यह सब सर्व विदित है।

तत्त्वज्ञानं गुहायां निविष्टमज्ञानिकृतमार्ग सुष्ठु वदन्ति। ते तत्र साभिमाना वर्तन्ते। पुष्पितवचनेन मोहितास्ते भवन्ति। स यथातुरा भिषग्ग्रहणकाले बाला अपथ्याहितगुडादिना जनन्या वञ्चिता इति नानादेवता गुरुकर्मतीर्थनिष्ठाश्च ते भवन्ति। केचिद्वय वैदिका इति वदन्त। नान्येऽस्मभ्यम्। केचिद्वयं सर्व-

शास्त्रज्ञा इति । केचिद्वयं देवानुग्रहवन्तः । केचिद्वयं स्वप्ने उपास्य-देवताभाषिणः । केचिद्वय देवा इति । केचिद्वयं श्रीमद्रमारमण-नलिनभृङ्गा इति । केचितु नृत्यन्तु । केचितु मूर्खा वयं परम-भक्ता इति वदन्तो रुदन्ति पतन्ति च । ये केचनते ते सर्वेऽप्यज्ञानिनः । ते तु ज्ञानिनो भवन्ति ये तत्त्वज्ञानिनश्च तैस्तेषां को विशेषः । मत एव केषाञ्चित्कैश्चिद्भेदः । मत एव यत्र विरञ्चि-विष्णुरुद्रा ईश्वरश्च गच्छन्ति तत्रैव श्वानो गर्दभाः मार्जाराः कृमयश्चः मत एव न श्वानगर्दभौ व मार्जरः न कृमिः नोत्तमाः न मध्यमा न जघन्याः । तदप्येष श्लोको भवति ॥

तत्वज्ञान तो अन्धकारावृत्त है । अज्ञानियों द्वारा किये मार्ग को अच्छा कहते हैं । क्योंकि वे उस मार्ग में साभिमान हैं । वे मुग्ध वचनों से मोहित हो जाते हैं । वे सब अनेकों देवताओं, गुरुओं, सत्कर्मों तीर्थ-सेवन आदि जो कर्म करते हैं उसका कारण अच्छे पदों का लोभ ही है सद्गति का लोभ है जिसके लिये ये ठगे जाते हैं । इनकी स्थिति ऐसी ही है जैसे मातायें बच्चों को दवा आदि पी लेने के लिये गुड आदि का प्रलोभन देकर वंचित करती हैं, गुड़ के अन्दर दवा भर कर बच्चों को धोखा दे देती हैं । कुछ हमें वैदिक कहते हैं दूसरे हमें नहीं कहते । कुछ सर्व शास्त्रों के ज्ञाता कहे जाते हैं तो कुछ देवताओं की कृपा के पात्र । कुछ स्वप्न में अपने उपास्य देवता की कृपा से तथ्यों को (चोरी आदि को) बताने वाले होते हैं (जैसे कि पर्वतीय क्षेत्रों में बहुत से वागीश्वर हुआ करते हैं जो सोये हुए ही अपने भक्तों की बातें बतला दिया करते हैं । ) कुछ देव स्वरूप पूजे जाते हैं । कुछ भगवान् विष्णु रूपी कमल रस के मतवाले भौंरे हैं अर्थात् वैष्णव हैं । कुछ इसी मस्ती में नाचें तो नाचें । कुछ मूर्ख अपने परम भक्त बतलाकर रोते हैं गिरते हैं । जो भी ये इस प्रकार के दृष्टिगोचर होते हैं वे सब परम अज्ञानी हैं । जो ज्ञानी होते हैं जो तत्वज्ञानी हैं उनमें परस्पर कौन वरिष्ठ है ? (कोई नहीं ।) किन्हीं का किन्हीं से केवल मत में ही भेद होता

है । सर्वसम्मत है कि जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ईश्वर जाया करते है वहीं कुत्ते, गधे, बिल्ली, कीट, पतङ्ग भी जाया करते हैं—लीन होते हैं । सर्व-सम्मत है कि कुत्ते, गधे, बिल्ली, कीट न उत्तम है न मध्यम न अधम किन्तु एक समान हैं। तभी यह सब प्रसिद्ध हैं ।

न तच्छब्दः न किंशब्दः न सर्वे शब्दाः न माता नो पिता न वन्धुं न भार्या न पुत्रो न मित्रं नो सर्वं तथापि साधकैरात्मस्वरूपं वेदितुमिच्छद्‌भिर्जीवन्मुमुक्षुभिः सन्तः सेव्याः । भार्या पुत्रो गृहं धनं सर्वंतेभ्यो देयम्। कर्माद्वैतं न कार्यं भावाद्वैत तु कार्यम् । निश्चयेन सर्वाद्वैतं कर्तव्यम् । गुरौ द्वैतमवश्यं कायम् । यतो न तस्मादन्यत् । येन सवमिदं प्रकाशितम् । कोऽन्यः तस्मात्परः । स जीवन्मुक्तो भवति स जीवन्मुक्तो भवति । य एव वेद । य एवं वेद ।।

न तो 'तत्' शब्द है न 'किं' शब्द ( अर्थात् प्रश्नोत्तर कुछ नहीं ) और न कोई अन्य शब्द ही हैं । माता, पिता, भाई स्त्री पुत्र मित्र सभी कुछ नहीं हैं । किन्तु साधकों को अपने स्वरूप को समझने की इच्छा से जीवन्मुक्तेच्छा से सन्तो की सेवा करनी चाहिए । स्त्री पुत्र घर धन सब कुछ उन्हें अर्पण कर देना चाहिए अर्थात् उनके कारण छोड़ देना चाहिये । कर्माद्वैत तो नहीं किन्तु भावाद्वैत करना चाहिये । निश्चय ही सर्वाद्वैत करना चाहिये । किन्तु गुरु में द्वैत अवश्य करना चाहिये क्योंकि उससे बढ़कर अन्य कुछ नहीं जिसके द्वारा कि यह सब संसार प्रकाशित होता है, जाना जाता है । दूसरा कौन उससे बढ़कर है ? यह निश्चित ही जीवन्मुक्त हो जाता है जो कि इस तथ्य को भली भांति समझता है ।

।। स्वसंवेद्योपनिषद् समाप्त ।।

# जाबाल्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथा बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदानिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरतेय उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शान्तिपाठ—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद ब्रह्म हैं। मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। ऐसे रहते हुए मुझको उपनिषद् में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

अथ हैनं भगवन्तं जावालि पैप्पलादिः पप्रच्छ भगवन् मे ब्रूहिपरमतत्त्वरहस्यम् ॥ १ ॥

किं तत्त्वं को जीवः कः पशुः क ईशः को मोक्षापाय इति ॥ २ ॥

स तं होवाच साधु पृष्टं सर्वं निवेदयामि यदाज्ञातमिति ॥ ३ ॥

पुनः स तमुवाच कुतस्त्वया ज्ञातमिति ॥४

पुनः स तमुवाच षडाननादिति ॥५

पुनः स तमुवाच तेनाथ कुतो ज्ञातमिति ॥६

पुनः स तमुवाच तेनेशानादिति ॥७

पुनः स तमुवाच कथं तस्मात्तेन ज्ञातमिति ॥८

पुनः स तमुवाच तदुपासनादिति ॥९

पुनः स तमुवाच भगवन् कृपया मे सरहस्यं सर्वं निवेदयेति ॥१०॥

भगवान जाबालि से पैप्पलादि ने प्रश्न किया—"भगवन् !" परमतत्व के रहस्य का कथन कीजिए। तत्व क्या है ? जीव क्या है ? पशु क्या है ? ईश कौन है ? मोक्ष का उपाय क्या है ? जाबालि ने कहा—"बड़ा अच्छा प्रश्न किया, जो कुछ मुझे मालूम है सब बतलाता हूँ।" पैप्पलादि ने कहा—"आपको कैसे मालूम हुआ ?" उत्तर मिला "षड़ानन से।" फिर पूछा "उन्हें कहाँ से ज्ञात हुआ ?" जाबालि ने कहा—ईशान से।' फिर पूछा—"उन्होंने कैसे जाना ?' उत्तर मिला 'उन्होंने उपासना करके जाना था।" तब पैप्पलादि बोले 'भगवन् ! अब वह सब रहस्य मुझसे कृपा पूर्वक कहिये।

स तेन पृष्टः सर्वं निवेदयामास तत्त्वम्। पशुपतिरहङ्काराविष्टः संसारी जीवः स पशुः। सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसपन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ॥११॥

के पशव इति पुनः स तमुवाच ॥१२

जीवाः पशव उक्ताः तत्पतित्वात् पशुपतिः ॥१३

स पुनस्तं होवाच कथं जीवाः पशव इति। कतं तत्पतिरिति ॥१४॥

स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमाना गवादयः पशवः। यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपति ॥१५

तज्ज्ञान केनोपायेन जायते ॥१६

पुनः स तमुवाच विभूतिधारणादेव ॥१७

तत्कारः कथमिति । कुत्रकुत्र धार्यम् ।।१८

पुनः स तमुवाच सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैर्भस्म संगृह्याग्निरिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य जलेन संसृज्य त्र्यायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेष्विति तिसृभिरस्त्र्यायुषैस्त्र्यम्बकैस्तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत । व्रतमेतच्छाम्भव सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति । तत् समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय ।।१९।।

अथ सनत्कुमारः प्रमाणं पृच्छति त्रिपुण्ड्रधारणस्य । त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोराभ्रुवोर्मध्यतश्च ।।२०।।

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिः ऋग्वेदः प्रातःसवनं प्रजापतिर्देवो देवतेति । याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजेर्वेदो माध्यन्दिनं सवनं विष्णुर्देवो देवतेति । याऽस्य तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमा द्यौर्लोकःपरमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ।।२१

त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापामकोपपातकेभ्यः पूतो भवति । स सर्वान् वेदानधीतो भवति । स सर्वान् देवान् ध्यातो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । स सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते ।। इति ।।२२।।

ॐ सत्यमित्युपनिषत् ।।२३।।

जाबालि ने कहा—"मैं उस सब तत्व को कहता हू । अहंकार से युक्त पशुपति ही संसारी जीव होकर पशु हो जाता है । पंच कृत्यों से सम्पन्न, सर्वत्र, सर्वेश्वर ईश ही पशुपति है । 'पैप्पलादि' ने जिज्ञासा की कि 'पशु कौन है ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जीव को ही पशु कहा जाता है और उनका पति होने से वे पशुपति कहलाते हैं ।' फिर पूछा—'जीव पशु किस प्रकार होता है ?' उत्तर दिया—जैसे घास खाने वाले,

विवेक, रहित, अन्य के दास, कृषि कार्य आदि में संलग्न, अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करने वाले, वन्धन में पड़े हुए पशु किसी स्वामी के वश में रहते हैं, इसी प्रकार जीवों के स्वामी सर्वज्ञ ईश होते हैं।" फिर पूछा "उनका ज्ञान किस प्रकार होता है?" उत्तर दिया—"विभूति धारण करने से।" "उसकी क्या विधि है और कौन से स्थानों पर उसे धारण किया जाता है?" उन्होंने कहा—"सद्यो जातादि" पाँच ब्रह्म में जो भस्म को ग्रहण करे, "अग्निरिति भस्म" इस मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे, 'मान स्तोक' कह कर उसे धारण करे, जल से गीला करके 'त्र्यायुष' इस मंत्र से सिर, ललाट, छाती, कन्धों पर 'त्रायुष और त्र्यंबक' इन मन्त्रों से तीन रेखा करे। यह शाम्भव व्रत सब वेदों में वेदवासियों को बतलाया गया है, क्योंकि इसके करने से फिर से जन्म नहीं लेना पड़ता। सनतकुमार ने प्रमाण पूछने पर बतलाया कि त्रिपुण्ड धारण के लिए तीन प्रकार की रेखा मध्य में ललाट तक, नेत्रों तक, भौंहों तक करे। उसकी प्रथम रेखा गार्हपत्य अग्नि, रजोगुण, 'अ' कार, भूलोक, अपनी आत्मा, क्रियाशक्ति, ऋग्वेद, प्रातः सवन रूप है और प्रजापति उसका देवता है। उसकी दूसरी रेखा दक्षिणाग्नि, 'उ'कार, सतोगुण, अन्तरिक्ष लोक, अन्तरात्मा इच्छाशक्ति यजुर्वेद माध्यन्दिन सवन रूप है और उसका देवता विष्णु है तीसरी रेखा आहवनीय अग्नि 'म'कार तमोगुण द्यौलोक परमात्मा ज्ञानशक्ति सामवेद तृतीय सवन रूप है और महादेव उसके देवता हैं। त्रिपुण्ड भस्म का लगाया जाता है और जो विद्वान् ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी उसे धारण करता है वह महापातकों और उपपातकों से छूट कर पवित्र हो जाता है। वह सब देवताओं का ध्यान करने वाला हो जाता है। वह सब तीर्थों से स्नान करने के तुल्य हो जाता है। वह सब रुद्र मन्त्रों का जप करने वाला होता है। वह फिर से जन्म नहीं लेता फिर से जन्म नहीं लेता। ॐ यह सत्य उपनिषद है। हरि ॐ तत्सत् ॥११-२३॥

॥ जाबाल उपनिषद् समाप्त ॥

# मैत्रैय्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदानिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

शान्तिपाठः---मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी घ्राण, चक्षु, श्रोत्र बल और सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद् ब्रह्म हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। ऐसे ब्रह्मरत रहते हुए मुझको उपनिषद् में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः।

## प्रथमोध्यायः

बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। सतत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्थिष्ठति अन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवाञ्छाकान्यय उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच। भगवन्नाहमात्मवित् त्वं तत्त्ववित् शृणुमो वयम्। स त्वं नो ब्रूहीति। एतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्कामान्वृणीष्वेति। शाकायन्यस्य चरणावभिमृशमानो राजेमां गाथां जगाद॥१॥

अथ किमेतैर्वान्यानां शेषणं महार्णवानां शिखरिणां

प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणाम् । सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीति अन्धूदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्ससारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

भगवन्निदं शरीरं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्ययेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णम् । एतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥३॥

ॐ। बृहद्रथ नाम के राजा को, शरीर नाशवान है, ऐसा अनुभव होने पर वैराग्य हो गया इसलिए वह अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर वन को चला गया। वहाँ उसने उग्र तपश्चर्या की। वह सूर्य के सामने देखता हुआ हाथ ऊँचा करके खड़ा रहता। एक हजार वर्ष पश्चात् इस तपस्या के फल से एक बार निर्धूम अग्नि के समान तेजस्वी शाकायन्य नाम के आत्मवेत्ता महामुनि उनके पास आये। उन्होंने राजा से कहा – 'उठ-उठ! वर माँग।' तब राजा ने उनको नमस्कार करके कहा – 'हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ और आप तत्वज्ञाता हैं, यह हमने सुना है, इसलिए आप मुझे तत्व का उपदेश कीजिये।' इस पर महामुनि शाकायन्य ने यह विषय अत्यन्त कठिन बतलाकर अन्य कोई वर माँगने को कहा। यह सुन कर बृहद्रथ राजा ने शाकायन्य मुनि के दोनों चरणों को स्पर्श करके कहा ।१। 'बड़े समुद्र सूख जाते हैं, पर्वत टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलायमान हो जाते हैं, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है, देव भी स्थिर नहीं रह सकते, तो ऐसे नाश होने वाले संसार में विषय भोगों से क्या लाभ? विषय में डूबे हुए प्राणियों को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में घूमना पड़ता है। इसलिए हे मुनिराज! अन्धेरे कुंये में मेंढ़क की तरह पड़े हुए मेरा उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। हे भगवन! इस संसार में मुझे शरण देने वाले आप ही हैं

।२। हे भगवन् ! मैथुन से उत्पन्न हुआ यह शरीर अगर ज्ञान रहित हो तो इसे नरक ही समझना चाहिए। क्योंकि यह मूत्र के द्वार से निकला है, हड्डियों से चिना हुआ है, माँस से लीपा गया है, चमड़े से मढ़ा गया है और विष्ठा, मूत्र वात, पित्त, कफ मज्जा, मेद ( चरबी ) और अन्य कई तरह के मलों से भरा हुआ है। ऐसे शरीर में रहने वाले मुझको आप ही शरण दो' ।३।

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानम् । महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं खल्वात्मा ते। कतमा भगवन्वर्ण्य इति। तं होवाच ।४।

शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः ।
येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥५
तपसा प्राप्यते सत्वं सत्वात्संप्राप्यते मनः ।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥६
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥७
स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः ।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृता कामवशानुगाः ॥८
चित्तमेव हि संसारस्तस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥९
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् ।
प्रसन्नात्मात्मानि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥१०

यह सुनकर भगवान् शाकायन्य मुनि ने अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा से कहा—'हे महाराज वृहद्रथ ! तू कृतकृत्य है, मरुत नाम से

विख्यात है यही तेरी आत्मा है।' तब राजा ने कहा—हे भगवन् ! आत्मा क्या है इसका वर्णन कीजिये।' यह सुनकर मुनि ने कहा—'शब्द, स्पर्श आदि विषय अनर्थ करने वाले हैं और उसमें आसक्त हुए भूतात्मा को परमपद का स्वरूप याद नहीं आता।४-५। तप द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने से मन वश में आता है, मन वश में होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा के मिल जाने पर संसार से छुटकारा हो जाता है।६। जिस प्रकार लकड़ी के समाप्त हो जाने पर अग्नि अपने आप बुझ जाती है, उसी प्रकार वृत्तिओं का नाश होने पर चित्त अपने कारण रूप आत्मा में शान्त बन जाता है।७। अपने मूल कारण में शान्त बने हुए और सत्य की तरफ झुके हुए इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी मूढ़ता के दूर होते ही, कर्मों के वश में रहने वाले ये विषय झूंठे जान पड़ते हैं।८। चित्त ही संसार है, इसलिये प्रयत्नपूर्वक उसे शुद्ध करना। 'जैसा जिसका चित्त, वैसी उसकी गति' यह एक सनातन सिद्धान्त है।९। चित्त शान्त होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शान्त बना मनुष्य जब आत्मा में लीन होता है तब उसे अक्षय आनन्द प्राप्त होता है।१०।

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्यैवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥११

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम्।
साक्षिण बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम्॥१२

अगोचरं मनोवाचामधूताधिसंप्लवम्।
सत्तामात्रप्रकाशकप्रकाश भावनातिगम्॥१३

अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम्।
ध्रुबं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
निर्विकल्प निराभासं निर्वाणमयसंविदम्॥१४

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मं संविभुश्चाद्वितीयः ।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ।।१५

मनुष्य का चित्त जितना बाहरी विषयों में आसक्त रहता है उतना ही अगर ब्रह्म में आशक्त हो जाय तो बन्धनों से मुक्त होना सहज ही है ।।११।। हृदय कमल के बीच बुद्धि के समस्त कर्मों के साक्षी रूप और परम प्रेम के विषय परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए ।।१२।। यह परमात्मा मन और वाणी से नहीं जाना जा सकता । वह आदि और अन्त से रहित है । एक मात्र सत रूप प्रकाश से प्रकाशित होता है और कल्पना से परे है ।।१३।। उसे ग्रहण करने अथवा छोड़ने के लिए सामान्य भाव की अथवा विशेष भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती । वह तो स्थिर, शान्त और गम्भीर है । वह तेज भी नहीं है और अन्धकार रूप में फैला हुआ भी नहीं है, वरन् संकल्प रहित आभास रहित और मुक्त चैतन्य ही है ।।१४।। वह नित्य, शुद्ध, ज्ञानमय, मुक्त स्वभाव, सत्य, सूक्ष्म, सर्वव्यापक और एकमात्र ही है । इस परम आनन्द का समुद्र और प्रत्येक स्वरूप का धारण करने वाला मैं ही हूं, इसमें कोई संशय नहीं है ।।१५।।

आनन्दमतन्तर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् ।
आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ।।१६

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्तिः।।१७

वर्णाश्रमं मावयवस्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम् ।
पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्ते ।।१८

अन्तःकरण में पाये जाने वाले आनन्द के सहारे रहने वाला, आशा रूप पिशाच को दूर धकेलने वाला, समस्त जगत को मदारी के खेल की तरह देखने वाला और असंग, ऐसे भीतर दुःखों का प्रवेश कहाँ से हो सकता है ? ।। १६ ।। वर्ण और आश्रम के धर्मों का पालन करने वाले मूढ़ लोग ही अपने कर्मों का फल भोगते हैं, परन्तु वर्ण आदि के धर्मों को छोड़ कर आत्मा में ही स्थिर रहने वाले मनुष्य, भीतर के आनन्द से ही सन्तुष्ट रहते हैं ।।१७।। वर्ण और आश्रम के धर्म, उसी प्रकार अवयवों वाला यह शरीर—ये सब आदि अन्त वाले होने के कारण अत्यन्त कष्ट रूप ही हैं, इसलिए पुत्र आदि के शरीरों पर मोह न रख कर परम आनन्द रूप अनन्त में ही स्थिर रहना चाहिए ।।१८।।

। पहला अध्याय समाप्त ।।

## द्वितीयोऽध्याय

अथ भगवान्मैत्रेय कैलासं जगाम । तं गत्वोवाच । भो भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति । स होवाच महादेवः ।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ।।१
अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।।२
ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ।।३
जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम् ।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ।।४

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।
विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥५

एक समय भगवान मैत्रेय कैलाश पर्वत पर गए और वहां जाकर महादेव से उन्होंने कहा—'हे भगवन् ! परमतत्व का रहस्य मुझे बतलाओ।" महादेव ने कहा—"यह शरीर देवालय है और उसमें जीव केवल परमात्मा है, इसलिए अज्ञान रूप निर्माल्य को छोड़ देना और "परमात्मा मैं ही हूं" ऐसा समझकर उसकी पूजा करना ॥१॥ जीव और परमात्मा में भेद न समझना ही ज्ञान है और मन को विषयों से छुड़ाना यह ध्यान है। मन के मैल को त्याग करना ही स्नान है और इन्द्रियों को वश में रखना यह पवित्रता है ॥२॥ ब्रह्म रूप अमृत पीना और देह टिकी रहे इस उद्देश्य से भिक्षा मांगना। स्वयं अकेला बनकर द्वैत रहित एकान्त में रहना। बुद्धिमान पुरुष इस प्रकार चलकर मुक्ति को प्राप्त करता है ॥३॥ मां बाप के मल से बना हुआ, जन्म-मरण वाला, सुख दुःख का स्थान रूप और अपवित्र ऐसे इस शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए ॥४॥ सात धातुओं से बने, महारोग वाले पाप के घर के सदृश्य, अस्थिर, और विकारों के आकार से भरे हुए, ऐसे इस शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए ॥५॥

नवद्वारमलस्रावं सदा काले स्वाभावजम् ।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥६
मात्रा सूतकसंबद्धं सूतके सह जायते ।
मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥७
अहममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिलोचनम् ।
शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥८
चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम् ।
ज्ञानवैराग्यमृतोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते ॥९

अद्वैतभावना भैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम् ।
गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥१०

आंख, कान आदि नौ दर्वाजों द्वारा जिसमें से हमेशा मल निकलता रहता है और इस मल की दुर्गन्ध से जो भरा रहता है, ऐसे इस दुष्ट मलिन शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए ॥६॥ माता के सूतक से सम्बन्धित होने के कारण मनुष्य के साथ ही सूतक भी जन्म लेता है और मरण का सूतक भी इसके साथ लगा रहता है, इस लिए इस शरीर को छूकर स्नान करना चाहिए ॥७॥ मल, मूत्र दुर्गन्ध आदि की शुद्धि तो मिट्टी, जल आदि से होती है, परन्तु यह तो लौकिक शुद्धि है । वास्तविक पवित्रता तो "मैं और मेरा" को त्याग करने से ही होती है ॥८॥ पवित्रता चित्त को शुद्ध बनाती है और वासनाओं का नाश करती है । पर ज्ञान रूप मिट्टी और वैराग्य रूप जल से धोने के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है ॥९॥ अद्वैत की भावना, यही सच्ची भिक्षावृत्ति है और द्वैत की भावना, यही अभक्ष्य वस्तु है । भिक्षु को गुरु और शास्त्र के आदेशानुसार भिक्षा मांगनी चाहिए ॥१०॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः ।
कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्दूरतो वसेत् ॥११
अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम् ।
आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥१२
मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥१३
हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति ।
नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ॥१४
एकमेवाद्वितीयद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम् ।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठ न वनान्तरम् ॥१५

जैसे चोर कैदखाने से छूट कर दूर जाकर बसता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को संन्यास लेकर अपने देश से दूर निवास करना चाहिए ॥११॥ अहंकार रूप पुत्र को, धन रूप भाई को, मोह रूप घर को और आशा रूप पत्नी को छोड़ देने वाला तुरन्त ही मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥१२॥ मोह रूप मां मर गई है और ज्ञान रूप पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिए मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुए हैं, तो फिर सन्ध्या वन्दन आदि कर्म किस प्रकार किये जा सकते हैं ? ॥१३॥ हृदय रूप आकाश में चैतन्य रूप सूर्य हमेशा प्रकाशित रहता है और वह अस्त भी नहीं होता और उदय भी नहीं होता, तो फिर सन्ध्या किस प्रकार करनी ? ॥१४॥ यहाँ सब कुछ एक ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा गुरु के उपदेश द्वारा निश्चय हो गया है, यही भावना एकान्त स्वरूप है मठ या वन का मध्य भाग एकान्त नहीं है ॥१५॥

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम् ।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात् ॥१६
कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु ।
संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥१७
वमनाहारवद्यस्य भवति सर्वेषणादिषु ।
तस्याधिकारः सन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥१८
यदा मानसि वैराग्यं जात सर्वेषु वस्तुषु ।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥१९
द्रव्यार्थतन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।
सन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥२०

जो संशय रहित हैं, वे ही मुक्त हो सकते हैं और जिनको संशय है वे अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्त नहीं हो सकते । इससे ( गुरु और शास्त्र के वचनों पर ) विश्वास रखना ॥१६॥ कर्मों को

छोड़ देना कुछ संन्यास नहीं है, इसी प्रकार 'मैं संन्यासी हूं' ऐसा कह देने से भी कोई संन्यासी नहीं हो सकता। समाधि में जीव और परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास कहलाता है।१७। जिसे समस्त इच्छाएं उगला हुआ खाने के समान लगती है और जिसने देह की ममता छोड़ दी है, उसी को संन्यास का अधिकार है।१८। यदि सब वस्तुओं के ऊपर से मन में वैराग्य हो जाय तभी विद्वान् मनुष्य को संन्यास लेना चाहिए, नहीं तो अवश्य पतन होगा।१९। जो मनुष्य पैसा के, अन्न के, वस्त्रों के अथवा नामवरी के लालच से संन्यास लेता है, वह दोनों तरफ से भ्रष्ट हुआ कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।२०।

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।
अधमा तन्त्रचिन्ता च तीर्थ भ्रान्त्यधमाधमा ॥२१
अनुभूति विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते ।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥२२
न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो यो माधूकरमान्तरम् ।
वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥२३
धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥२४
यन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।
परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥२५

तत्व का विचार उत्तम है, शास्त्र का विचार मध्यम है, मन्त्रों की साधना अधम है और तीर्थों में फिरना अधम से भी अधम है।२१। जिस प्रकार कोई पेड़ की छाया में दिखाई देने वाले फल को खाकर आनन्द प्राप्त करना चाहे उसी प्रकार वास्तविक अनुभव के बिना मूढ़ मनुष्य ब्रह्म का आनन्द पाने की व्यर्थ कल्पना करता है।२२। जो धन में बड़ा है जो आयु में बड़ा है अथवा जो विद्या में

बड़ा है, वे सब अनुभव में बड़े के सामने नौकर अथवा शिष्य के समान ही हैं ।२४। जो माया के प्रभाव से मूढ़ चित्त वाले होकर 'मैं' रूप आत्मा को पूर्ण रूप से नहीं जानते, वे यदि बुद्धिमान भी हों तो कौआ की तरह अभागे पेट को भरने के लिए जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते हैं ।२५।

पाषाणलोहमणिमृन्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्जनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ।।२६।।

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।
अन्तः शून्यो बहिः शून्यशून्यकुम्भ इवाम्बरे ।।२७
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राह्यकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ।।२८
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभाससमात्मानं केवलं भज ।।२९
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ।।३०

पत्थर, सोना अथवा मिट्टी द्वारा बनाई मूर्तियों की पूजा, मोक्ष की इच्छा वाले को फिर से जन्म और भोग प्राप्त कराने वाली होती है; इसलिये फिर से जन्म न लेना पड़े इस उद्देश्य से संन्यासी को ऐसी बाहर की पूजा त्याग कर हृदय में ही (आत्मा की) पूजा करनी चाहिए ।२६। समुद्र में रखा घड़ा भीतर और बाहर पानी से भरा हुआ है और बाहर रखा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर खाली ही है ।२७। तू ग्रहण करने वाला मत बन, इसी प्रकार ग्रहण करने योग्य विषय रूप भी मत बन । ऐसी सब कल्पनाओं को त्याग कर शेष जो कुछ रहे, उसी में तन्मय हो ।२८। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को वासना के साथ

ही छोड़कर, दर्शन का प्रथम आभास जिसमें से होता है उस आत्मा को ही तू भज ।२९। सब सङ्कल्प जिसमें शान्त हो गये हैं और जागृति तथा निद्रा जिसमें से दूर हो गई है, ऐसी जो पत्थर के समान अवस्था है, वही चरम स्वरूपावस्था है ।३०।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

## तृतीयोऽध्यायः

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् ।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥१
अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ।
अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥२
विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥३
मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥४
भावाभावविहीनोऽस्मि भाषाहीनोऽस्मि भास्म्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥५
तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः ।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ॥६

"मैं ही हूं, दूसरा भी मैं ही हूं, मैं ब्रह्म हूं, उत्पत्ति हूं, सर्वलोक का गुरु हूं और सर्वलोक में जो कुछ है वह मैं हूं ।१। मैं ही सिद्ध हूं, शुद्ध हूं और परमतत्व भी ही मैं हूं । मैं सदैव हूं, मैं नित्य हूं और पवित्र हूं ।२। विज्ञान मैं हूं, विशेष मैं हूं, सोम मैं हूं, सब कुछ मैं हूं, मैं शुभ हूं, शोक रहित हूं, सम हूं और चैतन्य हूं ।३। मैं मान और अपमान से रहित हूं, तीन गुणों से रहित हूं, शिव हूं द्वैत और अद्वैत

से रहित हूं, सुखदुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हूं, उत्पत्ति और विनाश से परे हूँ, प्रकाश से अलग हूं, पर प्रकाश रूप भी मैं ही हूं। मैं शून्य और अशून्य रूप हूं। मैं सुन्दर और असुन्दर हूं, समता और विषमता रहित हूं, नित्य हूं, शुद्ध हूं और सदाशिव हूं। मैं सर्व और असर्व की कल्पना से रहित हूं, सात्विक हूं, और सदैव हूं।४-६।

एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च।
सदसद्भेदहीनाऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ॥७
नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः।
नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥८
आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम्।
बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि शुद्धं ब्रह्मास्मि साऽस्म्यहम् ॥९
चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोस्मि परात्परः।
सदा विचाररूपाऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥१०

मैं एक संख्या और दो संख्या से रहित हूं, सत और असत के भेद से रहित हूँ और संकल्प से रहित हूं।७। मैं भिन्नता रहित हूं और अखंड आनन्द स्वरूप हूं। मैं 'मैं" भी नहीं हूं और अन्य भी नहीं हूं। मैं देह आदि से रहित हूँ, आश्रय और आधार रहित हूं, बन्ध और मोक्ष रहित हूं और शुद्ध ब्रह्म हूँ।८-९। मैं चित्त आदि सब से रहित हूँ, मैं "मैं" से भी परे हूं। मैं सदा विचार रूप हूं साथ ही विचार रहित भी हूं।१०।

अकारोकाररूपोऽस्म मकारोऽस्मि सनातनः।
ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मिसोऽस्म्यहम् ॥११
सर्वत्र पूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः।
सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥१२
लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम्।
मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥१३

न जगत्सर्वंद्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् ।
प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम् ॥१४
सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् ।
सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ॥१५

'अ'कार, 'उ'कार, 'म'कार रूप भी मैं ही हूं । मैं धाता, ध्यान और ध्येय से रहित हूं सर्व और पूर्ण स्वरूप हूं और सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ । समस्त तीर्थ भी मैं हूँ और भगवान् शिव भी मैं ही हूं ।११-१२। मैं ही लक्ष्य और अलक्ष्य से रहित और लय न होने वाला रस रूप हूं, मैं ही प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता से रहित तथा शिव रूप हूं, ।१३। मैं इस जगत का सर्व द्रष्टा नहीं हूँ, मैं आँख आदि समस्त इन्द्रियों से रहित हूँ । मैं ही वृद्धि पाया हुआ, ज्ञान पाया हुआ, प्रसन्न और परम हूं ।१४। मैं समस्त इन्द्रियों से रहित हूं तो भी समस्त कर्म करने वाला मैं ही हूँ । समस्त वेदान्त द्वारा मैं ही हूँ ।१५।

मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ।
नित्य चिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ॥१६
यत्किंचिदपिहीनोऽस्मि स्वल्पतप्यपिनास्म्यहम् ।
हृदयग्रन्थिहीनोऽस्म हृदयाम्बुजमध्यगः ॥१७
षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् ।
अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥१८
देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् ।
नास्तिनास्तिविमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम् ॥१९
अखण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम् ।
प्रपञ्चमुक्तचित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥२०

आनन्द और शोक रूप, सर्व मौन के फल रूप, नित्य चिद्रूप और सच्चिद्रूप भी मैं हूं ।१६। जो कुछ हीन है, वह मैं हूं तो भी अति अल्प और अधिक नहीं हूं । मैं हृदय की गांठ बिना का हूं और हृदय कमल के बीच में रहने वाला भी मैं हूँ ।१७। मैं जन्म आदि छः विकारों से रहित, चर्म आदि छः कोश से रहित और काम, क्रोध, आदि छः शत्रुओं से रहित हूं और गहरे से गहरे स्थानों में रहने वाला हूँ ।१८। मैं देश और काल से रहित हूँ, दिगम्बर और आनन्द रूप हूं । यह नहीं है, वह नहीं है, पर मैं हूं । मैं विमुक्त हूं और नकार से रहित हूं ।१९। मैं अखण्ड आकाश हूं, संसार में प्रपञ्च में से उठ गया चित्त वाला हूं और संसार-प्रपञ्च से रहित हूं ।२०।

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥२१
कायकायिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥२२
सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा ।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥२३
सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।
एवं स्वानुभवो यस्य सोऽमस्मि न संशयः ॥२४
यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥२५
इत्युपनिषत् ॥

मैं सर्व प्रकाश स्वरूप हूं और चैतन्य रूप ज्योति भी मैं ही हूं । मैं तीन काल से परे हूं और काम-क्रोध आदि से रहित हूं ।२१। मैं शरीर आदि से दूर हूं, निर्गुण हूं और केवल एक हूं, मैं मोक्ष बिना का हूं, तो भी मुक्त हूं ।२२। मैं सत्य और असत्य रहित हूं । केवल मैं ही सत्यस्वरूप से ( भिन्न ) सब कालों में नहीं हूं । मुझे कहीं जाना अथवा न जाना नहीं है और जाने का स्थान भी नहीं है ।२३। मैं

हमेशा सम रूप और शान्त परमात्मा हूं, ऐसा जिसका स्वानुभव है, वह अवश्य ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्म रूप हो जाता है।२४। इसमें कुछ भी संशय नहीं। जो मनुष्य एक बार भी इसे सुनता है, वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है, ऐसा इस उपनिषद् का कहना है।२५।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

॥ मैत्रेयी उपनिषद् समाप्त ॥

---

# शाण्डिल्योपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शांतिः शान्तिः शान्तिः ॥

शांतिपाठ--हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अंगों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान् कीर्ति वाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें जिसकी गति रोकी न जा सके। ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें। ॐ शांति, शांति, शांति ॥

## प्रथमोऽध्यायः

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छात्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गयोगमनुब्रूहीति। स होवाचाथर्वा—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि। तत्र दश यमाः। तथा नियमाः। आसनान्यष्टौ। त्रिः प्राणायामः। पञ्च प्रत्याहाराः। तथा धारणाः। द्विप्रकारं ध्यानम्। समाधिस्त्वेकरूपः।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाऽऽर्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश। तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम्। सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभि-

भूतहितयथार्थाभिभाषणम् । अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहा । ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्याग । दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः । आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ व एकरूपत्वम् । क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम् । धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम् । मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः । शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति । तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम् । मनःशुद्धिरान्तरम् । तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ॥१॥

शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा कि "आत्मा की प्राप्ति के उपाय रूप अष्टाङ्ग योग मुझसे कहो ।" तब अथर्वा मुनि बोले—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योग के अङ्ग हैं। इसमें दश यम हैं, नियम भी दस हैं, आसन आठ हैं, प्राणायाम तीन हैं, प्रत्याहार पांच हैं, धारणा भी पांच हैं, ध्यान दो प्रकार का होता है और समाधि एक प्रकार की है। इसमें अहिंसा, सत्य, अन्य की वस्तु के प्रति निस्पृहता, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धीरज, अल्प आहार और पवित्रता—ये दश यम हैं। अहिंसा का अर्थ है मन, वचन, काया और कर्म द्वारा सर्व प्राणियों को सदैव दुःख न देना, सत्य अर्थात् मन, वचन, काया और कर्म द्वारा प्राणियों का हितकारक जो हो वैसा ही बोलना, आस्तेय आस्तेय अर्थात् मन, वचन, काया और कर्म द्वारा अन्य के द्रव्य के विषय में निस्पृह रहना, ब्रह्मचर्य अर्थात् सर्व अवस्थाओं में मन, वचन काया और कर्म द्वारा सब प्रकार के मैथुन का त्याग, दया अर्थात् सब प्राणियों पर सदैव कृपा, आर्जव अर्थात् मन, वचन, काया और कर्म के रूप में अपनी तरफ लोग शास्त्रीय-अशास्त्रीय आचरण में प्रवृत्ति करें या निवृत्ति

करें, तो भी समान भाव रखना। क्षमा अर्थात् सदैव प्रिय-अप्रिय पूजा अथवा ताड़ना हो, तो भी सहन करना, धृति अर्थात् धन की हानि हो, अपने इष्ट सम्बन्धियों का वियोग हो, या संयोग हो, तब सदैव चित्त को स्थिर रखना. मिताहार अर्थात् पेट में चौथा भाग खाली रहे इस प्रकार उत्तम घी-दूध वाले मधुर पदार्थों का आहार करना, शौच अर्थात् बाहर और भीतर दोनों प्रकार की शुद्धि करनी, इसमें मिट्टी और जल द्वारा बाह्य शुद्धि होती है और मन की शुद्धि यह अन्तर की शुद्धि है। यह शुद्धि अध्यात्म विद्या से ही प्राप्त होती है ॥१॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

तपः सन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपव्रतानि दश नियमाः। तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्। संतोषो नाम यदृच्छालाभतुष्टिः। आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः। दानं नाम न्यायोर्जितधनधान्यादे श्रद्धयाऽर्थिभ्यः प्रदानम्। ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः। ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्ग कुत्सितकर्मणि लज्जा। मतिर्नाम वेदहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा। जपो नाम विधिवद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः। तद्द्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम्। वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्रगुणम्। मानसं कोटिगुणम्। व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम् ॥२॥

तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत–ये दश नियम हैं। इसमें तप अर्थात् विधिपूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से शरीर का सूखना, सन्तोष अर्थात् दैवेच्छा से जो कुछ मिल जाय उस पर सन्तोष रखना, आस्तिक्य

अर्थात् वेद में कहे धर्म और अधर्मों के ऊपर विश्वास रखना, दान अर्थात् न्यायपूर्वक प्राप्त किये धनधान्य आदि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना, पूजन, सिद्धान्त श्रवण अर्थात् वेदान्त के अर्थ का विचार करना, ह्री अर्थात् वेदमार्ग में और लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कर्मों के करने में लज्जा अनुभव हो, मति अर्थात्-वेदोक्त कर्म मार्ग में श्रद्धा, जप अर्थात् विधिपूर्वक गुरु ने जिस वेदमान्य मन्त्र का उपदेश दिया है उसका अभ्यास वह दो प्रकार से होता है—वाचिक और मानसिक । इसमें मानसिक तो मन के द्वारा ध्यानयुक्त होने से होता है और वाचिक दो प्रकार से होता है—जोर की आवाज से और धीमी आवाज से । इसमें जोर की आवाज से जप करने से जितना कहा जाय उतना ही फल मिलता है, पर धीमी आवाज से जप करने से हजार गुना फल मिलता है और मानसिक जप का फल तो करोड़ गुना मिलता है । व्रत का आशय है वेदोक्त विधि-निषेध का नियमित आचरण करना ॥२॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ । स्वस्तिकं नाम –

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥१
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं यथा ॥२
अंगुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च ।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ॥३
एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितः ॥४

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीश्च प्रसार्य च ॥५
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेति नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा ॥६

स्वस्तिक, गोमुख, पदम, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त और मयूर नाम के आठ आसन हैं। इनमें पैर के दोनों तलवों को दोनों जानुओं के बीच में बराबर रखके सीधा तनकर बैठना स्वस्तिकासन कहा जाता है ।१। पीठ की दाहिनी तरफ दाहिना गुल्फ और बांई तरफ बाँया गुल्फ जोड़ कर गोमुख के समान बैठना गोमुखासन है ।२। हे शांडिल्य ! दोनों जंघाओं पर दोनों पैरों के तलवों को रख कर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को उल्टी रीति से पकड़ कर रखना, सर्व मान्य पद्मासन है ।३। एक जांघ को एक पैर से मिला कर दूसरी जांघ को दूसरे पैर से मिला कर बैठना वीरासन कहलाता है ।४। दाहिने गुल्फ के साथ बांये गुल्फ को और बांये गुल्फ के साथ दाँये गुल्फ को लगाकर बैठना, दोनों हाथों को दोनों जानुओं पर रखना, दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाये रखना। फिर भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुख से नासिका के अग्र-भाग पर दृष्टि रखना, इसे सिंहासन कहते हैं और योगीजन सदा इसकी प्रशंसा करते हैं ॥५-६॥

योनिं वामेन संपीडच मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ।
भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत् ॥७
गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्यः पार्श्वयोः क्षिपेत ।
पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम् ॥८
संपीड्यं सीविनी सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् ॥९

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ।
सस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ॥१०
समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि सस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्व पापप्रणाशनम् ॥११

शरीरान्तर्गताः सर्वरोग विनश्यन्ति । विषाणि जीर्यन्ते येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत् ।

येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति । यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत् । तेन नाड्य शुद्धा भवन्ति ।

गुदा को बांये पैर से दबा कर दांये पैर को लिङ्ग के ऊपर लगाना फिर भौंहों के मध्य में लक्ष्य जमाना, सिद्धासन कहलाता है ।७। लिङ्ग के नीचे की सीवन पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को दृढ़ता पूर्वक पकड़ कर निश्चलतापूर्वक बैठने से भद्रासन होता है जो सर्व रोगों और विष आदि का नाश करने वाला है ।८। सूक्ष्म सीवन को दाँयी तरफ से गुल्फ द्वारा दबा कर दाँये गुल्फ से दबा कर रखना, मुक्तासन कहलाता है ।६। हाथ की दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर रखना और दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों तरफ दबा कर बैठना फिर माथे और पैरों को ऊपर उठाकर लकड़ी के समान आकाश में अधर रखना यह मयूरासन है जो सर्व पापों का नाश करने वाला है ।१०। इन आसनों से शरीर के भीतर रहने वाले समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं और बिष का शमन हो जाता है । जो अशक्त हो उसे प्रत्येक आसन को सुख पूर्वक धारण कर सकने का अभ्यास करना चाहिए । जिसने आसन जीत लिया उसने तीनों लोक जीत लिये । यम तथा नियमों से भली प्रकार युक्त होने के पश्चात् पुरुष को प्रणायाम का अभ्यास करना चाहिए, इससे नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं ।

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः। नाड्यः कतिसंख्याकाः तासामुत्पत्तिः कीदृशी। तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति। तेषां कानि स्थानानि। तत्कर्माणि कानि। देहे यानियानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति।

स होवाचाथर्वा। अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति। शरीरात्प्राणो द्वादशांगुलाधिको भवति।

शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति।

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम्। चतुष्पदां चतुरश्रम् विहंगानां वृत्ताकारम् तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति।

गुदाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्द्व्यङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति। चतुष्पदां हृन्मध्यम्। विहंगानां तुन्दमध्यम्। देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति॥

फिर शाण्डिल्य ने अथर्वा से कहा—'किस उपाय से नाड़ियाँ शुद्ध होती है ? नाड़ियों की संख्या कितनी है ? उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? उसमें कितने वायु रहते हैं ? उनका स्थान कौन-सा है ? उनका कार्य क्या है ? शरीर में जो कुछ जानने लायक है वह सब मुझ से कहो।' तब अथर्वा बोले—यह शरीर ९६ (छियानवे) अंगुल प्रमाण का है। प्राणवायु शरीर की अपेक्षा बारह अंगुल अधिक होती है। शरीर में रहने वाले प्राण को योगाभ्यास द्वारा जो अग्नि के समान करे अथवा उससे कुछ कम करे, वह उत्तम योगी होता है। मनुष्यों के शरीर में अग्नि का स्थान तीन कोने वाला और तपाये हुये सुवर्ण की सी कान्ति वाला होता है। चौपायों का चौखूँटा होता है और पक्षियों का गोलाकार है। इस अग्नि स्थान में पतली और उत्तम अग्नि की शिखा रहती हैं। गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग से दो

अंगुल नीचे मनुष्य शरीर का मध्य भाग होता है। चौपायों का हृदय का मध्य और पक्षियों का पेट मध्य उनके शरीरों का मध्य भाग होता है। शरीर का वह मध्य भाग नौ अंगुल उँचा और चार अंगुल विस्तार वाला होता है। उसकी आकृति अण्डा के समान है ॥५॥

तन्मध्ये नाभिः। तत्र द्वादशारयुतं चक्रम्। तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवो भ्रमति। तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति। देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारूढो भवेत्।

नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम्। अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति। यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैष समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकालेऽपानेनाग्निना च स्फुरति हृदयाकाशं महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति।

मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्याश्चतुर्दश भवन्ति इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरा कुहूः शंखिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति।

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रेति विज्ञेयाऽव्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति।

उसके बीच में नाभि है और उसमें बाहर आरा वाला चक्र है। उस चक्र के बीच में पुण्य-पाप से प्रेरित हुआ जीव फिरता रहता है। उसी प्रकार यह प्राण भी वहीं पर फिरता है। इस देह में जीव प्राण के ऊपर आरूढ़ हुआ है। नाभि की बगल में नीचे ऊपर कुण्डलिनी का स्थान है। यह कुण्डलिनी शक्ति का आठ प्रकृति रूप और आठ प्रकार से कुण्डल किये हुए हैं। योग के समय वायु के संचार को यथावत् करके

जल तथा अन्न आदि को चारों ओर से कन्धों के बगल में रोककर, फिर से मुख में लेकर ब्रह्मरन्ध्र, अपान तथा अग्नि द्वारा प्रकाशित होती है। हृदयाकाश, महाउज्ज्वल और ज्ञान रूप है। बीच में रहने वाली कुण्डलिनी का आश्रय लेकर चौदह मुख्य नाड़ियाँ है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू,शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुसा और गांधारी, ये चौदह नाड़ियों के नाम हैं। इनमें सुषुम्ना विश्व को धारण करने वाली और मोक्ष के मार्ग रूप है, ऐसा योगी कहते हैं। गुदा के पिछले भाग में वह वीणा के दण्ड के समान रहती है और मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है। यह स्पष्ट, सूक्ष्म और विष्णुदेव की है ॥१०॥

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति । दक्षिणभागे पिङ्गला । इडायां चन्द्रश्चरति । पिङ्गलायां रविः । तमोरूपश्चन्द्रः । रजोरूपो रविः । विषभागो रविः अमृतभागश्चन्द्रमाः । तावेव सर्वकाल धत्ते । सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति । सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः । यशस्विनीकुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति । पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति । गान्धारी सरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति । कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति । सुषुम्नापूर्वभागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति । कुण्डलिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति । यशस्विनी सौम्या च पादांगुष्ठान्तमिष्यते । पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्त भवति । पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति । याम्यकर्णान्त यशस्विनी भवति । जिह्वाया ऊर्ध्वान्त सरस्वती भवति । आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शंखिनी भवति । इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गांधारी भवति । पायुमूलादधोर्ध्वगाऽलम्बुसा भवति । एतासु चतुर्दशनाडीष्वन्या नाड्यः संभवन्ति । तास्तास्वन्यास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः । यथाऽश्वत्थादिपत्रं शिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम् ॥

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति । आस्यनासिकाकण्ठनाभिहृदाङ्गुष्ठद्वयकुण्डलस्याश्वोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति । श्रोत्राक्षिकटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति । गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजंघानाभिगुदाग्न्यगारेष्वपानः सञ्चरति । सर्वसन्धिस्थ उदानः । पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः । भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन् द्विसप्तति-सहस्रेषु नाडीमार्गेषु चरन् समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्ग-कलेवरं व्याप्य—नागादिवायवः पञ्चः त्वगस्थ्यादिसम्भवाः तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं—तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात् । अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्यन्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम् । वायुना पतितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति । ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलमत्युष्णमकरोत् । जलोपरि समर्पित व्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्वमकरोत् । तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात् । समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापयन् श्वासरूपेण देहे वायुश्चरति । नवभिर्व्योमरन्ध्रैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम् । निश्वासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मोच्यते । विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवायुकर्म । हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म । देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म । शरीरपोषणादिकं समानकर्म । उद्गारादि नागकर्म । निमीलनादि कूर्मकर्म । क्षुत्करणं कृकरकर्म । तन्द्री देवदत्तकर्म । श्लेष्मादि धनञ्जयकर्म ॥

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात् ॥

इस सुषुम्ना के बाँयी ओर इडा नाड़ी है और दाँयी ओर पिंगला है। इडा में चन्द्र चलता है और पिंगला में सूर्य फिरता है। चन्द्र तमोगुण रूप वाला है और सूर्य रजोगुण स्वरूप है। चन्द्रमा अमृत का बिभाग है और सूर्य विष का विभाग है। यह दोनों ही समस्त काल को धारण करते हैं। सुषुम्ना काल की भोगने वाली है। सुषुम्ना के पीछे की तरफ सरस्वती नाड़ी है और बगल के भाग में कुहू नाड़ी है। यशस्विनी और कुहू के बीच वारुणी नाड़ी रहती है गाँधारी और सरस्वती के बीच यशस्विनी है। कन्द के मध्य में अलम्बुसा है। सुषुम्ना के पूर्व भाग में लिंग तक कुहू नाड़ी है। कुण्डलिनी के नीचे और ऊपर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अंगूठे तक गई है। पिंगला ऊपर की तरफ चलकर बाँयी नाक तक पहुंची है। पिंगला के पीछे बाँयी आँख तक पूषा नाड़ी है। बाँये कान तक यशस्विनी है। जीभ के ऊपर के भाग तक सरस्वती है। बाँये कान तक ऊपर की ओर जाती हुई शंखिनी है। इडा के पिछले भाग में बाँये नेत्र तक जाने वाली गांधारी है। गुदा के मूल से नीचे-ऊँचे जाने वाली अलम्बुसा है। इन चौदह नाड़ियों में अन्य नाड़ियाँ भी हैं। उनमें भी अन्य ऐसी बहुत-सी नाड़ियाँ हैं, जैसे पीपल आदि के पत्ते शिराओं (केशों) से व्याप्त होते हैं, वैसे ही शरीर भी नाड़ियों से व्याप्त है।

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश वायु सब नाड़ियों में फिरते हैं। मुख, नाक, गला, नाभि, पैर के दोनों अंगूठे और कुण्डलिनी के नीचे ऊपर के भागों में प्राण फिरता है। कान, आँख, कमर, गुल्फ नाक, गला और कूल्हे के स्थानों में व्यान फिरता है। गुदा, लिंग, जानु, चूनर पेट वृषण, कमर, जंघा नाभि और अग्नि संस्थान में अपान फिरता

है। समस्त संधि स्थानों में उदान रहता है। पैर, हाथ और अन्य सब अवयवों में सर्वत्र समान व्याप्त रहता है। खाये हुये अन्न के रस को शरीर की अग्नि के साथ व्याप्त करके समान वायु बहत्तर हजार नाड़ियों के मार्ग में फिरा रहता है और अग्नि के साथ सांगो-पाँग शरीर में व्याप्त रहता है। नाग आदि पाँच वायु चर्म, अस्थि आदि में रहते हैं। पेट में रहने वाले जल और अन्न को रस आदि के रूप में ले जा कर पेट में रहने वाला प्राण वायु अलग-अलग करता है। अग्नि के ऊपर पानी रखकर, इस पानी के ऊपर अन्न आदि रखकर स्वयं अपान के पास पहुंचकर वायु इसी अपान के साथ देहस्थित अग्नि की तरफ जाता है। अपान वायु से रक्षित अग्नि धीमे-धीमे देह के मध्य प्रज्ज्वलित रहता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला और प्राण वायु द्वारा कोठे के बीच रहने वाले पानी को खूब गर्म करता है और उस पानी के ऊपर रखे शाक-दाल सहित अन्न को प्राण वायु, अग्नियुक्त पानी द्वारा पकाता (पचाता) है और उसमें से पसीना, मूत्र, खून, वीर्य, रस, विष्ठा आदि को अलग-अलग करता है। फिर समान वायु के साथ-साथ सब नाड़ियों में रस को फैलता हुआ, प्राण-वायु श्वाँस के रूप में शरीर में फिरता रहता है। शरीर के पोलाई वाले नौ छिद्रों द्वारा वायु विष्ठा मूत्र, आदि को बाहर निकालता है। श्वोसोच्छ्वास और खाँसी यह प्राण का कर्म कहा जाता है, विष्ठा, मूत्र का बाहर निकालना अपान वायु का कार्य है। छोड़ना और ग्रहण करना आदि चेष्टाएं व्यान का काम है' शरीर को ऊपर की तरफ ले जाना आदि उदान का काम है। शरीर को पोषण देना आदि समान का काम है। डकार आदि नाग का काम है। आँख के पलक झपकाना कूर्म का काम है, भूख लगना कृकर का काम है। इस प्रकार नाड़ी स्थान, वायु स्थान तथा उनके कर्मों को भली प्रकार समझकर नाड़ी की शुद्धि करनी चाहिए।१४।

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसंगविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः: पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचार विद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वित तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वाऽपि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वार गोमयादिलिप्तं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवण कुर्वन् योगं समारभेत् ॥

आदौ विनायकं संपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वाऽपि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान् समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रू मध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन् नेत्राभ्याममृतं द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत् पिंगलया । पुनः पिंगलयाऽऽपूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया ।

त्रित्रुस्त्रिचतुः सप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसंधियु तदन्तराले च षट कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति ।

ततः शरीरलघुदीप्तिवह्निवृद्धिकादाभिव्यक्तिर्भवति ॥

जिसने विद्याभ्यास किया हो ऐसे पुरुष को यम-नियम से युक्त होकर सर्व संग का त्याग करके सत्य धर्म में तत्पर रहना । क्रोध को जीतना गुरु-सेवा में तत्पर होना, माता-पिता के अधीन रहना और फिर अपने आश्रम में बतलाये गये सदाचार को जानने वाले के पास से शिक्षा प्राप्त करके फल, मूल और पानी वाले तपोवन में जाना । वहाँ रम्य प्रदेश में ब्रह्मघोष से युक्त,स्वधर्म परायण ब्रह्म-वेत्ताओं से व्याप्त और फल-मूल, पुष्प तथा जल से भली प्रकार पूर्ण किसी देव स्थान में अथवा नदी के किनारे पर किसी गाँव या शहर में उत्तम मठ बनाना । वह न तो बहुत ऊँचा या नीचा हो और न बहुत लम्बा-चौड़ा ही हो। छोटे दरवाजे वाला, गोबर आदि से लिपा और पूर्ण रूप से सुरक्षित होना चाहिये ।

उनमें वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरुष को योगाभ्यास आरम्भ करना। प्रथम गणपति की पूजा करके, अपने इष्टदेव को नमस्कार करके पहले बतलाये गये आसन पर बैठना। उस समय पूर्व या उत्तर को मुख रखना और कोमल आसन पर बैठकर आसन को ही जय करना। फिर विद्वान पुरुष को गर्दन तथा मस्तक को सीधा रख नासाग्र पर दृष्टि रखनी, दोनों भौंहों के बीच चन्द्र मण्डल को देखना और दोनों नेत्रों से अमृतपान करना। फिर बाहर मात्रा से इड़ा नाड़ी द्वारा खींचकर उसे पेट के भीतर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त, रेफ और बिन्दु सहित ऐसे अग्नि मण्डल के साथ संयुक्त करने को ध्यान करना और फिर पिंगला नाड़ी द्वारा इस वायु को बाहर निकालना। फिर पिङ्गला से वायु भर कर कुम्भक करके इडा से बाहर निकालना। इस प्रकार सात, तीन या चार महीनों तक तीनों सन्ध्या समय तीन-तीन या चार-चार बार और उनके बीच में छः बार अभ्यास करना, जिससे नाड़ी शुद्धि हो। फिर शरीर में हल्कापन, कांति, अग्नि, की वृद्धि और नाद-श्रवण होता है।५।

॥ पञ्चमः खण्ड समाप्त ॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति। रेचकपूरक-कुम्भकभेदेन स त्रिविध ते वर्णात्मकाः तस्मात् प्रणव एव। प्राणायामः।

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रशशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवि-तानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति। उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी ताक्ष्यंवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति। अकारादित्रयाणां सर्वकारण-मेकाक्षर परज्योतिः प्रणवं भवति ॥

इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन् पूरितं वायुं चतुःषष्टिमात्राभिः कुम्भयित्वोंकारं ध्यायन् पूरितं पिंगलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकार मूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः पुनः कुर्यात् ॥

प्राण और अपान को इकट्टा कर देना, यही प्राणायाम है। रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से वह तीन प्रकार का है। वह वर्ण रूप है, इसलिए प्रणव ही प्राणायाम है। पद्मासन आदि किसी भी आसन पर बैठ कर पुरुष को—"नासाग्र पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्सना से लिपटी हुई लाल अंग वाली, हंस पर बैठी हुई, हाथ में दण्ड धारण करती और बाला स्वरूप 'अ'कार मूर्ति वाली गायत्री है, 'उ' कार मूर्ति सावित्री, श्वेत अङ्ग वाली, गरुड़ पर बैठी हुई, युवती, हाथ में चक्र धारण किए हुए है, इसी प्रकार 'म'कार मूर्ति सरस्वती कृष्ण अङ्ग वाली, वृषभ पर बैठी, वृद्धि और हाथ में त्रिशूल धारण किये है। इस प्रकार 'अ' कार आदि तीन वर्ण का ॐ है और वह सर्व का कारण एकाक्षर परम ज्योति है"—इस प्रकार ध्यान करना फिर इडा नाड़ी द्वारा बाहर का वायु सोलह मात्रा में खींचना और उस समय 'अ'कार का चिन्तन करना, फिर इस वायु का चौंसठ मात्रा में कुम्भक करना और उस समय 'उ'कार का ध्यान करना और उसके पश्चात् पिङ्गला नाड़ी द्वारा बत्तीस मात्राओं से उस भरे हुए वायु को बाहर निकालना, उस समय 'म'कार मूर्ति का ध्यान करना। इसी क्रम से बारम्बार करते रहना।६।

॥ षष्ठः खण्ड समाप्त ॥

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत्तया संपूर्य धारयेत्। तदेते श्लोका भवन्ति—

प्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत् ।
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां ।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१
प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वार समभ्यसेत् ॥२
कनीयसि भवेत् स्वेदःकम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत् ॥३
जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते ॥४
अभ्यासकाले प्रथमं शस्त क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः ॥५

फिर आसन दृढ़ होने पर योगी को जितेन्द्रिय बनकर हितकारी मिताहार पर रह कर सुषुम्ना नाड़ी में रहने वाले मल को सुखाने के लिये योग करना चाहिए । उस समय पद्मासन पर बैठ कर चन्द्रनाड़ी से वायु भर कर, शक्ति अनुसार कुम्भक करके, सूर्य नाड़ी से रेचक करना । फिर सूर्य नाड़ी से पूरक करके, कुम्भक करना और चन्द्रनाड़ी से रेचक करना । इस प्रकार जिस नाड़ी से रेचक करे, उसी नाड़ी से फिर पूरक करके कुम्भक करे । इस आशय को प्रकट करने वाले निम्न श्लोक कहे गये हैं—'प्रथम इडा नाड़ी से प्राण को भर कर कुम्भक करके दूसरी पिङ्गला नाड़ी से रेचक करना । फिर पिङ्गला से पूरक करके कुम्भक करते हुए इडा से रेचक करना । इस विधि से सूर्य चन्द्र की नाड़ी द्वारा प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने से योगी की समस्त नाड़ी तीन महीने में शुद्ध हो जाती है ।१। प्रातः दोपहर, सन्ध्या और मध्य रात्रि—इस प्रकार चार बार धीमे-धीमे अस्सी मात्रा तक के कुम्भक का अभ्यास करना ।२। हलके प्राणायाम में पसीना आ

जाता है, मध्यम में कँपकँपी छूटती है और उत्तम में पद्मासन पर ऊँचा उठ जाता है ।३। प्राणायाम के समय परिश्रम के कारण जो पसीना छूटे उससे शरीर का मर्दन करना, क्योंकि उससे साधक का शरीर मजबूत और हलका होता है ।४। अभ्यास समय आरम्भ में घी-दूध के भोजन को उत्तम बतलाया गया है । फिर अभ्यास स्थिर हो जाने पर किसी नियम की आवश्यकता नहीं रहती ।५।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥६
युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तेन बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥७
यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्य जायते नाडिशोधनात् ॥८
विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥९
मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सेवावस्था मनोन्मनी ॥१०

जिस प्रकार सिंह, हाथी या बाघ को धीरे-धीरे वश किया जाता है, वैसे ही वायु का धीमे-धीमे सावन करने से वह वश में आ जाती है, पर इससे उलटी रीति से चलने पर अर्थात् जल्दबाजी करने से वही वायु साधक का नाश कर देती है ।६। इसलिये जैसे ठीक बने उसी प्रकार रेचक करना, ठीक जान पड़े वैसे ही पूरक करना और ठीक लगने तक ही कुम्भक करना, इस तरह करने से सिद्धि प्राप्त होती है ।७। यथेष्ट शक्ति अनुसार वायु का कुम्भक करने से अग्नि प्रदीप्त होती है और नाड़ियाँ शुद्ध होने से नाद-श्रवण होता है तथा आरोग्य मिलता है ।८। विधिपूर्वक प्राणायाम करने से नाड़ियों का समूह शुद्ध होता है, इसलिये सुषुम्ना का मुख भेद कर वायु सुख पूर्वक

उसमें प्रवेश करता है ।९। वायु जब मध्य में सञ्चार करता है, तब मन की स्थिरता होती है और जब मन की भली प्रकार स्थिरता हो जाती है, उसी को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है ।१०।

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ॥११
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥१२
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन् ।
योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत् ॥१३

पूरक के अन्त में जालन्धर नाम का बन्ध करना और कुम्भक के अन्त तथा रेचक आदि में उड्डियाण करना चाहिए ।११। नीचे का मूलबन्ध संकोच करने में कण्ठ का संकोच होता है और मध्य भाग को पश्चिम की तरफ खींचने से प्राणवायु ब्रह्म नाड़ी में गतिशील होता है ।१२। अपान वायु को ऊपर ले जाकर और प्राण वायु को कण्ठ से नीचे लाकर योगी वृद्धावस्था रहित—सोलह वर्ष की आयु का बन जाता है ।१३।

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिस्थं पवनं समाकृष्याकेश-मानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत् । तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगविनाशनं भवति ॥

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छस्तिष्ठन्कुर्यात् । तेन श्लेष्महरं जाठराग्निवर्धनं भवति ॥

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत । तेन क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यानिद्रा न जायन्ते ।

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत । तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्तक्षुधादि नश्यति ॥

कुम्भकः स द्विविधः सहितः केवलश्चेति। रेचकपूरकयुक्तः सहितः तद्विवर्जितः केवलः। केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत्। केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवल-कुम्भकात् कुण्लिनीबोधो जायते।

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति।

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥१४

सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी से बाहर का वायु खींच कर केश से लेकर पैर के नख की नोंक तक में रोक कर (कुम्भक करके, बांयी नाड़ी से बाहर निकालना (रेचक करना)। इस तरह करने से कपालशुद्धि होती है और वायु की नाड़ियों में रहने वाले सब रोगों का पूर्णतः नाश होता है। हृदय से लेकर कण्ठ तक शब्द के साथ दो नथुनों द्वारा धीरे से पवन खींच कर, यथाशक्ति कुम्भक करके इडा से सेचक करना। इस प्रकार चलते और खड़े रहते करते ही जाना, इससे कफ नाश होता है और जठराग्नि बढ़ती है। मुख से सीत्कार (सी-सी करते हुए) वायु भर कर यथाशक्ति कुम्भक करने के उपरान्त दोनों नथुनों से रेचक करे। इससे भूख, प्यास, आलस्य अथवा निद्रा उत्पन्न नहीं होती। जीभ से वायु खींचकर यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से रेचक करे, इससे गुल्म गोला), तिल्ली, ज्वर, पित्त और भूख आदि का नाश होता है। अब कुम्भक के विषय में कहते हैं, वह दो प्रकार का है—सहित और केवल। रेचक और पूरक से युक्त हो वह सहित है और उनसे रहित केवल है। इसमें से 'केवल' सिद्ध हो तब तक 'सहित' का अभ्यास करना चाहिए। जब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक

से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। इसके पश्चात् योगी पतले शरीर वाला प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्र वाला, नाद श्रवण करने वाला, सर्व रोगों से रहित, विन्दु को जीतने वाला और प्रज्ज्वलित जठराग्नि वाला होता है। लक्ष्य भीतर हो और बाहर की दृष्टि उन्मेष ( पलक मारना ) रहित हो, यह वैष्णवी मुद्रा है और सर्व तन्त्र-शास्त्रों में उस को गुप्त रहस्य रूप माना है।१४।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते
दृष्टया निश्चलतारया वहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेय खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिव
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्व पदं वैष्णवी ॥१५
अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्यन्दभावोत्तरम्।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्यविद्धीहतत् ॥१६
यारं ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमय भ्रुवौ।
पूर्वाभ्यास मार्गोऽयमुन्मनी कारकः क्षणात् ॥
यस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। ततोन्मनी भवति।
ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः
कालो नास्ति ॥१७
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं च मनमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ॥१८
खमध्ये कुरु आत्मानमात्ममध्ये च ख कुरु।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चदपि चिन्तय ॥१९
बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव ॥२०

लक्ष्य भीतर होने से जिसका चित्त और वायु विलीन हो गया हो, वह सदा योगी है निश्चल नेत्र की पुतली द्वारा बाहर की ओर

नीचे देखता हो, पर और कुछ न देखता हो, यह खेचरी मुद्रा है। यह केवल लक्ष्य में ही एकतान और मङ्गलकारक होने से वैष्णवी मुद्रा भी कही जाती है। उसमें शून्य-अशून्य रहित तत्त्व परम पद रूप में प्रकाशित होता है।१४। हे शांडिल्य ! अर्द्ध निमीलित नेत्र वाला, स्थिर मन वाला और नासाग्र पर स्थित दृष्टि वाला योगी निश्चल भाव को प्राप्त करने के पश्चात् सूर्य और चन्द्र नाडी को भी लय करा देता है। इस समय ज्योति रूप समग्र बाह्य विषयों से रहित और देदीप्यमान जो तत्त्व प्रकाशित होता है, वही परम वस्तु के रूप में उसका विषय होता है, ऐसा तुमको समझना चाहिए।१६। नेत्र की पुतली को ज्योति से संयुक्त करके दोनों भौंहों को कुछ ऊँचा रखता है। यह पूर्व अभ्यास का मार्ग है और इससे क्षण भर में ही 'उन्मन' दशा प्राप्त हो जाती है।१७। इसलिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना, उससे उन्मनी दशा को प्राप्त होता है, फिर योगनिद्रा प्राप्त होती है। जिसको योग-निद्रा प्राप्त हुई हो उस योगी का काल नहीं होता। इस लिए हे शाण्डिल्य ! शक्ति के मध्य में मन को स्थापित कर, शक्ति को मन के अन्दर गमन करती रखकर, तू मन के द्वारा ही मन को देख और सुखी बन।१८। इसी प्रकार आकाश के मध्य में आत्मा को स्थापित कर और आत्मा के मध्य आकाश को रख दे। फिर सबको आकाशमय करके ऐसा चिन्तन करे कि कुछ है ही नहीं।१९। बाहर की चिन्ता न करना, वैसे ही भीतर की चिन्ता भी न करना। इस प्रकार सर्व चिन्ता का त्याग करके मात्र चैतन्य परायण बन जा।२०।

कर्पूरमनले यद्वत सैन्धवं सलिले यथा।
तथा च लीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥२१
ज्ञेयं सर्वतीत प्रत च तज्ज्ञानं मन उच्यते।
ज्ञान ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वतीयकः ॥२२

ज्ञयवस्तुपरित्यागे विलयं याति मानसम् ।
मानसे विलयं याते कैवल्यपवशिष्यते ॥२३
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर ।
योगस्तु वृत्ति रोधो हि ज्ञानं सम्य गवेक्षणम् ॥२४
तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत ।
मनः स्पन्दोपशान्त्ययां संसारः प्रविलीयते ॥२५

जिस प्रकार कपूर अग्नि में और नमक पानी में लीन हो जाता है, वैसे ही लीन होते योगी का मन तत्व में निलय को प्राप्त होता है ।२१। जो जानने योग्य है वह सब जाना हुआ ही है, उसका जो ज्ञान है वही मन कहलाता है। ज्ञान और ज्ञेय सब एक ही साथ नष्ट हो गया, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं है ।२२। ज्ञेय वस्तु का त्याग करने से मन विलय को प्राप्त होता है और जब मन विलय हो जाता है तो केवल-कैवल्य ही शेष रहता है ।२३। हे मुनीश्वर ! चित्त का नाश करने के दो मार्ग हैं, योग, और ज्ञान । योग. अर्थात् चित्त की वृत्तियों का रोकना और ज्ञान अर्थात् वस्तु के तत्व को यथार्थ रूप में देखना ।२४। मन को जब वश करा जाता है, तब वह अवश्य शान्त हो जाता है और मन की चंचलता शान्त होते ही यह संसार नाश को प्राप्त होता है ॥२५॥

सूर्यालोकरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा ।
शास्त्रसज्जनसपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ॥२६
अनास्थायां कृतास्थायां पूर्व संसारवृत्तिषु ।
यथाऽभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोभितात् ॥२७
एकतत्त्वदृढाभ्यासात प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।
पूरकाद्यनिलायामादृढाभ्यासादखेदजात् ॥२८
एकान्तध्यानयोगाच्च मनः स्पन्दो निरुध्यते ।
ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।

सुषुप्ते संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥२९
तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाऽऽक्रम्य घण्टिकाम् ।
ऊर्ध्वरन्ध्र गते प्राणो प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३०

जैसे सूर्य के व्यवहार की गति शान्त होने पर जगत का व्यवहार शान्त हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों और सज्जनों के सग से वैराग्य के अभ्यास का योग होने से संसार शान्त हो जाता है।२६। प्रथम संसार के कार्यों में अनास्था की जाय, फिर दीर्घ काल तक एकान्त ध्यान और एक तत्व का दृढ़ अभ्यास होने से प्राण की गति बन्द हो जाती है (अर्थात् प्राण वायु जीत लिया जाता है।) इसी प्रकार बिना परिश्रम के पूरक आदि वायु के दृढ अभ्यास और एकान्त ध्यान योग करने से मन की गति बन्द होती है (अर्थात् मन वश में आ जाता है।) फिर ॐकार के उच्चारण के अन्त में शब्द-तत्व का अनुभव होने से ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप समझ लिया जाता है, तब प्राण की गति रुक जाती है (प्राण जय कर लिया जाता है।) ।२७-२९। तालु के मूल में रहने वाली ग्रन्थि को जब सावधानी पूर्वक जीभ द्वारा दबाया जाता है तब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में जाता है, तब प्राणगति रुक जाती है ॥३०॥

प्राणे गलित संवितौ तालूर्ध्वंद्वादशशान्तगे ।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३१
द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे ।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३२
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥३३
ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम् ।
असंस्पृष्टविकारांशुं प्राण स्पन्दो निरुध्यते ॥३४

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने ।
अवासनमनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।३५

तालु के ऊपर बाहर अंगुल दूर जाने वाला प्राण गलत चेष्टा वाला हो जाता है, तब अभ्यास से ऊपर के छिद्र द्वारा प्राणगति रोकी जाती है ।३१। नासिका के सामने बाहर अंगुल की दूरी पर निर्मल आकाश में ज्ञान दृष्टि अति शान्त होती है, तब प्राण गति रोकी जाती है ।३२। भौंहों के बीच तारक ब्रह्म के दर्शन से शान्ति मिलने पर जगत व्यापार बन्द होने लगते हैं और मानसिक संकल्प रुकते हैं, तब प्राण गति रोकी जाती है ।३३। ज्ञान-ज्ञेय स्वरूप और मंगलमय बनकर केवल ॐकार स्वरूप में ही उत्पन्न होता है और विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता तब प्राणगति रोकी जाती है ।३४। हे मुनि ! दीर्घकाल तक हृदय में एकान्त आकाश का अनुभव होने से बासना रहित मन ध्यान करने लगता है, उससे प्राण गति रोकी जाती है ।।३५।।

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।
नानादेशिकदक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।३६

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्धाटच मोक्षद्वारं विभेदयेत् । येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति । सा शक्तिर्येन चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति । कुण्डिलनो कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मूक्तये भवति । बन्धनायाधो मूढानम् । इडादिमार्गद्वयं बिहाय सुषुम्नामार्गेण गच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम् ।

मरुदभ्यसनं सर्बं मनोयुक्तं समभ्यसेत ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।।३७
दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत् ।
सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्र न पूजयेत् ।३८।

सुषिरो ज्ञानःजनकः पंचस्त्रोतःसमन्वितः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥ ३९
सव्यदक्षिण नाडीस्थो मध्यो चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रः तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥४०

इस क्रम से, वैसे ही अनेक गुरुओं के उपदेशों का अनुसरण कर तरह-तरह के संकल्पों की कल्पना द्वारा प्राण गति रोकी जाती है ।३६। कुण्डलिनी को संकुचित करके किवाड़ खोल कर मोक्ष का द्वार उन्मुक्त करना । जिस मार्ग से जाना है उसका द्वार मुख से ढककर कुण्डलिनी सोती है । वह टेढ़े-मेढ़े आकार की सर्प के समान लिपटी हुई है । इस कुण्डलिनी शक्ति को जो चलायमान करता है वह मुक्त हो जाता है । वह कुण्डलिनी कण्ठ के ऊसर के भाग में सोती हुई हो तो योगियों को मुक्त कर देने वाली होती है, पर कण्ठ से नीचे सोती हो तो अज्ञानियों के लिए बन्धनकर्त्ता होती है । इडा आदि दोनों मार्ग छोड़ कर सुषुम्ना के मार्ग से आता हैं क्योंकि वह विष्णु का परमपद है । वायु का सब अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए। इस अवसर पर विद्वान मनुष्य की मन की वृत्ति को अन्यत्र युक्त नहीं करना चाहिए ।३७। यह बात नहीं कि अमुक दिन विष्णु को न पूजना अथवा अमुक रात्रि को विष्णु को न पूजना, वरन् सदैव 'विष्णु की पूजा करते ही रहना । केवल दिन में या रात में ही न पूजना ।३८। हे शांडिल्य ! पाँच ( इन्द्रियों रूप ) प्रवाह वाला ( हृदय रूप ) पीला स्थान ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है और वहीं खेचरी मुद्रा रहती है, इसलिए उसी का तू सेवन कर ।३९। बाँयी ओर दाहिनी नाड़ी के भीतर रह कर मध्य में वायु फिरती है और उस स्थान में स्थित होने वाले को खेचरी मुद्रा होती है, इसमें संशय नहीं ॥४०॥

इडापिङ्गलयोर्मध्यो शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥४१

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम च खेचरी ॥४२

छेदनचालनदोहैः कलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते । जिह्वा चित्तं च खे चरति । तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति ॥

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत् । तेय सर्वक्लेशहानिः । ततः पीयूषामिव विषं जीयते । क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥

वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत् । तेनापरोक्षसिद्धिः ॥

बाह्यात् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादांगुष्ठे च यत्नतः ॥४३
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः ॥४४

नासाग्रे वायुविजयं भवति । नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः । पादांगुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति ।

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः ।
श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा ॥४५

इडा और पिंगला के बीच शून्य भाग है और वह वायु को ग्रस लेता है, खेचरी मुद्रा भी वहीं रहती है और वहीं सत्य रहता है ॥४१॥

चन्द्र-सूर्य की दोनों नाड़ियों के मध्य निराधार धरातल है, वहाँ आकाश मण्डल में खेचरी मुद्रा रहती है ।४२। छेदन, चालन और दोहन द्वारा जीभ को खूब नोंकदार बनाकर, भृकुटि के मध्य में दृष्टि रख कर, कपाल के छिद्र से जब जीभ उल्टी होकर जाने लगती है, तब खेचरी मुद्रा होती है। जीभ और चित्त दोनों कपाल के छिद्र रूप आकाश में फिरते हैं, तब ऊपर गई हुई जीभ वाला वह पुरुष अमर हो जाता है। बाँये पैर के मूल से मूलरन्ध्र को दबा कर दाहिना पैर पसार कर उसे दोनों हाथों से पकड़ना और फिर दोनों नथुनों से वायु भर कर कण्ठबन्ध के ऊपर चढ़ाना और ऊपर उठी हुई वायु को रोकना इससे सर्व क्लेशों का नाश होता है। इसके पश्चात् विष भी अमृत की तरह पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त और चर्म के पुराने रोग नष्ट हो जाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय सर्व मृत्यु का नाश करने वाला है। यदि बाँये पैर की एड़ी को गुदा स्थान के साथ जोड़ कर दाहिना पैर बाँये पैर पर रखना, और फिर वायु भर कर, ठोड़ी को हृदय की तरह दबा कर गुदा स्थान को संकोच कर मन के मध्य यथाशक्ति धारण करके अपने आत्मा का ध्यान करना, इससे अपरोक्ष सिद्धि होती है। बाहर से प्राण को खींच कर पेट में भरे और वहां से उसे नाभि के मध्य में, नाक के आगे और पैर के अँगूठे में मन द्वारा यत्न-पूर्वक धारण करे। इस प्रकार सन्ध्याकाल में सदैव करने वाला योगी सर्व रोग से मुक्त होकर परिश्रम रहित होता है ॥४३-४४॥ नासाग्र पर दृष्टि स्थिर करने से वायु को जीता जा सकता है, नाभि के मध्य में रोकने से सर्व रोगों का नाश होता है, पैर के अँगूठे में धारण करने से शरीर हलका होता है। जो पुरुष जीभ से वायु खींच कर निरन्तर पिया करता है, उसे श्रम या दाह नहीं होता और रोग नाश होते हैं ॥४५॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत् ।
त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती ॥४६
एवं षण्मासाभ्यासात् सर्वरोगनिवृत्तिः ॥
जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् ।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकल भद्रमश्नुते । ४७
आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वाभ्रुवोऽन्तरे ।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते ॥४८
नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः ।
घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते ॥४९
मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयाऽऽरोप्य मारुतम् ।
विभेद्य त्रिदशाहार धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥५०

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्या समय वायु को खींच कर उसे पीता है, उसकी वाणी तीन महीने में कल्याण स्वरूप सरस्वती बनती है ।४६। इस प्रकार छः महीने अभ्यास करने से सर्व रोग मिट जाते हैं । जो विद्वान जीभ से वायु लेकर उसे जीभ के मूल में रोकता है वह अमृत पीता है और उसका सब प्रकार से कल्याण होता है ।४७। इडा नाड़ी द्वारा दोनों भौंहों के बीच आत्मा में आत्मा को धारण करने से मनुष्य देवताओं के आहार को भेदता है और रोगी हो तो भी रोगों से छूट जाता है ।४८। दोनों नाड़ियों से वायु को नाभि में खींच कर पेट के दोनों भागों में जो एक घड़ी तक चलाता है, वह रोगों से छूट जाता है ।४९। एक महीना तक तीनों काल जीभ से वायु को खींच कर पेट के मध्य भाग में रोकता है, वह भी देवताओं का आहार भेजता है ।५०।

ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ।
मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह ॥५१
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य-जन्मशतार्जितम् ।

तारसंयमात् सकलविषयज्ञानं भवति । नासाग्रचित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम् । तदधश्चित्तसंयमादग्निलोकज्ञानम् । चक्षुषि चित्तसंयमात् सर्वलोकज्ञानम् । श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोकज्ञानम् । तत्पार्श्वे संयमान्निर्ऋतिलोकज्ञानम् । पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम् । वामकर्णे संयमाद्वायुलोकज्ञानम् । कण्ठे संयमात् सोमलोकज्ञानम् । वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम् । मूर्ध्नि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम् । पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम् । पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम् । पादसन्धौ संयमान्नितललोकज्ञानम् । जंघे संयमात्सुतललोकज्ञानम् । जानौ संयमान्महातललोकज्ञानम् । ऊरौ चित्तसंयमाद्रसातललोकज्ञानम् । कटौ चित्तसंयमात्तलातललोकज्ञानम् । नाभौ चित्तसंयमाद्भूलकोज्ञानम् । कुक्षौ संयमाद्भुवर्लोकज्ञानम् । हृदि चित्तसंयमात् स्वर्लोकज्ञानम् । हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम् । कण्ठे चित्तसयमाज्जनोलोकज्ञानम् । भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्तपोलोकज्ञानम् । मूर्ध्नि चित्तसंयमात् सत्यलोकज्ञानम् । धर्माधर्मसंयमादतीतानागतज्ञानम् । तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात् सर्वजन्तुरुतज्ञानम् । संचितकर्मणि चित्तसंयमात् पूर्वजातिज्ञानम् । परचित्ते चित्तसंयमात् परचित्तज्ञानम् । कायरूपे चित्तसयमादन्यादृश्यरूपम् । बले चित्तसंयमाद्धनुमदादिबलम् । सूर्ये चित्तसंयमाद्भुवनज्ञानम् । चन्द्रे चित्तसंयमात्तारव्यूहज्ञानम् । ध्रुवे तद्गतिदर्शनम् । स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् । नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः । कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् । तारे सिद्धदर्शनम् । कायाकाशसंयमादाकाशगमनम् । तत्तत्स्थाने संयमात्तत्तत्सिद्धयो भवन्ति ॥५२॥

उसके सब प्रकार के ज्वर नष्ट हो जाते हैं, अनेक प्रकार के विष भी नष्ट हो जाते हैं। जो मनुष्य एक मुहूर्त समय तक भी मन के

साथ वायु को नासाग्र पर नित्य धारण करता है, उसके सैकड़ों जन्म के पाप पूर्णतः छूट जाते ।५१। नेत्र की पुतली से चित्त का संयम करने से सब विषयों का ज्ञान होता है, नाक के अग्र-भाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान होता है, उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान होता है, चक्षु में चित्त का संयम करने से सर्व-लोक का ज्ञान होता है, श्रोत्र में चित्त का संयम करने से यमलोक का ज्ञान होता है, उसकी बगल में चित्त का संयम करने से राक्षस-लोक का ज्ञान होता है, पीठ के भाग में संयम करने से वरुण-लोक का ज्ञान होता है, बाँये कान में संयम करने से वायुलोक का ज्ञान होता है, कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है, बाँयी आँख में सयम करने से शिवलोक का ज्ञान होता है, मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है,पर के नीचे के भाग में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है, पैर में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है, पैर की सन्धि में संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है, पैर के घुटने में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है, जाँघ में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान होता है, जानु में संयम करने से रसातल लोक का ज्ञान होता है, कमर में संयम करने से तला-तल लोक का ज्ञान होता है, नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है, पेट में संयम करने से भुवर्लोक का ज्ञान होता है, हृदय में चित्त का संयम करने से स्वर्लोक का ज्ञान होता है, हृदय के ऊपर के भाग में संयम करने से महर्लोक का ज्ञान होता है, कण्ठ में संयम करने से जनलोक का ज्ञान होता है, भौंहों के बीच में संयम करने से तपोलोक का ज्ञान होता है, मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्य-लोक का ज्ञान होता है धर्म तथा अधर्म में संयम करने से भूत-भविष्य का ज्ञान होता है, विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है, सञ्चित कर्म में संयम करने से पूर्व जन्म का

ज्ञान होता है, दूसरे के चित्त में संयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है, शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का सा रूप हो जाता है, बल में संयम करने से हनुमान आदि जैसा बल हो जाता है, सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता हैं, चन्द्र में संयम करने से तारा-मण्डल का ज्ञान होता है, ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है, स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है, नाभिचक्र में शरीर व्यूह का ज्ञान होता है, कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास जाती रहती है, कूर्म नाड़ी में स्थिरता आता है 'तार' में सिद्ध दर्शन होता है और शरीर के आकाश में संयम करने से आकाश में गति कर सकता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से वे ही सिद्धि प्राप्त होती हैं ।५२।

।। इति सप्तम खण्ड ।।

अथ प्रत्याहारः। स पञ्चविधः। विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः सर्व विषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः। पादांगुष्ठगुल्फजंघाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्ध्नि स्थानानि। तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत् ।।८।।

अथ धारणाः। पञ्चविधिः। आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशधारणं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति ।।९।।

अथ ध्यानम्। तद्द्विविधं सगुणनिर्गुणं चेति। सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ।।१०।।

अथ समाधिः । जीवात्मपरमात्मैक्यावस्थः त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति ॥११॥

अब प्रत्याहार, वह पाँच प्रकार का है। विषयों में फिरती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक खींच लेने को प्रत्याहार कहा जाता है। जो-जो देखता है वह सब आत्मा है, ऐसा समझना यह प्रत्याहार है। नित्य किये कर्मों के फल का त्याग यह प्रत्याहार है। सर्व विषयों से विमुख होना, यह प्रत्याहार है। अठारह मर्म स्थलों में क्रम से धारण करना, यह प्रत्याहार है। पैर का अँगूठा, गुल्फ, जंघा, जानु, गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नाक, आँख, भौंहों का मध्य, ललाट और मस्तक—इन स्थानों में चढ़ाव-उतार के क्रम से प्रत्याहार करना।८।

अब धारणा, वह तीन प्रकार की है। आत्मा में मन की धारणा, दहराकाश में बाहर के आकाश की धारणा और पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा।९।

अब ध्यान, यह दो प्रकार का है। सगुण और निर्गुण। मूर्ति का ध्यान सगुण है और आत्मा के स्वरूप का ध्यान निर्गुण है।

अब समाधि, जीवात्मा और परमात्मा की एकता अनुभव करने से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—यह त्रिपुटी रहित, परमानन्द स्वरूप और शुद्ध चैतन्यमय अवस्था, यही समाधि है।१०-११।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

## द्वितीयोऽध्यायः

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः। पप्रच्छ

अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति। स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥

यस्मिन्निदमोतं च प्रोत च यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वं यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञान भवति। तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वामशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम्।

यता वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। यत्केवलं ज्ञानगम्यम्। प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता पुराणी। यदेकमद्वितीयम्। आकाशवत् सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत् पर च ब्रह्म। यत्त्वमसि तज्ज्ञानेन हि विजानीहि।

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः। यश्च विश्वं सृजति विश्व बिभर्ति विश्व भुङ्क्ते स आत्मा। आत्मनि त तं लोकं विजानीहि।

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्त गमिष्यसि ॥१॥

फिर ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ने चारों वेदों में ब्रह्म विद्या प्राप्त न होने से भगवान् अथर्वा की शरण में जाकर पूछा—"हे भगवन् ! ब्रह्मविद्या पढ़ाओ, जिससे मेरा कल्याण हो।" तब अथर्वा कहने लगे—"हे शांडिल्य ! ब्रह्म सत्य, विज्ञान और अनन्त स्वरूप है, जिसमें यह सब ओत-प्रोत है। जिसमें यह उदय पाता है और अस्त होता है, उसी प्रकार जिसे जानने से यह सब जान लिया जाता है, वह हाथ-पैर रहित, चक्षु रहित, कान रहित, जीभ रहित, शरीर रहित, ग्रहण न कर सकने योग्य और बताये न जा सकने योग्य है। जिसको पाये बिना वाणी, मन के साथ पीछे लौट जाती है, जो केवल ज्ञान से प्राप्त किया

जा सकता है, जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रसार हुआ है, जो एक और अद्वितीय है, आकाश के समान सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरञ्जन निष्क्रिय, मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य और आनन्द रूप, एक रस वाला, मगलमय अति शान्त और अमर है, वह परब्रह्म है। वही तू है। ज्ञान द्वारा तू उसको जान। जो एक ही देव आत्मा की शक्ति रूप में मुख्य, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सब प्राणियों का अन्तरात्मा, सर्व प्राणियों में निवास-कर्ता सर्व भूतों में गुप्त, भूतों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग द्वारा जान सकने योग्य है, जो विश्व की सृष्टि करता है विश्व की रक्षा करता है विश्व का संहार करता है, वही आत्मा है। उन समस्त लोकों को तू आत्मा में रहते हुए जान। तू शोक मत कर। आत्मा का विशेष ज्ञान प्राप्त करके तू शोक का अन्त कर सकेगा।

॥ दूसरा अध्याय समाप्त ॥

## तृतीयोऽध्यायः

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परं ब्रह्म। तस्मात् कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिल्लीयत्ते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसीति। स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति।

अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति निष्कलं सकलं सकलनिष्कलं चेति।

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरजन सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्यममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम्।

अथास्य या सहजाऽस्ति विद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहित-

शुक्ल कृष्णा तया सहजवान् देव:कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे। तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम्।

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। अथंतस्मात् तप्यमानात् सत्यकामात् त्रीण्यक्षराण्यजायन्त। तिस्रो व्याहृतयस्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽनयश्च जायन्ते। योऽसौ देवो भगवान् सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये सन्निविष्टो मायावी मायया क्रीतिः स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात् स एव पश्चात् स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एताधस्तात् स एवोपरिष्टात् स एव सर्वम्। अथास्य देवस्यात्मशक्तिक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी। तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम्॥१॥

फिर शाण्डिल्य ने अथर्वा से पूछा 'जो परब्रह्म एक, अक्षर, क्रिया रहित मङ्गल स्वरूप और आत्म स्वरूप है, उससे यह विश्व किस प्रकार उत्पन्न होता है ? किस प्रकार स्थिति करता हैं ? और किस प्रकार उसमें लय पाता है ? मेरा यह संशय दूर करना आवश्यक है।' तब अथर्वा बोला—'सत्य है, शाण्डिल्य ! परब्रह्म क्रियारहित और अक्षर है तो भी इस परब्रह्म के तीन स्वरूप हैं:—सकल, निष्कल और सकल-निष्कल। जो सत्य, विज्ञान, आनन्द, क्रियाशून्य, निरञ्जन, सर्वव्यापी, अत्यन्त, सूक्ष्म सब ओर मुख वाला, बता सकने में असम्भव और अमर है, वह निष्कल रूप है। अब इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या मूल प्रकृति और माया है वह लाल, श्वेत और काली है। उसकी सहायता पाकर यह देव काला और पीला होकर मेरा और सब का ईश्वर, नियन्ता होता है। यह इसका सकल-निष्कल रूप हैं।

अब इस परब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि पाकर इच्छा की कि मैं 'अनेक रूपों में उत्पन्न होऊँ।' फिर इसने तपस्या की, तब सब कामना वाले इससे तीन अक्षर उत्पन्न हुये, वैसे ही तीन आकृतियां, तीन पद वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण और तीन अग्नि प्रकट हुईं। जो यह देव भगवान होकर सर्व ऐश्वर्य से युक्त, सर्वव्यापी, सर्व प्राणियों के हृदय में रहने वाला, मायावी और माया के साथ क्रीड़ा करता है, वही ब्रह्म, वही विष्णु, वही रुद्र, वही इन्द्र, वही समस्त देवों और समस्त भूतों के रूप में होता है। वही आगे वही पीछे, वही उत्तर की तरफ, वही दक्षिण की तरफ, वही नीचे, वही ऊपर है। इस प्रकार सब कुछ वही है। यह देव अपनी शक्ति के साथ क्रीड़ा करने वाला और भक्तों के ऊपर करने वाला है। इसका शरीर दत्तात्रेय रूप, सुन्दर रूपयुक्त, वस्त्ररहित, कमल की पँखुड़ी के समान कोमल, चार भुजाओं वाला, भयंकरता रहित और पाप रहित होकर प्रकाशित होता है। यह उसका सकल रूप है ॥१॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ भगवन् सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति । स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृंहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति ।

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति । यस्मात् सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति ।

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति । यस्मान्महतः ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या तस्मादुच्यते महेश्वर इति ।

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति । यस्मात् सुदुश्चरं तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायामत्रेस्तनयोऽभवत्तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति ।

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद। अथ यो ह वै विद्यैनं परमुपास्ते सोऽमिति स ब्रह्मविद्भवति।
अत्रैते श्लोका भवन्ति--

दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्।
आत्ममायासतं देवमवधूतं दिगम्बरम्॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्।
चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम्॥
ज्ञाययोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्।
भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम्॥
एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम्।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥
इत्यों सत्यमित्युपनिषत्॥

फिर अथर्वा से शाण्डिल्य ने पूछा—"हे भगवान्! मात्र सत्य स्वरूप, त्याग चैतन्य और आनन्द रूप एक रस वाला यह परब्रह्म क्यों कहलाता है?" तब अथर्वा ने कहा—"वह स्वयं वृद्धि पाता है और दूसरों की वृद्धि कराता है, इसलिये वह परब्रह्म कहलाता है। फिर वह आत्मा क्यों कहलाता है? वह इस प्रकार कि सब में व्याप्त रहता है, सबको ग्रहण करता है और सबको खा जाता है। अब वह महेश्वर क्यों कहलाता है? इसलिए कि वह शब्द, ध्वनि तथा आत्म-शक्ति से बड़े बड़ों का नियन्ता है और बड़े-बड़ों का ईश्वर है, इससे वह महेश्वर कहलाता है। फिर वह दत्तात्रेय कैसे कहा जाता है? इसलिए कि अति दुस्तर तपश्चर्या करके अत्रि ऋषि ने पुत्र की इच्छा की, तब उनके ऊपर अत्यन्त प्रसन्न होकर ज्योतिर्मय भगवान ने अपना ही स्वरूप उनको पुत्र रूप में दिया और वे स्वयं अत्रि तथा अनुसूया से उत्पन्न हुए। इससे वे दत्तात्रेय कहलाते है। इन सार्थक नामों को जो व्युत्पत्ति सहित

जानता है वह सब कुछ जानता है । फिर जो विद्या द्वारा इस परमात्मा की उपासना करता है, वह "मैं ही परमात्मा हूं" इस भाव ते ब्रह्मवेत्ता बन जाता है । यहाँ पर ये श्लोक हैं:—"मंगल स्वरूप, शान्त, इन्द्र-नीलमणि जैसे श्याम, आत्म-माया के साथ रमण करते,अवधूत, दिगम्बर, भस्म लगे हुए शरीर वाले, जटाजूट धारण किये हुए,व्यापक, चार भुजा वाले, उदार अंग वाले,प्रफुल्ल कमल जैसे नेत्र वाले,ज्ञानयोग के भंडार, विश्व के गुरु, लोकों के प्रिय, भक्तों पर दया वाले सब के साक्षी और सिद्धि द्वारा सेवित प्रभु दत्तात्रेय देव सनातन हैं और देवों के भी देव हैं। इस प्रकार जो निरन्तर उनका ध्यान करता है, वह सर्व पापों से मुक्त होकर मोक्ष को पाता है । इति ॐ सत्यम्, इस प्रकार उपनिषद् समाप्त होता है ।२।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

॥ इति शांडिल्य उपनिषद् समाप्त ॥

# परब्रह्मोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसतनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शांतिः शान्तिः शान्तिः ।।

शांतिपाठ--हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अंगों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिये जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान् कीर्ति वाले इन्द्र हमारा कल्याण करें, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें जिसकी गति रोकी न जा सके । ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें । ॐ शांति, शांति, शांति ।।

अथ हैनं महाशालः शौवकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु । कथं सृजन्नित्यात्मन एष महिमा विभज्य एष महिमा विभुः कः । एष तस्मै स होवाच । एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्या वरिष्ठां देवेभ्यः प्राणेभ्यः परब्रह्मपुरे बिरजं निष्कलं शुभ्रमक्षर विरजं विभाति स नियच्छति मधुकरराश्या निर्मकः अकर्मस्वपुरस्थितः कर्मकः कर्यकवत् फलमनुभवति । कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति । कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात् । को जालं विक्षिपेदेकेनैनमपकर्ष-त्यपकर्षति ।।१।।

हां ! तो ! किसी समय बुद्धिमान् शौनक ने अङ्गिरा वंशज भगवान् पिप्पलादि के पास विधिवत् गुरु के पास जैसे शिष्य गुरु-मुख पर दृष्टि रखकर बैठता है आदि, जाकर पूछा—कि संसार में जो भी उत्पन्न होने वाले पदार्थ होते हैं क्या वे सभी पहले ही दिव्य ब्रह्मपुर अर्थात् हिरण्यगर्भ भगवान् के हृदय रूपी आकाश में विराजमान हो जाते हैं ?

उन पदार्थों को यथा विभाग यह व्यापक महिमामय भगवान् अपने अन्दर से कैसे सृजन करता है?वह वस्तुतः है भी कौन ? पिप्पलाद ने उन्हें कहा—–जो श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या में तुम्हें कहता हूं (कहूंगा) वह सत्य है। वह सत्यस्वरूप ब्रह्मपुर में विरज (गुणत्रयहीन) प्राण से लेकर नाम तक सोलह कलाओं से हीन है और इसी कारण शुभ्र (स्वच्छ) अविनाशी रूप में शोभित होता है। मधुकर अर्थात् जीवमात्रों का जो समूह उसको यह बन्धन तथा मोक्ष का अधिकारी रूप से निर्मित करता है, अतः निर्मक कहा जाता है। इस स्वरूप का ब्रह्मविद्या का आधार परमात्मा मुमुक्षुओं के अविद्यादि को नियमन कर देता है ( समाप्त कर देता है ) जिससे उनको उस शुद्ध चैतन्य की प्रतीति हो जाती है।

वह अपने ही स्थान में स्थित कर्महीन रूप में स्थित रहता है। क्योंकि यह कृतकृत्य होता है। 'कर्तव्यं नैव तस्यामि' इन श्रुति के आधार पर।

वह विपरीत दृष्टि वाला तो विविध प्रकार के कर्मों को करने वाला तथा किसान की तरह अपने किये कर्म के अनुसार फल को प्राप्त करने वाला होता है कर्म के मर्म को ( जन्मादि के कारण रूप ) जानने वाला पुरुष, चित्त की शुद्धि के लिए आवश्यक हैं आदि समझ परमेश्वर की आराधना की बुद्धि से कर्म करता है। किन्तु जो अपने अलावा ( अपने को सोऽहं समझकर ) अन्य भ्रम से युक्त होना चाहता है वह मुनि कर्म के कर्म को ( अर्थात् अच्छा बुरा कर्म करने

पर ऊँच-नीच योनियों में अच्छा बुरा फल भोगना ही पड़ता है आदि ) समझकर निष्काम बुद्धि से कर्म करे ( तभी मोक्ष प्राप्त कर सकेगा ) एक मात्र ब्रह्म में आसक्त कौन संन्यासी ( विवेकी ) विविध प्रकार के कर्म-जाल को करेगा ? ( अर्थात् कोई नहीं । )

इस प्रकार निष्काम बुद्धि से काम करने वाले को उसके कर्म सांसारिक विषयों में कभी भी नहीं खींच सकते ।।१।।

प्राणदेवताश्चत्वारः । ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तश्येनाकाशवत् । यथा श्येनः समाश्रित्य यायि स्वमालयं कुलायम् । एवं सुषुप्तं ब्रूतायं च परं च । स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे अमृता ह्येषा नाडीत्रयं संचरति । तस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रैष्य ततोऽनुतिष्ठति । अन्यत्र ब्रूतायं च पर च । सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे यथैष देवदत्तो यष्टया च ताड्यमानो नैवेत्येवमिष्टापूर्तशुभाशुभैर्न लिप्यते । यथा कुमारको निष्काम आनन्दमभियायि । यथैष देवः स्वपन आनन्दमभिधावति । वेद एव पर ज्योतिः । ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव । तत्परं यच्चित्तं परमात्मानमानन्दयति । शुभ्रवर्णमाजाततेश्वरात् । भूतस्तेनैव मार्गेण स्वप्नस्थान नियच्छति । जलूकाभाववदद्वयर्थाकाममाजायतेश्वरत्वात् । तावतात्मानमानन्दयति । परसन्धि यदपरसन्धीति । तत्परं नापरं त्यजति । तदेवं कपलाष्टकं संधाय य एष स्तनइवावलम्बते । सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरित्यत्न जाग्रति । शुभाशुभातिरिक्तः शुभाशुभरपि कर्मभिर्न लिप्यते । य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः प्रणवहंसः परं ब्रह्म न प्राणहंसः प्रणवो जीवः । आद्या देवता निवेदयति । य एवं वेद । तत्कथ निभेदयते । जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति ।।२।।

ईश्वर कैसा है उसकी प्राप्ति के क्या उपाय हैं, इस विषय में कहते हैं— जीव के प्राणाधार रूप में विश्व आदि तुरीयक भेद से

चार प्राण देवता हैं उनको प्राप्त करने वाली नाड़ियाँ भी रमा, अरमा, इच्छा, पुनर्भव आदि भेद से चार प्रकार की हैं। उनमें रमा तथा अरमा नामक दो नाड़ियों का अवलम्बन करके आकाशगामी बाज की तरह (थकने पर) जाग्रत स्वप्न आदि के व्यवहार में थककर सो जाता है। अर्थात् जैसे बाज आकाश में (तृणाविष्ट होकर) देर तक उड़ने से थक जाने पर अपने घोंसले की ओर आ जाता है ठीक ऐसे ही जीव भी जाग्रत् आदि प्रपंच से थककर अपने आराम के स्थान पर दोनों नाड़ियों में विश्राम के हेतु सो जाता है। यह शयनावस्था में कहीं-कहीं विचरण भी करता है। इस विषय में लिखते हैं— कि यह वस्तुत: अमृत-रूप-स्वरूप जीवरूपिणी देवता सर्वत्र व्यापक हिरण्मय परकोश में अर्थात् हृदयकाश में रमा आदि तीन नाड़ियों का आश्रय लेकर जाग्रत् आदि तीन अवस्था तथा बन्ध मोक्ष आदि की व्यवस्था में जो विचरण करता है, उसका त्रिपाद स्वरूप, ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। यह जीव-रूपिणी देवता इस अपने स्वरूप को प्राप्त कर तन्मात्र (तत्स्वरूप के रूप (में रहकर मुक्त हो जाता है।

इसी से अन्यत्र नहीं तो जाग्रत् आदि में स्वातिरिक्त भी सत्ता समझकर घूमता रहता है।

सभी जगह हमेशा यह हिरण्मय प्रकाशमय परकोश (ब्रह्म विचरण करता हुआ भी अपने अज्ञान के आवरण से आच्छन्न होकर जाग्रत् आदि अवस्था त्रय के गड्ढे में गिर जाता है (बन्धन में पड़ जाता है।)

जैसे कि कोई (मानो देवदत्त नामक आदमी) यदि सोता हो और एक लाठी कमर में खींचकर दी जाय अर्थात् बेंत से उसे ताड़ित किया जाय, तो जगने पर फिर जैसे वह पुन: सोता नहीं, ठीक ऐसे ही यह जीव भी वेद रूपी आचार्य द्वारा वेदान्त तत्त्व जानकर (इन तत्त्व रूपी डण्डे से चोट खाकर) जब जागता है (ज्ञानयुक्त हो जाता है)

तो फिर अवस्था त्रय के गर्त में (गड्ढे के सम्पर्क में) नहीं गिरता और इष्टापूर्त आदि अच्छे बुरे कर्मों में लिप्त नहीं होता।

जैसे बालक (अबोध शिशु) किसी भी वस्तु विशेष पर अधिक आसक्त न होने के कारण किसी भी लब्ध वस्तु से आनन्दित होता रहता है ठीक ऐसे ही यह भी स्वप्न अथवा जाग्रत में भी निरन्तर आनन्द का ही अनुभव करता रहता है। (आनन्द की ओर ही लपकता है।)

सो जो कोई 'मैं उस आनन्दमय ब्रह्म का ही स्वरूप है, परम ज्योति हूं तथा परम ज्योति सूर्य आदि का प्रकाश हूं' इस प्रकार आनन्दमय कोश से पूर्ण रहता है वह ही आनन्द रूप में स्थित हो जाता है इस प्रकार जिसका हृदय (जो हृदय) उस परब्रह्म पर भेंट हो जाता है, वह परमात्मा की प्राप्ति कर आत्मा को तृप्त करता है। वही विलीन भी हो जाता है इस प्रकार ईश्वर से सफेद कर्म अर्थात् चित्त प्रसाद (प्रसनता) उत्पन्न होती है। पुनः निर्विकल्प समाधि द्वारा उसी रात्रि से स्वप्न स्थान में विश्राम करता हैं (अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि तत्वस्मि इत्यादि त्रिपुटि युक्त अखंड आकार स्वरूप तुर्य स्वप्न को प्राप्त कर उसमें आत्मा को विश्राम देता है।) जैसे जोकि एक तृण से दूसरे तृण को ग्रहण करती है ऐसे ही विद्वान भी जागरणावस्था स्थित तुर्य स्वप्न का अवलम्बन कर तुर्य जागरण को छोड़ देता है। एक रूप से तीनों अवस्थाओं के संचरण की इच्छा ईश्वर से उत्पन्न हो जाया करती है।

इस कारण यह अपनी आत्मा को आनन्दित करता है। प्रत्येक तथ्य पर चित्त की जो एकता, उसमें एक दूसरे का जो विशेष भाव उसे छोड़ देता हैं। इस प्रकार तत्पर (ब्रह्म-पर) होकर उसे अपने से विशेष कुछ मान कर अथवा अपना अभिन्न मानकर नहीं छोड़ता।

(अर्थात् वह उसे अपर भिन्न) नहीं समझता किन्तु स्वरूप समझकर छोड़ता ही नहीं है।)

यदि इस प्रकार केवल श्रवण आदि द्वारा निर्विशेष ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं होता तो कपालाष्टक अर्थात् योग के जो (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि रूप) आठ अंग हैं उनका अभ्यास कर उसके द्वारा हृदय के मैल को साफ कर ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर कृतकृत्य हुआ जा सकता है। योग ध्यान का आधार क्या है ? इस सम्बन्ध में लिखते हैं—जो यह स्तन की तरह अथवा केले के पुष्प की तरह छाती में हमेशा लटका रहता है तो यह योग काल में ऊपर उठता हुआ विकसित होता है।

इसमें ही ब्रह्मयुक्त यह ईश्वर ( जो कि वेद योनि कह कर सबके द्वारा पुकारा जाता है ) जागता है। जो इस प्रकार अपने हृदय कमल में स्थित ईश्वर को ध्याता है वह शुभ-अशुभ ( अच्छे-बुरे ) से परे होकर शुभ अथवा अशुभ किसी भी प्रकार के कर्मों द्वारा लिप्त नहीं होता। जिसका ध्यान करने वाला ही शुभाशुभ में लिप्त नहीं होता वह कैसा देव है ? इस सम्बन्ध में कहते हैं—जो यह देव है वह अत्यन्त प्रसाद (प्रसन्नता देने वाला) अन्तर्यामी निःसंग, चिद्रूप, पुरुष प्रणवहंस (ॐकार पंचरस्थ है) अथवा प्रणवार्थ तुर्य हंस परब्रह्म इस रूप से स्मरण किया जाता है। यहाँ मुख्य प्राण विवक्षित नहीं है क्योंकि यह परब्रह्म का प्रकरण है प्राणादि सम्बन्धी नहीं। प्रणव (ॐकार) ही जीव है क्योंकि वह ॐकार के अवयव के आकार से वाच्य (समझा जाने वाला ) है। वही जीव रूपिणी आधार ( सर्व प्रथम ) देवता है यह कहा जाता है।

जो इस प्रकार ॐकार की यथार्थता को जानता है वह जीव ब्रह्म के पद का निरूपण (पृथक् सत्ता) कैसे कह सकता है ? किन्तु

वह तो जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करता है उनके भेद का तो कभी भी स्मरण नहीं करता ॥२॥

सत्त्वमथास्य पुरुषस्यान्तः शिखोपवीतित्वम् । ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तः शिखोपवीतधारणम् । बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीत धारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवद-व्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम् ॥३

ब्रह्मरूपमय इस पुरुष का जो सत्य है वह ही आन्तरिक शिखा एवं यज्ञोपवीत है । ब्राह्मण जो कि मोक्ष का चाहने वाला हो उसे यह आन्तरिक शिखा एवं यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये ।

बाहर दीखने वाले जो यज्ञोपवीत एवं शिखा हैं उसका धारण कर्मी (वैदकादि कर्म का कर्त्ता) गृहस्थियों के लिये है ।

आन्तरिक जो शिखा एवं यज्ञोपवीत है वह बाहर के सूत्र की तरह व्यक्त नहीं है अपितु अव्यक्त है तथा परब्रह्म का मिलन करा देने वाला है ॥३॥

न सन्नासन्न सदासद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम् ।
न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥इति ॥४॥

अविद्या का जो स्वरूप है वह सत्, असत्, भिन्न-अभिन्न उभतात्मक ( भिन्नाभिन्न ) सभाग ( भागयुक्त ) निर्भाग ( भाग रहित ) अथवा उभय स्वरूप आदि कुछ नहीं है ।

इस कारण इसका स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय ( जिसको किसी प्रकार समझाया नहीं जा सकता ) है ।

सो जब तक इसी स्वरूप वाले अनिर्वचनीय ब्रह्म का आत्मैक-त्वज्ञान ( अर्थात् ) प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है, नहीं उदित होता तभी तक इसकी (अविद्या की) स्थिति भी है । किन्तु ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर यह सब हेय है, छोड़ देने लायक है क्योंकि यह सब मिथ्या है ॥४॥

पञ्चपादब्रह्मणो न किंचन। चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मणः स्थानानि चत्वारि। नाभिहृदयकण्ठमूर्ध्निषु। जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तितुर्यावस्थाः अहवनीयगार्हपत्यदक्षिणसभ्याग्निषु। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम्। तस्माच्चतुरवस्था चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य, तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षमापाद्य, ज्ञानपूतं त्रिगुणस्वरूपं त्रिमूर्तित्व पृथग्विज्ञाय, नवब्रह्माख्यनवगुणोपेत ज्ञात्वा, नवमानमितं त्रिः पुनस्त्रिगुणीकृत्य सूर्येन्द्वग्निकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्य, आद्यन्तकत्वमपि मध्ये त्रिरावर्त्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरत्वमनुसंधाय, आद्यन्तमेकीकृत्य चिद्ग्रन्थावद्वैत ग्रन्थि कृत्वा, नाभ्यादिब्रह्मबिलप्रमाणं पृथक्पृथक्सप्तविंशवितत्त्वसम्बन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षणक्षितमप्येकत्वमापाद्य, वामांसादिदक्षिणट्यन्तं विभाव्य, आद्यन्तग्रहसम्मेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकम्, 'सत्य मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मुत्तिकेत्येव सत्यम्', हसेतिवर्णद्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य, ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्यानाहत्वम्, यतित्वमलक्षितान्तःशिखोपवीतित्वम्, एवं बहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थस्य, आभासब्राह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पासतन्तुकृतोपवीतित्वम्। चतुर्गुणीकृत्य चतुर्विंशतितत्त्वापादनतन्तुकृत्वम्, नवतत्त्वमेकमेव पर ब्रह्म, तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्बहुमार्गवृत्तिं कल्पयन्ति। सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका ब्रह्मैकमेव ब्राह्मणत्वमेकमेव। वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथक्पृथक्, शिखा वर्णाश्रमिणामेकमेव, अपवर्गस्य यतेः शिखायज्ञोपवीतमूलं प्रणवमेक मेव वदन्ति। हसः शिखा, प्रणवमुपवीतम्, नादः संधानम्। एष धर्मो नेतरो धर्मः। तत्कथमिति। प्रणवो हसो नादस्त्रिवृत्सूत्रं स्वहृदि चैतन्ते तिष्ठति। त्रिविधं ब्रह्म तद्विद्धि। प्रापञ्चिकशिखोपवीत त्यजेत् ॥२॥

पंचपाद ( जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुर्य से परे ) ब्रह्म की अपने अतिरिक्त अविद्या रूप है या नहीं—यह भ्रान्ति कुछ भी नहीं है। अर्थात् वह निभ्रान्त है सर्वमय है ।

व्यष्टि तथा समष्टि रूप चतुष्पाद के अन्तर्गत अन्तः विद्यमान जीव-रूपी ब्रह्मा की प्राप्ति के चार स्थान हैं। नाभि, हृदय, कण्ठ तथा शिर (ललाट) इन्हीं में उसकी उपलब्धि होती है। इसकी (प्राप्ति में) चार अवस्थायें होती हैं जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति तथा तुर्य । और आह्वनीय गार्हपत्य दक्षिण सभ्य इन अग्नियों में यथायोग्य आत्मा की भावना करनी चाहिये । जागरित अवस्था में ब्रह्मा स्वप्न में विष्णु सुषुप्ति में रुद्र तुरीय में अक्षर अविनाशी चिद्रूप ब्रह्म ध्येय हैं ।

अब ब्रह्म को यज्ञोपवीत पर घटाकर बताया जाता है क्योंकि संन्यासी इसी ब्रह्ममय यज्ञोपवीत को धारण करता है—

इस ब्रह्म की प्राप्ति में जो चार अवस्थायें गिनाई गई हैं वही चार अँगुलियों का व्येष्टन है (जैसे कि चार अँगुलियों पर जनेऊ बनाते हुए धागा लिपटाया जाता है ) जिसकी संख्या ९६ बार होती है तथा ९६ तत्व इसमें लपेटे हैं। इसको तीन हिस्सा करके ( तीन गुणा रूप द्वारा ) बत्तीस तत्वों के निष्कर्ष रूप का सम्पादन करके ज्ञान से पवित्र त्रिगुणस्वरूप (तीन सत्वादि गुण तथा तीन गुण यानी रूप लड़ी स्वरूप त्रिमूर्ति रूप समझकर नौ-ब्रह्म नामक नौ गुणों (लड़ियों) से युक्त जानकर नौ मान परिमिति तीन को फिर त्रिगुण करके सूर्य चन्द्रमा तथा अग्नि कला स्वरूप से एक करके आदि तथा अन्त युक्त की तीन आवृत्तियां करके ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर का अनुसन्धान कर ( उन आवृत्तियों में ) शुरू से अन्त तक एक बनाकर चिद्रूपी ग्रन्थि में अद्वैत ग्रन्थि गांठ ) बनाकर नाभि से लेकर ब्रह्म बिल तक का भिन्न-भिन्न सत्ताईस तत्वों से सम्बन्धित

( क्योंकि जनेऊ की एक लड़ी में २७-२७ सूत्र होते हैं ) तीन गुणों ( सत्वादि ) ( सूत्रों ) से युक्त पृथक् तीन स्वरूप में दीखने पर भी उनमें एकत्व सम्पादन कर बायें कन्धे से लेकर दाहिनी कमर तक इस की भावना करके (इसे पहन) ही चित्त की शुद्धि हो सकती है। अब ब्रह्मसूत्र की प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जैसे कि घड़े आदि मिट्टी की बनी वस्तुयें केवल मात्र मिट्टी ही हैं उससे भिन्न अन्य वस्तु कोई नहीं, ठीक इसी प्रकार ब्रह्म निर्मित सभी वस्तु ब्रह्म ही हैं ब्रह्म से भिन्न उनकी कोई स्थिति नहीं है । यही इस अन्त: यज्ञोपवीत के स्वरूप को समझना चाहिए ।

अत: उस हंस नामक ब्रह्म का अंश ही मैं हूं ( सोऽहं ) ऐसा निश्चय करके ही ब्राह्मणत्व ब्रह्म ध्यान की योग्यता यतित्व (वस्तुत: यति जाति की प्राप्ति होती है और तभी पुरुष वस्तुत: अन्त: शिखा तथा अन्त: यज्ञोपवीत वाला माना जाता है । इस प्रकार बाहर दीखने वाली कर्म शिखा ( चोटी ) तथा यज्ञोपवीत गृहस्थियों के लिये होते हैं ।

बाल, शिखा तथा प्रत्यक्ष कपास के धागों से बने जनेऊ ही ब्राह्मणत्व के अथवा अन्य-अन्य वैदिक कर्मानुष्ठान योग्यता के आभासक हैं । प्रारम्भ तथा अन्त में एक ही तत्व के होने के कारण मध्य मे भी वही एक परब्रह्म विराजता है भिन्नों की स्थिति तो केवल भ्रान्ति मात्र है। चौबीस तत्वों का पोषण करने वाला ( द्योतक ) यह सूत्र एक ही ब्रह्म का स्वरूप है चाहे इसमें नौ तत्वों ( नौ लड़ियों ) की स्थापना भले ही होती है।

प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धि द्वारा कल्पना कर उसे सांख्य आदि अनेक तत्वों में जो विभक्त कर देता है उसका कारण प्रत्येक की कल्पना शक्ति का भिन्न-भिन्न होना ही है ।

सभी ब्राह्मण आदि, देव, ऋषियों, मनुष्यों की मुक्ति ब्रह्म तथा ब्राह्मणत्व आदि सब एक ही हैं, समान हैं। वर्ण आश्रम आचार केवल भिन्न हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था वालों की शिखा एक ही रूप है। मोक्ष-धिकारी यति की शिखा तथा यज्ञोपवीत का आदि कारणभूत ॐकार भी एक ही है। इनकी हंस ( ब्रह्मज्ञान ) ही शिखा है, ॐकार ही उपवीत है और इन दोनों का जोड़ने वाला नाद है।

यह इनका धर्म है अन्य नहीं। परमात्मा ही ॐकार हंस ( ब्रह्म ) तथा नाद यही तीन लड़ी वाला सूत्र है।

वह अपनी महिमा द्वारा स्वयं अपने में स्थित है। चैतन्य स्वरूप हृदय में रहता है। पर तथा अपर भेद से दो प्रकार का ब्रह्म समझना चाहिये।

यदि कोई आत्मा-स्वरूप हो सत्य को जानना चाहता है आत्म-तत्व से पृथक् कुछ नहीं देखना चाहता तो इस कर्ममय प्रपंचयुक्त शिखा तथा यज्ञोपवीत को छोड़ देना चाहिये ।।५।।

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं पर ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ।।६
पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत्।
सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम् ।।७
तत्सूत्रं विदित येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः।
स वेदवित्सदाचारः स विप्रः पङ्क्तिपावनः ।।८
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्ब्राह्मणो यतिः ।।९
बहिः सूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः।

ब्रह्मभावमिदं धारयेद्यः स मुक्तिभाक्।
नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणात् ॥१०

शिखा सहित केशों को काट कर इस बाह्य उपवीत ( यज्ञोपवीत ) को छोड़ दे और जो अविनाशी परब्रह्म है उसे ही सूत्र रूप में धारण करले।६।

पुनर्जन्म की समाप्ति के लिए निरन्तर मोक्ष का स्मरण करे। पर ( ब्रह्म ) रूपी जो सूत्र ( तन्तु , है वह इसी कारण सूत्र कहा जाता है कि वह सूचक है।७।

उस सूत्र का ज्ञान जिसे हो गया वही मुमुक्षु ( मोक्ष चाहने वाला ) तथा वही भिक्षुक, सदाचारी, मुक्त, ब्राह्मण है तथा वह अनेकों प्राणियों को पवित्र करने वाला है।८।

जिस परब्रह्म ने इस अखण्ड ब्रह्माण्ड को धागे में मणकों की तरह पिरो रखा है, उसी सूत्र को योग का ज्ञाता यति ब्राह्मण धारण करे।६।

योगी तथा ज्ञानेच्छुक ब्राह्मण इस बाहर के सूत्र को सर्वथा छोड़ दे। तथा उस ब्रह्मभाव से मुक्त सूत्र को जो धारण करता है वह मुक्ति का अधिकारी है क्योंकि उस सूत्र के धारण करने में किसी भी तरह ( उस सूत्र की ) अपवित्रता, उच्छिष्टता ( जूँठा होना ) का काम नहीं रहता।१०।

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥११
ये तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिन।।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम् ॥१२
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥१३
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा।

ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरका: ।
व्रजन्ते निरय ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥१४
वामांसदक्षकटचन्त ब्रह्मसूत्रं तु सव्यत: ।
अन्तर्बहिरिवात्यर्थं तत्त्वतन्तुसमन्वितम् ॥१५

जिस ज्ञानमय यज्ञोपवीत धारियों के अन्दर यह सूत्र रहता है वही वस्तुत: संसार में सूत्र से सम्बन्धित ज्ञान रखने वाले तथा सच्चे यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं ।११। जो ज्ञानयुक्त शिक्षा वाले ज्ञाननिष्ठ तथा ज्ञान ( परमतत्व ज्ञान ) रूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनका सर्वस्व ज्ञान ही है तथा ज्ञान ही उनके लिये परम पावन कहा गया है ।१२। जिसकी अन्य शिखा न होकर अग्नि की शिखा ( लपट ) के समान ज्ञानयुक्त शिखा है वही विद्वान् तथा शिखी ( वस्तुत: चोटी वाला ) कहा जाता है, दूसरे लम्बे-लम्बे बालों को धारण करने वाले भी शिखी नहीं कहे जाते ।१३। जो लोग वैदिक कर्म ( यज्ञादि ) तथा लौकिक कर्म ( आहार-विहार ) में लगे हुए हैं वह ब्राह्मण तो केवल ब्राह्मण के आभास मात्र ( वस्तुत: ब्राह्मण न होकर, उसी छायामात्र रूप में पेटों को भरने वाले होते हुए जी रहे हैं वे हमेशा सभी जन्मों के अन्त में नरक में पहुंचते हैं ( संसार के इस जन्म मृत्यु रूपी नरक की विविधि पीड़ायें सहते हैं ) ।१४। विद्वान् को चाहिए कि वह बांयें कन्धे से दाहिनी कमर तक आन्तरिक यथार्थ ज्ञान से उत्पन्न परमतत्व रूपी धागे से बने हुए ब्रह्मसूत्र को नाभि से ब्रह्मरन्ध्र तक यथाप्रमाण धारण करे ।१५।

नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत्सुधी: ।
तेभिधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् ॥१६
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीत च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किंचन ॥१७

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
विद्वान्यज्ञोपवीतो संधारयेद्यः स मुक्तिभाक् ॥१८
बहिरन्तश्चोपवीतो विप्रः संन्यस्तुमर्हति ।
एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ॥१९
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः ।
बहिः सूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत् ॥२०

बहिः प्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्वमवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवाञ्छौनक इत्युपनिषत् ॥ हरिःॐ तत्सत् ॥

इस प्रकार परमतत्व रूपी तन्तु से बने हुए विविध क्रियाओं के अङ्गभूत इस सूत्र को धारण करना चाहिए । जिसकी ज्ञानमयी शिखा (चोटी) तथा ज्ञानमय उपवीत (जनेऊ) होता है उसकी सभी वस्तुयें ब्रह्ममय हैं अन्यों की कोई भी वस्तु नहीं है ।१६। जो विद्वान् इस परमतत्व स्वरूप परम परायण (ब्रह्मपरायण) यज्ञोपवीत को धारण कर यज्ञोपवीती होता है वह ही वस्तुतः मुक्ति का अधिकारी है ।१७। जो कि बाहर तथा अन्दर दोनों ओर से यज्ञोपवीत हो वही ब्राह्मण संन्यासी का अधिकारी है । केवल एक यज्ञोपवीत धारण करने वाला ही संन्यास का अधिकारी नहीं, अर्थात् जो सांसारिक वैदिक कर्मों को विधिवत् करके परमतत्व जिज्ञासा को प्रबल कर विरागमय हो गया हो वही संन्यास का अधिकारी है ।१८। अतः यति को चाहिए कि सभी प्रयत्नों से वह मोक्ष का चाहने वाला बने । तथा बाहर के सूत्र को छोड़कर अन्दर के सूत्र को धारण कर लेना चाहिए । ।१९। इस बाहर के प्रपंचमय (जन्म मृत्यु बन्धन) शिखा तथा यज्ञोपवीत को छोड़कर ॐकार ब्रह्मरूपी शिखा तथा यज्ञोपवीत का आश्रय लेकर मोक्ष का साधन करना चाहिए ऐसा भगवान् शौनक ने कहा है ।२०।

॥ परब्रह्म उपनिषद् समाप्त ॥

# कठरुद्रोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सहनौभुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषा वहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्ति पाठ—ॐब्रह्म हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ ही रक्षण करो हमारा दोनों का पालन करो हम दोनों साथ ही सामर्थ्य प्राप्त करें हमारा दोनों का विद्याध्ययन तेजस्वी हो हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन । अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्याम् । स प्रजापतिरब्रवीत् ॥१

सशिखान् केशान्निष्कृष्य, विसृज्य, यज्ञोपवीतं निष्कृष्य, ततः पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्मत्व, यज्ञस्त्वंवषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता । अथ पुत्रो वदति । अवं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोंकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मीति । तान्येतानि अनुव्रजन्नाश्रुमापातयेत् । यदश्रुमापातयेत्प्रजां विच्छिन्द्यात् । प्रतक्षिणमावृत्यैतच्चैतच्चानवेक्षमाणः प्रत्यायति । स स्वर्ग्यो भवति ॥२

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्तचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्यताननुरूपोपाधिभिर्वितत्य, इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च । सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं पयसाग्निहोत्रं जुहुवाद् द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात् । द्वादशरात्रस्यान्तेऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं अग्निम् । संस्थितानि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात् ।

मृन्मयान्यप्सु जुहुयात् । तैजसानि गुरवे दद्यात् । मा त्वं मामपहाय परागा नाहं त्वामपहाय परागामिति गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयेषु, अरणिदेशाद्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके । सशिखान् केशान्निकृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात् । अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशनमग्निप्रवेशनं वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत् । पयसाद्यप्रश्नीयात्सोऽस्य सायंहोमो यत्प्रातः सोऽयं प्रातः यद्दर्शे तद्दर्शं यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यं यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोमः ।।३।।

एक समय की बात है सब देवता प्रजापति ब्रह्माजी के पास आ कर कहने लगे—'प्रभो ! हमें ब्रह्मविद्या का उपदेश करिये ।' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—चोटी सहित बालों को मुड़वा कर यज्ञोपवीत को त्याग दे और पुत्र को देखकर, उससे कहे कि तुम यज्ञ हो, तुम वषट्-कार, ॐकार और ब्रह्मा हो । तुम स्वाहा, स्वधा, धाता, विधाता, एवं प्रतिष्ठा हो । इस पर पुत्र कहे कि मैं यज्ञ, वषट्कार ॐकार और ब्रह्म हूँ । मैं स्वाहा, स्वधा, धाता, विधाता और त्वष्टा हूँ तथा प्रतिष्ठा भी मैं ही हूं । इसके पश्चात् जब परिव्राजक होकर गृहत्याग करे, तब पुत्र कलत्र आदि के पीछे-पीछे चलने पर उनको देखकर आँसू न गिरावे । क्योंकि अश्रु गिराने से संतति का नाश हो जाता है । इसके पश्चात् वे सब लोग संन्यासी की प्रदक्षिणा करते हैं और इधर-उधर कुछ न देखकर घर लौट जाते हैं । ऐसा संन्यासी देवलोक को प्राप्त होता है ।१–२।

ब्रह्मचारी रहकर वेदाध्ययन कर युवावस्था की प्राप्ति पर विवाह करे और पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् उनको पढ़ा लिखाकर सुयोग्य बनाने और यथाशक्ति यज्ञादि कर्म करे । इतना करने के पश्चात् अपने घर के लोगों और गुरुजनों की सहमति प्राप्त कर संन्यास ग्रहण कर सकता है संन्यासी होने पर बाहर रात्रियों तक जङ्गल में दूध से

हवन करे और केवल दुग्धाहार पर रहे । बाहर रात्रियां बीतने पर विष्णु और प्रजापति से सम्बन्धित चरु को वैश्वानर अग्नि और प्रजापति के निमित्त हवन करे । चरु मिट्टी की तीन ठीकरियों पर सिद्ध किया जाता है । इसके पश्चात् दारुपात्रों को भी अग्नि में होमे और मृतिका पात्रों को जल में विसर्जित करे । जो पदार्थ स्वर्णादिक निर्मित हों उन तैजस् पदार्थों को अपने गुरु को दे-दे और कहे कि 'तुम मुझे त्याग कर दूर मत जाना, मैं भी तुम्हें त्याग कर दूर नहीं जाऊँगा ।' कुछ शास्त्रों का मत है कि इस कर्म के अन्त में गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों से भस्म की मुट्ठी लेकर भक्षण करले । जब चोटी सहित बालों का मुण्डन करावे तो जनेऊ उतार कर ॐ भूः स्वाहा' कहता हुआ उसे जल में विसर्जित करे । इसके पश्चात् योग की जिन क्रियाओं को करना चाहे करे । उनमें अनशन, जल में प्रवेश, अग्नि में प्रवेश अथवा वीरों के समान महाप्रस्थान आदि के द्वारा जीवनान्त किया जा सकता है अथवा किसी वृद्ध संन्यासी के आश्रम में जाकर रहे । संन्यासी दूध या जल के साथ जो कुछ खाता है वही उसका हवन है । अमावस्या को किया गया भोजन 'दर्शयज्ञ' कहा गया है । पूर्णिमा का भोजन 'पौर्णमास्य यज्ञ' है वसंत ऋतु में केश, दाढ़ी, मूँछ आदि कटवाना है उसका अग्निष्टोम है ।३।

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत् । यन्मृत्युर्जायमावह इत्यध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् । स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वा आत्मानमनन्यं ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेदनिकेतश्चरत् । भिक्षाशी यत्किंचिन्न ददद्यात् । लवेकं नाधावयेत् जन्तुसरक्षणार्थं वर्षवर्जम् इति । तदपि श्लोका भवन्ति ।।४।।

कुण्डिका चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।
शीतोपघातिनी कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ।।५
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च ।

यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥६
स्नान पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्॥
नदीपुलिनशायी स्याद्देवागरेषु वा स्वपेत् ॥७
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥८
ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मस्करी ।
दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ॥९
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥१०
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ।
यज्जगद्भासकं भान नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥११

संन्यास ग्रहण करने पर पुनः अग्नि का आधान नहीं किया जाता। केवल आध्यात्मिक मन्त्रों के पाठ का विधान है । 'सब प्राणियों का कल्याण हो' ऐसी भावना करता हुआ, हाथों को ऊपर उठाकर प्रपंच रहित मार्ग में विचरण करे । घर का सर्वथा त्याग करे, और भिक्षाटन से जो कुछ मिले उसी में सन्तोष करे । एक स्थान पर थोड़ी देर भी रहे, परन्तु वर्षा पड़ रही हो तो कहीं भी ठहर सकता है ।४।

अन्य श्लोकों में कहा है कि कुणिका, चमस, शिक्य, तिपाई, जूते, कथरी, कौपीन के ऊपर वाले वस्त्र, स्नान के पश्चात् पहना जाने वाला वस्त्र, कुश का आसन, यज्ञोपवीत और वेदादि का अध्ययन यह सब संन्यासी को छोड़ देना चाहिए । उसका स्नानादि कर्म पवित्र जल से होना चाहिए । वह किसी देव-मंदिर में अथवा नदी के किनारे जाकर शयन करे । अधिक आराम करना उचित नहीं है । अभ्यास करने से भी कोई लाभ नहीं है । अपनी प्रशंसा से प्रसन्न न हो और निन्दा सुनकर क्रोध न करे अर्थात् निन्दस्तुति को समान समझे । किसी

को गाली न दे और आलस्य को छोड़कर ब्रह्मचर्य पूर्वक रहे। ज्ञानीजनों ने स्त्रियों का देखना, स्पर्श करना, उनके सम्बध में चर्चा करना, गुह्य विषय का चिन्तन, क्रीड़ा, कामात्मक संकल्प, समागम का प्रयत्न और समागम-कर्म यह आठ प्रकार मैथुन कहे हैं। मोक्ष की कामना वाले संन्यासियों को मैथुनादि का त्याग कर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।११।

स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः ।
प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः ।।१२
न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित् ।
ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः ।।१३
तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् ।
संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिचे ।।१४
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते ।
सोऽश्नुते सकलान् कामानक्रमेण द्विजोत्तमः ।।१५
प्रत्यगात्मानमज्ञानमयाशक्तेश्च साक्षिणम् ।
एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।।१६

जो आत्मा नित्य प्रकाशस्वरूप एवं स्वयं ही प्रकाशित है, यही विश्व का प्रकाशित करने वाला है। वही स्वच्छ स्वरूप वाला संसार का साक्षी और सर्वात्मा है सब प्राणी में प्रतिष्ठित हैं क्योंकि वही प्रज्ञाघन प्रकाशस्वरूप है। मनुष्य अपने किसी कर्म से अथवा किसी भी साधन से ब्रह्म को नहीं पा सकता। सन्तान आदि के द्वारा भी ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म अद्वितीय है, सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है। संसार अज्ञान, माया और गुहारूप है, इसमें वही ब्रह्म व्याप्त है। वह अपने परम व्योम नामक नित्यधाम में विराजमान है, वह विद्या के द्वारा ही जाना जा सकता है। जो उसे जानता है उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। 'मैं एक ब्रह्मरूप हूं'

इस प्रकार स्वयं में ब्रह्म से भेद न मानता हुआ जो अज्ञान और माया के साक्षी आत्मा को जानता है, वह ज्ञानी पुरुष स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है ॥१२-१६॥

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात् ।
अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत् ॥१७
आकाशाद्वायुसज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः ।
वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा ॥१८
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा ।
तेभ्य एव विसृष्टं तत् ब्रह्माण्डादि शिवेन ह ॥१९
ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः ।
मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः ॥२०
अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम् ।
योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः ॥२१
ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ।
ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ॥२२
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ।
आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ॥२३
योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु ।
मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ॥२४
तथा मनोमयो ह्यात्मा पूर्णं ज्ञानमयेन तु ।
आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखी ॥२५
तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणान्येन साक्षिणा ।
सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥२६
यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम् ।
सारमेव रस लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम् ॥२७
सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखता कुतः ।
असत्यस्मिन् परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम् ॥२८

को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते ।
तस्मात् सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः ॥१९
आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः ।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे ॥२०

रस्सी में सर्प का भ्रम होने के समान ब्रह्मरूप आत्मा से इस शब्द तन्मात्र की उत्पत्ति हुई। फिर वायु रूप अपंचीकृत स्पर्श-तन्मात्रा की आकाश से उत्पत्ति हुई । वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ। अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई । कल्याणस्वरूप परमात्मा ने सूक्ष्म भूतों को पंचीकृत किया और उनके द्वारा ब्रह्माण्ड आदि की रचना की। उस ब्रह्माण्ड में पूर्व कर्मों के अनुसार देवता, दैत्य, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि विभिन्न योनियां उत्पन्न हुईं और माँस, मज्जा, अस्थि आदि द्वारा बने हुए देह भी कर्मानुसार ही रचे गए। सभी देहधारियों के यह अन्नमय स्थूल शरीर दिखाई दे रहे हैं, उनसे प्रथक् एक प्राणमय आत्मा है। वह आत्मा इस अन्नमय आत्मा में अवस्थित है। विज्ञानात्मक आत्मा के भी भीतर एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म आनन्दमय आत्मा और है। जैसे प्राणमय आत्मा से अन्नमय आत्मा परिपूर्ण हुआ है, वैसे ही आनन्दमय आत्मा से प्राणमय आत्मा पूर्ण होता है। मनोमय आत्मा विज्ञानमय आत्मा के बिना पूर्ण नहीं है और विज्ञानमय आत्मा आनन्दमय आत्मा के बिना अधूरा ही रहता है। उस आनन्दमय आत्मा से भी भिन्न एक और आत्मा है, यह सर्वव्यापी, सबके अन्तर में बास करने वाला परिपूर्ण ब्रह्म है, यही आनन्दमय आत्मा को पूर्ण करता है। परन्तु उस ब्रह्म को पूर्ण करने वाला कोई अन्य नहीं है ब्रह्म स्वयं ही अपने को पूर्ण किये हुए है। यह ब्रह्म ही सत्य एवं ज्ञान रूप है और सबका आश्रय है। वही सब का साररूप और रसमय है। यह देहधारी उसी सनातन तत्व को प्राप्त कर सर्व सुखी हो सकता है। इससे अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं है।

यह सभी प्राणियों की आत्मा है, इस परमानन्द ब्रह्म के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। जो सब के चित्त में अन्तर्यामी रूप से निवास करता है वह परम पुरुष ही दुःखग्रस्त प्राणियों को आनन्द देने वाला है ॥१७-३०॥

निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायति ।
तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥३१
सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम् ।
यदा ह्येवैष इतस्मिन्नल्पमप्यन्तर नरः ॥३२
विजानाति तदा तस्य भय स्यान्नात्र संशयः ।
अस्यैवा नादकाशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः ॥३३
भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु ।
तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः ॥३४
स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति पदे यथा ।
निमित्तं किञ्चदाश्रित्य खलुशब्दः प्रवर्तते ॥३५
यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः ।
निर्विशेषपरानन्दे कथ शब्दः प्रवर्तते ॥३६
तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्त सर्वगोचरम् ।
यस्माच्छ्रोत्रत्वागक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च ॥३७
व्यावृत्तानि पर प्राप्तु नं समर्थानि तानि तु ।
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुण सत्यचिद्घनम् ॥३८
विदित्वा स्वात्मरूपेण न विभेति कुतश्चन ।
एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः ॥३९
स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः ।
तप्यताकरूपेण विभातमखिलं जगत् ॥४०

जो ज्ञानी पुरुष इस अदृश्य परतत्व से भेद-रहित परम अद्वैत ब्रह्म को पा लेता है, वही महान् योगी है। देश, काल एवं पदार्थ के

अपरिच्छिन्न, सत्स्वरूप परब्रह्म ही अभय पर, परम अमृतरूप तथा कल्याण रूप हैं। जब तक मनुष्य अपने को उससे किञ्चित भी दूर समझता है, तब तक वह निर्भयता को प्राप्त नहीं हो सकता। छोटे से छोटे तिनके से लेकर भगवान् विष्णु तक सभी इस आनन्द रूप कोष से नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं। इहलोक और परलोक के भोगों से भी जो विरक्त हो चुका है, वह प्रसन्न मन वाला श्रोत्रिय इस स्वरूपभूत आनन्द का स्वयं ही अनुभव करता है। शब्द किसी निमित्त को लेकर ही प्रवृत्त होता है, परन्तु परतत्व में निमित्त का अभाव है, इसलिए वाणी वहाँ जाकर भी प्रत्यावर्तित हो जाती है। जो परमानन्द स्वरूप तत्व, सभी विषयों से शून्य है वहाँ शब्द का विषय ही कैसे ठहरे ? अतः यह मन सूक्ष्म और सीमित शक्ति वाला होकर सर्वत्र विचरण करता है। कान, नेत्र,त्वचा आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श तथा वाणी और हाथ आदि यह सभी सीमित शक्ति वाले हैं। इसीलिये यह परतत्व की प्राप्ति में असमर्थ हैं। जो साधक उस द्वन्द्वातीत गुण-रहित, सत्यस्वरूप ब्रह्म को ही अपना स्वरूप मानता है वह सर्वत्र भय-रहित रहता है। तथा जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ गुरु के वचनों के अनुसार चलकर आत्म साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्म स्वरूप परमानन्द को जान लेता है, वह साधु हो या न हो केवल अपने कर्मों के द्वारा ही कभी सन्ताप को प्राप्त नहीं होता। विषय को तापक और चित्त को ताप्य माना गया है। चित्त और उसके विषयों द्वारा ही यह सम्पूर्ण विश्व परलक्षित हो रहा है ॥३९-४०॥

प्रत्यागात्मतगा भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ।
शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ॥४१

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा ।
इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ॥४२

मायोपाधिविनिर्मुक्त शुद्धमित्यभिधीयते ।
मायासम्बन्धतश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥४३
अन्तःकरणसम्बन्धात् प्रमातेत्यभिधीयते ।
तथा तद्वृत्तिसम्बन्धात् प्रमाणमिति कथ्यते ॥४४
अज्ञातमपि चैतन्य प्रमेयमिति कथ्यते ।
तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ॥४५
सर्वोपाधिविनिर्मुक्त स्वत्मानं भावयेत्सुधीः ।
एवं यो वेद तत्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥४६
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः
स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥४७
इत्युपनिषत् ॥

वेदान्त शास्त्रों में कहा गया है कि यह प्रत्यक् आत्मा के रूप में है। सात प्रकार के जो तत्व कहे गये हैं, वे प्रमाण, प्रमेय, फल, ब्रह्म, ईश्वर और जीव हैं, इसमें व्यवहार की दृष्टि से भेद माना गया है। ब्रह्म शुद्ध चैतन्य है वह माया द्वारा निर्मित उपाधियों से सर्वथा मुक्त है। मायात्मक होने से वह ईश्वर है तथा अविद्या के वशीभूत होने से जीव हो जाता है अन्तःकरण से सम्बन्धित होने के कारण वह ज्ञाता है। उसी अन्तःकरण के कारण वह प्रमाता कहा जाता है। अन्वृत्ति से वह प्रमाण कहा जाता है। जब तक अज्ञात है तब तक प्रमेय है और वही जब ज्ञात हो जाता तब फल संज्ञक होता है। इसलिये ज्ञानी पुरुष अपने को सब उपाधियों से मुक्त माने। इस प्रकार इस ज्ञान के जानने वाला ब्रह्मत्व प्राप्त करने में समर्थ होता है। मैंने वेदान्त के सब सिद्धान्तों का सार रूप में वर्णन किया है। अपने कर्मों से ही प्राणी उत्पन्न होता तथा मृत्यु को प्राप्त होता है। यह सब आत्मा का ही खेल है, क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व नहीं। यही उपनिषद् है।४२-४७।

॥ कठरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

# क्षुरिकोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदानिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरतेय उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शान्तिपाठ—मेरे अंग वृद्धि को प्राप्त हों, वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद् ब्रह्म हैं। मुझ से ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। उसमें रत हुए मुझको उपनिषद् प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो।

॥ ॐ शान्ति, शान्तिः शान्ति।

ब्रह्मचर्याश्रमेऽक्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः।
वेदानधीत्याणुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥१
दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः।
ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥२
सविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च।
संचरन्ववमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥३
वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः।
स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्नु पातयेत् ॥४
सह तेनैव पुरुषः कथं सन्यस्त उच्यते।
सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥५

हरि ॐ। वेदों का अध्ययन करके ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त हो जाने पर गुरु की सेवा में रत जिस व्यक्ति को गुरु जाने की आज्ञा दे

देते हैं वह आश्रमी कहलाता है ।।१।। अपने अनुकूल स्त्री को ग्रहण करके और यथाशक्ति अग्नि को धारण करके ब्राह्म-यज्ञ में संलग्न रहे और सदैव उसका पूजन करता रहे ।।२।। फिर पुत्रों में धन को बाँट और ग्राम सम्बन्धी कार्य उनको सोंप कर बन को गमन करे और पवित्र देश में भ्रमण करे ।।३।। वायु का भक्षण करके, या पानी या विहित कन्दमूल द्वारा अपने शरीर की रक्षा करता रहे और किसी कष्ट से पृथिवी पर आंसू न गिरावे ।।४।। पर इतना करने से भी पुरुष संन्यासी नहीं कहा जा सकता । यह तो सामान्य नियम का पालन है, संन्यास इससे कहीं अधिक है ।।५।।

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् ।
अग्निवर्णं निनिष्क्रम्य तानप्रस्थं प्रपद्यते ।।६
लोकवद्भार्यया सक्तो वनं गच्छति संयतः ।
संत्यक्त्वा संसृमिमुखमनुतिष्ठति किं मुधा ।।७
किं वा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान् ।
गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ।
गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयम् ।।८ इति ।।
सन्यस्याग्निमपुनरावर्तनम् । यन्मृत्युर्जायमावहम् इति ।
अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् ।

दीक्षामुपेयात् । काषायवासाः । कक्षोपस्थलोमानिवर्जयेत् । ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति । अनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी निदिध्यासनं दध्यात् । पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम् ।

तदपि श्लोका भवन्ति ।
कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छदनं तथा ।।९
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च ।
अतोऽतिरिक्तं यत्किञ्चित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ।।१०

इसके लिए फल की इच्छा रहित संन्यास में मुक्त होकर, वर्ण और अग्नि को त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया जाता है ॥६॥ सामान्य लोगों की भाँति स्त्री और संसार के सुख को त्यागकर वन में जा कर अनुष्ठान करने से क्या लाभ है? ।७।। अथवा गर्भवास के भय से शीत, उष्ण, सुख दुःख से डरता हुआ भोगों को क्यों छोड़ता है? ॥८॥ ऐसा करने का कारण यही है कि वह गुह्य परमपद में प्रवेश करने की इच्छा रखता है। वह मृत्युञ्जय परमब्रह्म का स्मरण करता है, अध्यात्म मन्त्रों का जप करता है और काषाय वस्त्र धारण करके दीक्षा ले लेता है। काख और उपस्थ स्थान के बालों के अतिरिक्त सब बालों का क्षौर करा लेता है। ऊर्ध्व बाहु करके स्वेच्छापूर्वक विचरण करता है। घर रहित होकर भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है। निदिध्यासन करता रहे। जन्तुओं से रक्षा के लिये पवित्रता धारण करे। कमण्डलु, चमरु, छीका, त्रिविष्टप, पदत्राण, शीत से बचने के लिये गुदड़ी, कौपीन, स्नान करने के लिए धोती और अगोछा—इन वस्तुओं के सिवा जो भी हो उस सबको संन्यासी त्याग दे ॥९-१०॥

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः ।
नात्यर्थं सुखदुखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ॥११
स्नानं पानं शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥१२
भिक्षादि वैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम् ।
एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा ॥१३
विश्वायमनुसंयोगं मनसा भावयेत् सुधीः ।
आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी ।
एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्येऽजरममरमक्षरं प्रपद्ये ।
मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥१४

न मे देहेन संबन्धो मेघेनेवा विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जा..त्स्वप्नसुषुप्तिषुः ।।१५

चाहे तो नदी के किनारे शयन करे या देवालय के बाहर रहे। बिना प्रयोजन के शरीर को सुख-दुख से कष्ट न दे ।११। स्नान, पीने और शोचादि के लिए पवित्र जल ग्रहण करे। न तो स्तुति से प्रसन्न हो न निन्दा किये जाने पर बुरा भला कहे ।१२। भिक्षा का पात्र (खप्पर) और स्नान आदि का जल जैसे प्राप्त होता हो ग्रहण करे। इस प्रकार की उत्तम वृत्ति अङ्गीकार करके यती सदैव जप करे। आकाश से वायु, वायु से ज्योति, ज्योति से जल और जल से पृथ्वी, इन सब भूतों में जो ब्रह्म व्याप्त है, उसे मैं प्राप्त हुआ हूं। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय को प्राप्त हुआ हूं। मैं अखण्ड सुख समुद्र रूप हूं, मेरे बीच में बहुत सी लहरें माया-रूपी वायु के द्वारा उत्पन्न और विलीन होती हैं ।१४। मेरा इस देह से इसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं है जैसे आकाश का मेघ से। इसलिए इसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं से मेरा क्या सम्बन्ध है ? ।१५।

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम्
।।१६

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीश्वरः ।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः
।।१७

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य ।
वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय सश्रयेत् ।
संदश्य शनकैर्जिह्वा यवमात्रविनिर्गताम् ।।१८

माषमात्रीं तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि ।
श्रवणे नासिके गन्धायतत्व न च सश्रयेतः ॥१९
अथ शैव यत्र पदं तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम् ।
तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मना ॥२०

मैं आकाश के समान कल्पना से परे हूं, सूर्य की तरह अन्य चमकीले पदार्थों से भिन्न हूं, पर्वत के समान सदैव अडिग हूं और समुद्र के समान पार से रहित हूँ अर्थात् अपार हूं ।१६। मैं नारायण हूं, नरकान्तक, पुरकान्तक, पुरुष और ईश हूँ मैं अखण्ड बोध सबका साक्षी, ईश्वर रहित और ममता से रहित हूँ ।१७। अब प्राण और अपान के विषय में कहते हैं । वृषण और गुदा के मध्य दोनों हाथों को रखे । दाँतों से जीव को धीरे से दबा कर एक जौ के बराबर बाहर निकाले ।१८। दृष्टि को श्रोत्र और भूमि पर स्थापित करे जिससे शब्द और नासिका में गन्ध न पहुँचे ।१९। जो ब्रह्म का ध्यान करता है वही ब्रह्म है और वही शिव है, उसको पूर्व जन्म के पुण्य से अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जाता है ।२०।

संभूतैर्वायुसंश्राव्य हृदयं तप उच्यते ।
ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्वा मूर्धानमव्ययम् ॥२१
स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् ।
भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरविदो जनाः ॥२२
न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहीधर्माः प्रदीपवत् ॥२३
जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥२४
निष्क्रियोऽस्म्यविकारोस्मि निष्कलोस्मि निराकृतिः ।

निर्विकल्पोस्तिम नित्योऽस्ति निरालम्बोऽस्मि निद्व'यः ॥२५
सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वय: ।
केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्तोऽहं निरन्तर: ॥२६
स्वमेव सर्वत: पश्यन्मन्यमान: स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥२७
गच्छस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्माराम: सदा मुनि: ॥२८
इत्युपनिषत् ॥

वायु के नाद का उत्पन्न होना हृदय का तप कहा जाता है, वह देह को भेद कर ऊपर की तरफ जाता है और मूर्धा को प्राप्त होता है ।२१। अपनी देह मैं मूर्ध्रा को प्राप्त करना परमगति कही गई है । जो उसे प्राप्त कर लेते हैं वे ब्रह्मज्ञानी आवागमन से छूट जाते हैं ।२२। विचारशून्य और उदासीन भावयुक्त साक्षी को साक्ष्य-धर्म वैसे ही स्पर्श नहीं कर सकता जैसे गृह धर्म दीपक पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते ।२३। यह जड़ शरीर चाहे जल में पड़े अथवा स्थल में पड़ा रहे, मैं जो चैतन्य स्वरूप हूँ वह उसके कारण लिप्त नहीं हो सकता, जैसे घड़ा के कारण घटाकाश में कोई विकृति नहीं आती ।२४। मैं तो क्रिया-रहित, अविकारी, निष्कल, आकृति रहित, निर्विकल्प, नित्य, निरालम्ब, द्वैत-अहित, सर्वात्मा, सर्व, सर्वातीत, अद्वय हूं । मैं केवल अखण्ड बोधरूप हूं और निरन्तर स्वयं आनन्द रूप हूं ।२५-२६। अपने को ही सर्वदा देखता हूँ, स्वयं को अद्वय मानता हुआ, अपने ही आनन्द को भोगता हुआ मैं निर्विकल्प स्वरूप हूं ।२७। चलता हुआ, ठहरा हुआ, बैठा हुआ शयन करता हुआ अथवा अन्य किसी प्रकार से रहता हुआ यह मुनि रूपी आत्मा यथा इच्छा वास करे ।२८। ऐसा यह उपनिषद् है ।

॥ कुण्डिकोपनिषद् समाप्त ॥

# आरुण्युपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

शान्तिपाठ—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सब इन्द्रियाँ वृद्धि को प्राप्त हों, सब उपनिषद् ब्रह्म हैं। मुझ ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। ऐसे ब्रह्मरत रहते हुए मुझको उपनिषद् में प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

आरुणिः प्राजापत्यः प्राजापतेर्लोकं जगाम। तं गत्वोवाच। केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिः। तव पुत्रान्भ्रातृन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूलोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं च अतलवितलसुतलपातालरसातलतलातलमहातलब्रह्मांडं च विसृजेत्। दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत् शेषं विसृजेत्। इति।१॥

एक समय की बात है—प्रजापति की उपासना करने वाले अरुण के पुत्र आरुणि भगवान् ब्रह्माजी के ब्रह्मलोक में जाकर उनसे निवेदन करने लगे—'भगवन्! मैं किस प्रकार सभी कर्मों को छोड़ सकता हूं, कृपा कर मुझे इसका उपदेश करिये।' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—सर्व प्रथम अपने पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि का त्याग करे। फिर शिखा-सूत्र, यज्ञ और स्वाध्याय आदि को भी छोड़ दे। इसके पश्चात्

भूः, भुव, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, तल-अकार, वितल, सुतल रसातल, महातल और पाताल आदि लोकों वाले सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का त्याग करे अर्थात् इनमें से किसी की कामना न करे । दण्ड, कौपीन एवं तन ढकने के लिए आवश्यक हो तो कोई वस्त्र इतना ही पास रखे और सब वस्तुओं को छोड़ दे ।१।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समारोपयेत् गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत् । उपवीत भूमावप्सु वा विसृजेत् । कुटीचको ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत् । पात्रं विसृजेत् । पवित्रं विसृजेत् । दण्डाँल्लोकाग्नीन् विसृजेत् इति होवाच । अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत् । ऊर्ध्वगमनं विसृजेत् । औषधवदशनमाचरेत् । त्रिसंध्यां स्नानमाचरेत् । संधि समाधावात्मन्याचरेत् । सर्वेषु वेदेष्वारणसावर्तयेदुनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेत् । खल्वहं ब्रह्मसूत्रं, सूचनात् सूत्रं, ब्रह्मसूत्रमहमेवं विद्यात् । त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद ॥२॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ इनमें से कोई भी हो, अपने यज्ञोपवीत को पृथ्वी पर अथवा जल में विसर्जित करे । लौकिक अग्नियों को जठराग्नि में लय करे और अपनी वाणी रूप अग्नि में गायत्री को समाविष्ट करे । कुटी में निवास करने वाला ब्रह्मचारी अपने कुटुम्ब के त्यागपूर्वक पात्र को भी छोड़ दे । पवित्री को छोड़ और दण्डों तथा लोकों को भी छोड़ दे । फिर मन्त्रहीन के समान रहता उच्चलोकों को प्राप्त करने की कामना का भी त्याग कर दे । अन्न को औषधि के समान ग्रहण करे । तीन समय स्नान करे और सन्ध्या काल में समाधिस्थ हो जाय । सभी वेदों, उपनिषदों आदि का स्वाध्याय करे ।२।

संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वा अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । सखा मा गोपायोजः सखा

योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवार-येत्यनेन मन्त्रेण कृतं वैष्णवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेत् । औषधव-दशनमाचरेकौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीमात् । ब्रह्मचर्य-महिंसां चापरिग्रहं च सत्य च यत्नेन हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षतो इति ॥३॥

फिर 'मैं निश्चय ही ब्रह्मसूत्र हूं' ऐसा मान कर यज्ञोपवीत को छोड़ दे । इस प्रकार करता हुआ मैंने संन्यास ले लिया, मैंने सब कुछ त्याग दिया, मैंने संन्यास ले लिया इस प्रकार कहे ।

'अभयं सर्वभूते०' से अभिमंत्रित बाँस का दण्ड ले और कौपीन धारण करे । जैसे औषधि अल्प मात्रा में ली जाती है, वैसे अल्पहार करे । जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी को खाकर संतोष करे । हे आरुणि ! संन्यासी होने पर ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य का पालन करो । उनकी प्रयत्नपूर्वक सदा रक्षा करो ।३।

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनाभ्यां भूमौ ब्रह्मचारिणाम् । मृत्पात्रं वा अलाबुपात्रं दारुपात्रं वा । काम-क्रोधलोभमोहदम्भदर्पेच्छासूयाभमत्वाहंकारादीनपि त्यजेत् । वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद्, द्वावेवाचरेत् द्वावेवाचरेत् । स खलु एवं यो विद्वान् सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत् । पितरं पुत्रमग्न्युपवीतं कर्म कलत्रं चान्यद-पीह ॥४॥

फिर परमहंस परिव्राजक होने पर पृथ्वी पर आसन डाले और भूमि पर ही सोवे । ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे और मृत्तिका पात्र, तूँबा अथवा काष्ठ का कमण्डलु रखे । काम, क्रोध, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, परनिन्दा, इच्छा, ममता, अहंकार, हर्ष आदि का पूर्ण त्याग करे । वर्षा ऋतु में एक स्थान पर ही निवास करे — विच-

रण न करे । वर्ष में आठ महीने भ्रमण ही करे । एकाकी रहे अथवा एक और साथी बनाले ।४।

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रम्, उदरपात्रं वा । ओं हि ओं हि ओं हीत्येदुपनिषदं विन्यसेत् । यज्ञोपवीतं एवं वेद । पालाशं बैल्वमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ इति ॥५॥

एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनम् इत्युपनिषत् ॥

इस प्रकार जो जानता है वहीं उपनयन संस्कार के पश्चात् अथवा पूर्व ही अपने माता पिता पत्नी उपवीत अग्नि तथा सब कर्मों को भी छोड़ दे । हाथों को पात्र बना कर भिक्षावृत्ति के लिए बस्ती में जाय और 'ॐहि' का तीन बार उच्चारण करे । जो इस उपनिषद् को जानता हुआ उसमें आस्था रखता हैं वही पुरुष ज्ञानी कहा जाता है । पलाश बिल्व पीतल गूलर आदि के दण्ड और मूँज की मेखला और साथ ही उपवीत को भी त्याग देता है और इसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है वही श्रेष्ठ है । भगवान् विष्णु को जो परम-धाम आकाश मे प्रकाशित सूर्य के समान चिन्मय प्रकाश से परमव्योम में व्याप्त है ज्ञानी उपासक उनके सदा दर्शन करते हैं । जो कामना-रहित उपासक साधना में सदा लगे रह कर वहाँ पहुंच जाते हैं वे उस धाम को और भी तेजोमय बना देते हैं । विष्णु का वह परमधाम कामना-शून्य उपासकों को ही मिलता है । इस प्रकार जानने वाला पुरुष उक्त फल को प्राप्त होता है । यही महान् उपनिषद् है ।५।

॥ आरुणिकोपनिषद् समाप्त ॥

# संन्यासोपनिषत्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषद माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदानिराकरणमस्त्वनिराकरणं मे अस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः॥

शान्तिपाठ:—मेरे अङ्ग वृद्धि को प्राप्त हों। वाणी, घ्राण चक्षु श्रोत्र बल और सब इन्द्रियां वृद्धि को प्राप्त हों। सब उपनिषद् ब्रह्म हैं मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो और ब्रह्म मेरा त्याग न करे। ऐसे ब्रह्मारत रहते हुए मुझको उपनिषद् में प्रति पादित धर्म की प्राप्ति हो। ॐशांतिः शान्तिः शान्तिः।

अथातः संन्यासीपनिषदं व्याख्यास्यामः। योऽनुक्रमेण संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति। कोऽयं संन्यास उच्यते। कथं संन्यस्तो भवति। य आत्मानं क्रियाभिः गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यां पुत्रान् बन्धूननुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विजस्तान्सर्वांश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत्। सर्वस्वं दद्यात् यजमानस्य। गा ऋत्विजः। सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहार्यपचने सभ्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान् सर्वेषु समापयेत्। सशिखान्केशान् विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्वा पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्मात्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयेत्। यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेम ध्यात्वानवेक्षमाणः प्राचीनमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत। चतुर्षु वर्णेषु भैक्षाचर्यं चरेत्।

पाणिपात्रेपाशनं कुर्यादौषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नी-यायथालाभमश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशीभूत्वा ग्रामेकरात्रम् नगरे पञ्चरात्रम् चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रासे वापि नगरे वापि वसेत पक्षा वै मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत्। विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृह्णीयात् नान्यत्प्रतिगृह्णीयात् याद्यशक्तो भवति क्लेशतस्तप्यते तप इति। यो वा एवं क्रमेण सन्यदिस्यदि यो वा एवं पश्यति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं वास्योपस्पर्शनमिति। तं होवाच इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानम् विद्या सा शिखा नीरैः सर्वत्राव-स्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्नुदरपात्रेण। जलतीरे निकेतनम्। अस्त-मित आदित्ये कथं चास्योपर्शनमिति।

यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तं न दिवा। तदप्येतदृषि-णोक्तम्। सकृद्दिवा है वास्मै भवति। य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते ॥१॥

हरि ॐ। अब संन्यास उपनिषद् को कहते हैं। क्रमशः संसार त्याग करने वाला संन्यासी होता है। संन्यास किसको करते हैं? संन्यास कैसा होता है? जो आत्मा के लिए क्रियाओं को त्याग देता है, माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भ्राता आदि के अनुमोदन पूर्वक, अपने ऋत्विजों (यज्ञ कराने वाले) को सदैव की भांति प्रणाम करके वैश्वानर यज्ञ को करे। इस अवसर पर यजमान अपना सर्वस्व-दान करदे और ऋत्विज सब सामग्री को पात्रों सहित हवन कर दे। आहव-नीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तीन अग्नियों को सभ्य और आवसस्थ्य को, तथा प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पाँचों वायुओं को आरोपित करे। शिखा सहित सब केशों को मुँड़ा दे, यज्ञोपवीत को तोड़ दे और पुत्र को देखकर इस प्रकार कहे कि तू यज्ञ स्वरूप है, सर्व स्वरूप है। अगर पुत्र न हो तो अपनी आत्मा को ही इस प्रकार का

उपदेश दे और पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ चला जाय। चार वर्ण से भिक्षा ग्रहण करे। हाथ रूपी पात्र में भिक्षा लेकर भोजन करे। भोजन को औषधि के समान करे, अर्थात् केवल प्राण रक्षा की दृष्टि से आहार ले और जो कुछ मिले वही ग्रहण करे, जिससे चर्बी की वृद्धि न हो। इस प्रकार दुबला होकर गाँव में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि तक निवास करे। चातुर्मास ( वर्षाकाल में एक ही ग्राम अथवा नगर में ठहर जाय। अथवा पक्ष ( पखवारा ) को ही मास समझ कर दो महीने तक रहे। फटे वस्त्र या वल्कलवस्त्र काम में लावे, अन्य वस्त्र ग्रहण न करे। इस प्रकार क्लेश सहन करना ही तप है। जो इस प्रकार क्रम से संन्यास करता है उसके लिए यज्ञोपवीत क्या है ? शिखा क्या है ? आचमन कैसा है ? इसका उत्तर यह है कि आत्म-ध्यान ही उसका यज्ञोपवीत है, विद्या उसकी शिखा है, सर्वत्र स्थित जल के लिए उदर ही उसका पात्र है और जलाशय का किनारा उसका निवास स्थान है। इस प्रकार का ब्रह्मवादी होता है। उसके लिए सूर्यास्त होने पर आचमन कैसा है ? इसका उत्तर यह है कि उसके लिये रात तथा दिन समान हैं, न रात होती है न दिन होता है जो इस प्रकार आत्मानुसन्धान में संलग्न रहता है, विद्वानों के मतानुसार उसके लिये सदैव दिन ही है ॥१॥

## ॥ इति प्रथम अध्याय ॥

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टय संपन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥१॥

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः।
स कुर्यात्कृच्छ्रमात्रं तु पुन: संन्यस्तुमर्हति ॥२
संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः।
संन्यासविघ्नकर्ता च त्रीनेतान्पतितान्विदुः ॥३

अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो वधिरोऽर्भको मूकः पाषाण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्ताऽप्येते न संन्यासार्हाः । संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥४॥

आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः ।
क्षयी तथाङ्गविकलो नैव संन्यन्तुमर्हति ॥५
संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा ।
व्रात्यानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥६
व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम् ।
सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत् ।
एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥७

ओ३म् भूः स्वाहेति सिखामुत्पाट्य यज्ञोपवीतम् बहिर्नंनिवसेत् । यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्वा ओं स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं विसृज्य संन्यस्यं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत् ॥८॥

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डलं भित्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ।९
षष्टि कुलान्यतीतानि षड्ढमागामिकानि च ।
कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥१०
ये च सन्तानजा दोषा ये दोषा देहसम्भवा ।
प्रैषाग्निर्निदहेन्सर्वांस्तुषाग्निरिव काञ्चनम् । ११
सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत ॥१२
दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।
पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशाधितम् ॥१३
अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम् ।
नासादघ्न शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद्यति ॥१४

चालीस प्रकार के संस्कारों से युक्त, सबसे पूर्ण विरक्त, चित्त को शुद्ध रखने वाला, आशा, असूया, ईर्षा, अहंकार को भस्म करके चारों साधनों से सम्पन्न ही संन्यासी होता है ॥ १ ॥ जो संन्यास का निश्चय करके फिर उसे ग्रहण न करे तो वह कृच्छ-व्रत करने पर ही फिर से संन्यास ले सकता है ॥ २ ॥ जो संन्यास से पतित हो जाय, जो पतित को संन्यास की दीक्षा दे अथवा जो संन्यास-ग्रहण में विघ्न डाले वे तीनों पतित हैं ॥ ३ ॥ नपुंसक, पतित, अंग-हीन, स्त्रैण ( जनाने स्वभाव वाला ) बधिर, बालक, मूक, पाखण्डी, लिंगी, कुष्ठी वैखानस, ब्राह्मणत्व से पतित, वेतन भोगी अध्यापक, अग्निहोत्र से रहित, नास्तिक और वैरागी संन्यास के योग्य नहीं होते। अगर वे संन्यासी हो भी जायें तो उपदेश देने के अधिकारी नहीं होते ॥ ४ ॥ संन्यास लेकर पतित होने वाला, खराब नाखून वाला, मैले दाँत वाला, पागल, विकलांग ( लूला-लंगड़ा ) को संन्यास नहीं देना चाहिए ॥ ५ ॥ जिसको आकस्मिक वैराग्य हो गया हो, महा-पातकी, व्रात्य ( संस्कारहीन ) और लोक में निन्दित व्यक्तियों को संन्यास नहीं देना चाहिये ॥ ६ । जो व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम, स्वाध्याय से रहित हैं, सत्य और पवित्रता से हीन हैं उनको संन्यास न देवे। ऐसे लोग चाहें तो आतुर-संन्यासी हो सकते हैं पर उनको म-संन्यास ( नियमानुकूल ) का अधिकार नहीं है ॥ ७ ॥ 'ओ३म् भूः, स्वाहा कह कर शिखा को दूर कर दे पर यज्ञोपवीत को रहने दे। 'यज्ञ, बल, ज्ञान, वैराग्य, मेधा को दे' ऐसा कहकर यज्ञोपवीती को छिन्न करदे। 'ओ३म् भूः स्वाहा' कहकर वस्त्र और कटि-सूत्र का जल में त्याग करके 'संन्यस्तमया' इस मन्त्र का तीन बार उच्चारण करे ॥ ८ ॥ संन्यासी और द्विज को देखकर भास्कर अपने स्थान से चलायमान होता है कि 'यह मेरे मण्डल को भेद कर परब्रह्म में जा रहा है' ॥ ९ ॥ जो ज्ञानी 'संन्यस्त' का उच्चारण करता है

( संन्यासी होता है ) वह अपने पीछे की और आगामी साठ-साठ पीढ़ियों को तार देता है ॥१०॥ जो पैतृक दोष हैं और जो अपने शरीर के दोष हों उन सबको यह इस प्रकार जला देता है जैसे तुषाग्नि सुवर्ण के मैल को भस्म कर देती है ।११। 'सखा मेरी रक्षा कर' ऐसा कह कर दण्ड को ग्रहण करे ॥१२॥ दण्ड बाँस का उत्ताम, सीधा बिना गाँठ आदि का हो। वह उत्तम स्थान में उत्पन्न हुआ हो, किसी तरह का दाग धब्बा न हो, गला हुआ न हो, कीड़ों का खाया हुआ न हो, पर्व-ग्रन्थि युक्त न हो। वह लम्बाई में नाक, शिखा या भ्रकुटी तक का हो ॥१३-१४॥

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।
न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥१५

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति कमण्डलु परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथासुखं विहरेत् ॥१६॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृत त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज । १७

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कर्मसंन्यासी चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥१८

तद्यथेति । दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥१६

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्ति सर्वां हेयां मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ।।२०

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥२१

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्याभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥२०॥

संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति ॥२३॥

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधारः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेयोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥२४॥

बहूदकः शिखादिकन्थाधरास्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्व समो मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी ॥२५॥

दण्ड और आत्मा का संयोग सर्वथा उचित है, इसलिए संन्यासी बिना दण्ड के तीन बार वाण फेंकने की दूरी से बाहर न जाय ॥१५॥ "हे माता ! जगत जीवन के आधार मेरे जीवन की रक्षा कर" ऐसा कह कर कमण्डलु को लेकर योग-पट्ट से विभूषित होकर सुख पूर्वक भ्रमण करे ॥१६॥ तब धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य दोनों को त्याग दे। फिर जिसके द्वारा ऐसा या सच झूँठ का त्याग किया जाता है उसे भी त्याग दे ॥१७॥ संन्यासी चार प्रकार के कहे गये हैं—वैराग्य-संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी, ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी और कर्म-संन्यासी ॥१८॥ देखे और सुने हुए विषयों के प्रति तृष्णारहित पूर्व-जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप वैराग्य होने से जिसने संन्यास लिया है वह वैराग्य-संन्यासी है। शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके और दुनियाँ की भली और बुरी बातों का अनुभव और श्रवण करके, प्रपञ्च से उपरान्त होकर, देह वासना, शास्त्र-वासना, लोक वासना को त्याग कर, सब प्रकार की साँसारिक प्रवृत्ति को वमन किये अन्न के समान मान कर, चारों साधनों से युक्त होकर जो संन्यास ग्रहण करता है वह ज्ञान-संन्यासी है ॥२०॥ क्रम से सब का अभ्यास करके, सबका अनुभव प्राप्त करके, ज्ञान और वैराग्य के

तत्त्व को भली प्रकार समझ कर, देह मात्र अवशिष्ट रखकर जो संन्यास लेता है वह ज्ञान-वैराग्य सन्यासी है ॥२१॥ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तीनों आश्रमों का पालन करके वैराग्य न होने पर भी नियमानुसार संन्यास ग्रहण करता है, वह कर्म-संन्यासी है। यह संन्यास छः प्रकार का होता है—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत ॥ २३ ॥ कुटीचक शिखा और यज्ञोपवीत को धारण किये रहता है, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन, चादर, कंथा धारण करने वाला पिता, माता, गुरु की आराधना करने वाला, बटलोई, कुदाली और छींका मात्र रखने वाला, एक ही स्थान पर अन्न ग्रहण करने वाला श्वेत ऊर्ध्व त्रिपुण्ड्र धारण करने वाला और तीन दण्ड धारण करने वाला होता है ॥२४॥ बहूदक शिखा आदि कंथा धारण करने वाला सब प्रकार से कुटीचक के समान मधुकरी वृत्ति वाला होता है, वह केवल आठ ग्रास भोजन ग्रहण करता है ॥२५॥

हंसोजटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यसंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारा ॥२६॥

परमहंस शिखायज्ञापवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येककौपीनधारी शाटीमेकामेक वैष्णवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥२७॥

तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥२८॥

अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवजनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥२९॥

जगत्तावदित्त नाहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।
यद्बाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विभुः ।
कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः ॥३०

हंस जटाधारी, त्रिपुण्ड ऊर्ध्व पुण्ड्रधारी, अनियत स्थान पर मांग

कर खाने वाला और कौपीन मात्र धारण करने वाला होता है ॥ २६ ॥ परमहंस शिखा, यज्ञोपवीत रहित पाँच घरों से हाथ में ही भिक्षा ग्रहण करने वाला एक कौपीन रखने वाला और एक चादर तथा एक दण्ड रखने वाला होता है अथवा भस्म लगाकर एक चादर मात्र धारण करता है और सब कुछ त्याग देता है ॥२७॥ तुरीयातीत सर्वत्यागी गोमुखवृत्ति वाला तीन घरों से फल अथवा अन्न क भिक्षा ग्रहण करने वाला देह मात्र रखने वाला नग्न होता है वह अपने शरीर को मृतकवत् समझकर जीवन-यापन करता है ॥२८॥ अवधूत किसी प्रकार का नियम नहीं रखता पतित और निन्दित के सिवाय सब वर्णों में अजगरवृत्ति से आहार ग्रहण करने वाला होता है । वह अपने स्वरूप के अनुसन्धान में ही संलग्न रहता है कि ये जो वृक्ष घास-पात पर्वत आदि समस्त जगत है, वह मेरे से भिन्न है । जो कुछ बाहर दिखलाई पड़ता है वह अत्यन्त जड़ है, मैं किस प्रकार उसमें से हो सकता हूं क्योंकि मैं विभु हूँ काल से कल्पित और शीघ्र ही लय होने वाला देह मैं नहीं हूँ ॥२९-३०॥

जडया कर्णशष्कुल्या कल्यमानक्षणस्थया ।
शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः ॥३१

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा ।
चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः ॥३२

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया ।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाहमचेतनः ॥३३

दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः ।
केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः ॥३४

नासया गन्धजडता क्षयिण्या परिकल्पितः ।
पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः ॥३५

निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः ।
शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ।
चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः ।।३६

न मैं उस जड शब्द रूप हूं जो क्षण-भर टिकता है, शून्य आकृति और स्वरूप वाला और कल्प हुआ अचेतन है ।।३१।। इस प्रकार थोड़ी देर में ही नाश होने वाली तथा बनने बिगड़ने वाली त्वचा भी मुझसे भिन्न है । मैं वह जड़-स्पर्श नहीं हूं जो चैतन्य के प्रभाव से आत्मा को अनुभव होता है ।।३२।। चंचल मन तथा मन से संयुक्त जिह्वा से द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्द भी मैं नहीं हूं ।।३३।। इसी प्रकार दृश्य और दर्शन के लय हो जाने पर नष्ट हो जाने वाला जड़ अनुभव भी मैं नहीं हूं, मैं तो केवल दृष्टा हूं ।।३४।। गन्ध भी जड़ पदार्थ और नासिका द्वारा परिकल्पित है ऐसी तुच्छ और जड़ गन्ध भी मैं नहीं हूं ।।३५।। इस प्रकार मैं पांच इन्द्रियों के भ्रम से रहित ममता से रहित मनन रहित शान्तस्वरूप कला और मैल से रहित शुद्ध चैतन्य मात्र हूं मैं चैतन्य से भी परे चिन्मात्र प्रकाश वाला हूं ।।३६।।

सबाह्याभ्यन्तरे व्यापि निष्कलोऽहं निरञ्जनः ।
निर्विकल्पचिदाभास एक एवास्मि सर्वगः ।।३७
मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः ।
सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा ।।३८
मयैवैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रितपङ्क्तयः ।
तेजसान्तः प्रकाशेन यथाग्निकणपङ्क्तयः ।।३९
अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी ।
शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ।।४०
सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ।।४१

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया ।
चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया ॥४२
कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्चैत्यबन्धनैः ।
चितश्चैत्यमुपेक्षित्र्याः समतैवावशिष्यते ॥४३
सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् ।
नैरात्म्यसिद्धान्तदशामुपयातेवशिष्यते ॥४४
ईहानीहमयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः ।
सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥४५
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।
धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥४६

मैं बाहर और भीतर व्याप्त रहने वाला निष्कल, निरञ्जन, निर्विकल्प, चिदाभास और सर्वव्यापी एक आत्मा हूं । मुझ एक चैतन्य रूप से ही घट-पट आदि से लेकर सूर्य पर्यन्त दीपक के समान तेजस्वी बनाये जाते हैं । ये सब इन्द्रियों की विचित्र, विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ मेरे अन्तःप्रकाश से ही उत्पन्न होती हैं जैसे अग्नि से चिनगारियाँ प्रकट होती हैं । यह शुद्ध चिन्मय दृष्टि अनन्त आनन्द को उपभोग करने वाली और अत्यन्त शान्ति वाली है, यह अन्य सब दृष्टियों पर जय प्राप्त करने वाली है । यह मुक्त आत्मा सब प्रकार के भावान्तरों में स्थायी रहता है, यह चैत्य अवस्था से भी मुक्त चिदात्मा है । इस प्रत्येक आत्मा को नमस्कार है ॥३७-४१॥ निष्कल और कल्पना रहित चिद्शक्ति से ही इन विचित्र, स्वच्छ और समभावयुक्त शक्तियों को प्रकट किया जाता है । यह चित् शक्ति तीनों काल से अधिक शक्तिशाली, दृश्य जगत के बन्ध से रहित है । वह वाणी से अगम्य है और शाश्वत असत्ता और निरति आत्मा के समान वही शेष रहती है । जो चित् शक्ति इच्छा और अनिच्छा वालों में विद्यमान है वह मलों से घिरी है और पाशबद्ध पक्षिणी के समान उड़ने में असमर्थ होती है । इच्छा और द्वेष से उत्पन्न

द्वन्दभाव के कारण ये प्राणी मोहवश पृथिवीरूपी गढ़े में गिरे हुए कीट-पतंगों के तुल्य ही हैं ।।४२-४६।।

आत्मनेऽस्तु नमस्तुभ्यमविच्छिन्नचिदात्मने ।
परामृष्टोऽस्मि बुद्धिऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम् ।।४७
उद्धृतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तुते ।
तुभ्य मह्यमनन्ताय तुभ्यं मह्यं चिदात्मने ।।४८
नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च ।
तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।४९
सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञयश्चाप्तबन्धुवत् ।
शरीरमब्जकुहरे सर्वेषामेव षट् पदः ।।५०
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न मे भोगविसर्जने ।
यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ।।५१
मनसा मनसि च्छिन्ने निरहंकारतां गते ।
भावेन गलिते भावे स्वस्थतिष्ठामि केवलः ।।५२
निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कं निरीहितम् ।
केवलस्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः ।।५३
तृष्णारज्जुगणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात् ।
न जाने क्व गतोड्डीय निरहंकारपक्षिणा ।।५४
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ।।५५

मुझ अविच्छिन्न चिद्रूप आत्मा को नमस्कार है । मैं सदैव परम प्रत्यक्ष, लब्ध और उदित हूँ । मैं विकल्पों से रहित हूँ, मैं जो हूँ सो हूँ, मुझे नमस्कार है ।।४७।। तू और मैं अनन्त हैं, मैं और तू चिदात्मा हैं, ( दोनों को ) नमस्कार है । मुझ परमेश्वर और मुझ शिव रूप को नमस्कार है ।।४८।। यह ( आत्मा ) बैठता हुआ भी नहीं

बैठता, जाता हुआ भी नहीं जाता, शान्त होता हुआ भी व्यवहाररत है, कार्य करता हुआ भी कभी लिप्त नहीं होता ।।४६।। यह सदैव सुलभ है, आप्त बन्धु की तरह चतुर है और शरीर रूप कमल में भ्रमर की तरह रहता है ।।५०।। न तो मुझे भोग करते रहने की इच्छा है, और न भोग त्यागने की, जो आता हो वह आ जाय और जो जाता हो सो चला जाय ।।५१।। मन से मन के पृथक् हो जाने पर, अहङ्कार के चले जाने पर और भाव द्वारा भाव का नाश हो जाने पर मैं केवल स्वस्थ रूप में स्थित हूँ ।।५२।। भाव रहित, निरङ्कार, मन रहित, चेष्टा रहित, केवल स्पन्द रहित शुद्ध आत्मा रूप हूँ, मेरा शत्रु कहाँ हो सकता है ? ।।५३।। मेरे शरीर रूपी पिंजरे में रहने वाली निरहङ्कार रूपी चिड़िया, तृष्णा रूपी रस्सी को काटकर न जाने कहां उड़ गई ।।५४।। जिसमें अकर्तापन का भाव है, जिसी बुद्धि लिप्त नहीं होती, जो सब भूतों को समान भाव से देखता है, उसी का जीवन प्रशंसनीय है ।।५५।।

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ।।५६
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्जता ।
चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ।।५७
ग्राह्यग्रहाकसम्बन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् ।
स्थतिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनाम्नाभिधीयते ।।५८
भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता ।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ।।५९
पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी ।
आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिस्थेव तिष्ठति ।।६०

जिसका अन्तःकरण शीतल है, जो राग द्वेष से शून्य है, जो जगत को साक्षीभाव से देखता है उसका जीवन धन्य है ।। ५६ ।। जिस

को सम्यक ज्ञान प्राप्त हुआ है, जिसने बुरे-भले का ध्यान छोड़ दिया है, जिसने चित्त को चित्त में ही संलग्न कर दिया है उसका जीवन शोभायमान है।५७। ग्राह और ग्राहक सम्बन्ध नष्ट हो जाने पर शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार की शान्ति ही मोक्ष कही जाती है।५८। भुना हुआ बीज जिस प्रकार अंकुर उत्पन्न करने के योग्य नहीं रहता, इस प्रकार जो जीवन में युक्त हो गये हैं। उनके हृदय की वासना शुद्ध बन जाती है। वह पवित्र परम उदार, शुद्ध सत्व वाले, आत्म ध्यानयुक्त और नित्य रूप में स्थित रहते हैं ॥५९-६०॥

चेतनं चित्तरक्तिं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते।
निर्मनस्कस्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥६१
सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मकी।
सर्वज्ञता सा संतृप्तिर्नंनु यत्र मनः क्षतम् ॥६२
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
निरस्तमनननानन्दः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥६३
मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूलयन्परम्।
आशापाशानलंछित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥६४
अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः।
नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥६५

जब चेतन चित्त-रहित हो जाता है तभी वह आत्मारूप चेतन कहा जाता है, जब स्वभाव मन (इच्छा) रहित हो जाता है तो उसमें दोष उत्पन्न नहीं होते।६१। यही सत्यता है वही शिवरूप है, जिसमें परमात्म अवस्था है। वही सर्वज्ञाता है। वही सम्पूर्ण तृप्ति है, जिसमें मन में कोई छिद्र ( भेद भाव ) नहीं रहता।६२। यद्यपि मैं बोलता, त्यागता, ग्रहण करता, नेत्रों को खोलता और बन्द करता रहता हूँ, पर मैं मनन से युक्त आनन्द रूप सेवित आत्मा ही हूँ।६३। संवेद्य रूपी मल को दूर करके, मन को निर्मूल ( इच्छा रहित ) करके, आशा

के फन्दे को काट कर मैं केवल संवित रूप हूं ।६४। अशुभ और शुभ संकल्पों से रहित होकर मैं निरामय में स्थित हूँ, इष्ट और अनिष्ट के भाव को त्याग कर केवल संवित रूप हो गया हूँ ।।६५।।

आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगस्थितौ ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरीऽस्म्यहम् ।
निर्मलायां निराशायां स्वसवितौ स्थिरतोऽस्म्यहम् ।।६६
ईहितानीहितंर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
कदान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ।।६७
कदोपशान्तमननो धरणीधरकोटरे ।
समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ।।६८
निरशध्यानविश्रान्तमूलकस्य मम मस्तके ।
कदा तर्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ।।६९
संकल्पपादप तृष्णालतं छित्वा मनोवनम् ।
विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ।।७०

राग और द्वेष के भाव को त्यागकर, विभाग रहित जगत में स्थित, अत्यन्त सुदृढ़ आत्मा रूपी स्तम्भ के आश्रय पर मैं स्थित हूं ।६६। मैं अपनी निर्मल और इच्छा रहित आत्म-दशा में स्थित हूं, चेष्टा और अचेष्टा तथा हेय और उपादेय की भावना से मैं मुक्त हो गया हूं ।३७। मैं कब आत्म सन्तोष को प्राप्त हूंगा, कब स्वयं प्रकाश पद में स्थित हूंगा और कब पर्वत की गुफा में बैठ कर शान्त भाव से मनन करूंगा ? ? ।६८। कब मैं निर्विकल्प समाधि लगा कर शिला के तुल्य निश्चल हो जाऊंगा ? कब मैं उस अंश रहित ब्रह्म के ध्यान में ऐसा निश्चल हो जाऊंगा कि कोयलें मेरे मस्तक पर घोंसला बना लेंगी ? संकल्प रूपी पेड़ों तथा तृष्णा रूपी लताओं को काट कर मन रूपी विस्तृत भूमि में सुख पूर्वक विहार करता हूं,और परमपद को प्राप्त करके कैवल्य रूप होकर अपना ही जप करता हूँ ।।६९-७०।।

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जायाम्यहम् ।
निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः ॥७१
स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता ।
आनन्दितोपशमता सदाप्रमुदितोदिता ।
पूर्णतोदारता सत्या कान्तिसत्ता सदेकता ॥७२
इत्येव चिन्तयन्भिक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा ।
निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह ॥७३

आतुरो जीवति चेत्क्रमसन्यासः कर्तव्यः । न शूद्रस्त्रीपतितोदक्यासंभाषणम् । न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनम् । तस्मान्न संन्यासमेकलोकः । आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ । बहूदकस्य स्वर्गलोकः । हंसस्य तपोलोकः । परमहंसस्य सत्यलोकः । तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायत् ॥७४

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमाभारवद्व्यर्थः । योगशास्त्रप्रवृत्तिर्नः सांख्शास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारो नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति, अस्ति चेच्छवालंकारवत् । चर्मकारविद्यादूरः । न परिव्राण्नाससकीर्तनपरः । यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डतैलफेनवत्सर्वं परित्यजेत् । देवताप्रसादग्रहणम् । न बाह्यदेवाभ्यर्चनं कुर्यात् ॥७५

मैं निर्वाण, निरीह, निरंश निरीप्सित को प्राप्त होकर स्वच्छ, वीर्यवान, सत्ताशाली, सत्य ज्ञान रूप हो गया हूं ।७१। आनन्द, उपशम, प्रसन्नता, पूर्ण उदारता, सत्य, अद्वैत आदि की भावना करते हुए संन्यासी को अपने स्वरूप में स्थित रहना चाहिए। निर्विकल्प स्वरूप का ज्ञाता होकर निर्विकल्प बनकर ही रहना चाहिए ।७२ ७३। आतुर-संन्यास लेने वाला जीवित रहे तो उसे क्रम-संन्यास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । शुद्र, स्त्री, पतित और रजस्वला से सम्भाषण

नहीं करना चाहिए। किसी देवता के पूजनोत्सव को देखने न जाय क्योंकि यह लौकिक कार्य संन्यासी का नहीं है। आतुर और कुटीचक का भू और भुवः लोक होता है, बहूदक का स्वर्गलोक, हन्स का तपोलोक और परमहंस का सत्यलोक होता है। तुरियातीत और अवधूत श्रेणी वाले भ्रमर कीट के समान अपने स्वरूप का अनुसन्धान करते हुए कैवल्य में स्थित रहते हैं।७४। संन्यासी के लिए स्वरूपानुसंधान के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों का अभ्यास ऊँट पर केशर लादने के समान व्यर्थ है। संन्यासी के लिए योग की प्रवृत्ति, या सांख्य शास्त्र का अभ्यास या मंत्र-तंत्र का व्यापार आदि किसी शास्त्र की वृत्ति वर्जित है। यदि कोई करता है तो वह मृतक शव पर अलंकारों के समान है और संन्यास के कर्म और विद्या के प्रतिकूल है। संन्यासी को नाम-कीर्तन आदि में भी भाग नहीं लेना चाहिए क्योंकि कोई भी कर्म करने से उसका फल भोगना ही पड़ेगा। उसे एरण्ड ( रेंडी ) तेल के फेन के समान सब को त्याग देना चाहिए। उसे न तो देवता का प्रसाद ग्रहण करना चाहिए और न किसी बाह्य देवता की पूजा करनी चाहिए।७५।

स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्याक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारन्माहरकृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत्। माधूकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा कालं नयेत्। आत्मसमितमाहारमाहरेदात्मवान्यतिः ॥७६

आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥७७

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नकान्नाशी भवेत्क्वचित्।
निरीक्षन्ते त्वनुद्विग्नास्तद्गृह यत्नतो व्रजेत् ॥७८

पञ्चसप्तगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत्क्रियावताम्।
गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्निष्कान्तो न पुनर्व्रजेत् ॥७९

नक्ताद्वरश्चोतवास उपवासदयाचितः ।
अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत् ॥८०

नैव सव्यापसव्येन भिक्षाकाले विशेद्गृहान् ।
नातिक्रामेद्गृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते ॥८१

श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिवहिष्कृतम् ।
व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृते ॥८२

माधूकरमसंक्लप्तं प्राक्प्रणीतमाचितम् ।
तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम् ॥८३

मनःसंकल्परहितांस्त्रीन्गृहान्पञ्च सप्त वा ।
मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमीति स्मृतम् ॥८४

प्रातःकाले च पूर्वेद्युर्यद्भक्तैः प्रार्थितं मुहुः ।
तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि च ॥८५

उसे अपने अतिरिक्त सब को त्याग कर हाथ या मुख से ग्रहण करते हुए मधुकरी वृत्ति पर जीवन निर्वाह करना चाहिये । जिससे शरीर में चरबी न बढ़े और बिहार करते रहना चाहिये । वह हाथ से या मुख से भिक्षा ग्रहण करके समय व्यतीत करे ॥७६॥ दो भाग में आहार करे, एक भाग में जल पीवे और एक भाग वायु के लिए खाली रखे ।७७। सदैव भिक्षावृत्ति ही करे, एक ही घर से लगातार कभी भोजन ग्रहण न करे। जो शान्त भाव से उसकी राह देखते हों उनके यहाँ यत्नपूर्वक जाय ।७८।

क्रियावान (शुद्ध आचार वाले) पाँच सात घरों पर भिक्षा के लिये जाय और गौ के दुहने में जितना समय लगता है, उतनी देर तक प्रतीक्षा करे, जहाँ एक बार हो आया वहाँ दुबारा न जाय। रात के आहार से उपवास श्रेष्ठ है, उपवास की अपेक्षा अयाचित भिक्षा श्रेष्ठ

है, अयाचित से भिक्षा माँग कर खाना श्रेष्ठ है। इसलिए यथासम्भव भिक्षा का ही आश्रय लेवे। भिक्षाकाल में दाँये या बाँये मार्ग से घर में प्रवेश न करे। जिस घर में दोष न हो उसे भूल, या मोह से छोड़ न जाय। यदि श्रोत्रिय (वेदज्ञ) श्रद्धा, भक्ति से रहित हो उसके यहाँ भिक्षा न करे और जो संस्कारहीन (व्रात्य) भी श्रद्धा-भक्ति रखने वाला हो तो उसके यहाँ भिक्षा ग्रहण करले। भिक्षा पाँच प्रकार की कही गई है—असंक्लिप्त माधूकर, प्राक्प्रणीत, अयाचित, तात्कालिक और उत्पन्न। मन में संकल्प किये बिना किन्हीं तीन, पाँच या सात घरों से मधुमक्खी के समान भिक्षा ग्रहण करना असंकल्पित माधूकर है। प्रातः काल अथवा पहले दिन कोई भक्तिपूर्वक प्रार्थना करे तो उसके यहाँ प्राक्प्रणीत भिक्षा की जा सकती हैं।७९-८५।

भिक्षाटनसमुद्योगाद्ये न केन निमन्त्रितम्।
अयाचितं यु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः ॥८६
उपस्थानेन यत्प्राक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत्।
तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिस्तदा ॥८७
सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति।
उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥८८
चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिर्म्लेच्छकुलादपि।
एकान्नं न तु भुञ्जीत वृहस्पति समादपि।
याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत्स्थितिम् ॥८९
न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा।
नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी ॥९०
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
कालेऽपराह्णे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत् ॥९१
अभिशस्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम्।
दर्जयित्वा चरेद्भैक्षं, सर्ववर्णेषु चापदि ॥९२

घृतं श्वमूत्रदृशं मधु स्यात्सुरया समम् ।
तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुनसमितम् ॥९३
माषापूपादि गोमांस क्षीरं मूत्रसमं भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः ॥९४
घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन ।
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत् ॥९५
आस्येन तु यदाहा गोवन्मुगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥९६

भिक्षा के लिए फिरते हुए यदि कोई निमन्त्रित करे तो संन्यासी को उसके यहां अयाचित भिक्षा है। भिक्षा के लिये निकलते समय यदि कोई ब्राह्मण आकर भोजन करने को कहे तो उस तात्कालिक भिक्षा को सदैव ग्रहण कर सकता है। यदि कोई ब्राह्मण मठ में ही तैयार भोजन ले आवे तो उसे मोक्षाभिलाषी साधु उत्पन्न भिक्षा कहते हैं।

अगर आवश्यकता पड़ जाय तो संन्यासी भिक्षा म्लेच्छ के यहाँ से भी मांगले, पर एक ही स्थान पर कभी आहार ग्रहण न करे चाहे वह बृहस्पति के समान पूज्य का घर ही क्यों न हो। उसे सदा याचित अथवा अयाचित भिक्षा द्वारा ही निर्वाह करना उचित है। वायु सब को स्पर्श करता है, अग्नि सब को जलाता है, जल में मल-मूत्र डाल दिया जाता है, पर ये इनके स्पर्श दोष से दूषित नहीं होते। इसी प्रकार संन्यासी अन्न-दोष से दूषित नहीं होता। धुंआ और मूसल के शब्द से रहित, जहाँ आग बुझ चुकी हो और लोग भोजन कर रहे हों, वहाँ दोपहर के पश्चात् भिक्षा करे। आपत्तिकाल में संन्यासी निन्दनीय, पतित और पाखण्डी को छोड़ कर सब वर्णों के यहाँ भिक्षा माँग सकता है। संन्यासी के लिये घी कुत्ते के मूत्र के समान है, शहद शराब के तुल्य है, तेल शूकर मूत्र के समान है, लहसुन युक्त पदार्थ, उड़द के पदार्थ आदि गोमांस के तुल्य हैं, दूध मूत्र के समान है। इसलिए उसे सदैव

घृत आदि से रहित भोजन ही प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिये, घी आदि के पकवान कभी न खाय। संन्यासी के लिये उसका हाथ ही बर्तन है, उसी में सदैव भोजन करे इस प्रकार भोजन करने वाला एक दिन में दूसरी बार भोजन न करे। जो मुनि गौ के समान आहार करता है, वह सब में सम भाव प्राप्त करके अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है ।८६-६६।

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नम् । न देवतार्चनम् । प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत् ॥९७॥

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः।
दिवास्वापो वृथालापो यतीनां पातकानि षट् ॥९८
वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ।
उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह सङ्ग्रहः ॥९९
यतेः सव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते ।
गृहीतस्य तु दंडादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥१००

घी को रुधिर के और एकत्र किये अन्न को मांस के समान त्याग दे, गन्ध लेपन को गन्दी वस्तु के समान, नमक को अन्त्यज के समान, वस्त्र को झूठे बर्तन के समान, तेल की मालिश को स्त्री-प्रसंग के समान, हँसी-मजाक को मूत्र की तरह, घमण्ड को गोमांस के समान, परिचित के घर की भिक्षा को चाण्डाल के समान, स्त्री को सर्पिणी के समान, सुवर्ण को कालकूट के समान, सभा आदि को श्मशानवत्, राजधानी को कुम्भीपाक नर्क के तुल्य, एक ही घर के भोजन को

मृतक पिण्ड के समान समझकर त्याग दे। देव-पूजन न करे। सांसारिक प्रपंच को त्याग कर जीवन्मुक्त बने ।९७। आसन, पात्रलोप, संचय, शिष्य करना, दिन में सोना, व्यर्थ बातें करना ये छः बातें संन्यासी के लिए बन्धनकारी हैं ।९८। वर्षा के अतिरिक्त जो स्थान है वह आसन कहलाता है, संन्यासी के व्यवहार के लिए जो तूंबा आदि बतलाये गये हैं उनके खो जाने पर दूसरे का ले लेना पात्रलोप है, अपना दण्ड खो जाने पर दूसरे का ग्रहण कर लेना परिग्रह है ।१००।

कालन्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः।
शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥१०१
शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः।
विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ॥१०२
विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते।
आध्यात्मिकीं कथा मुक्त्वा भिक्षावार्त्तां विना तथा।
अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥१०३
एकान्नं मदममात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणाम्।
ताम्बुलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगकाङ्क्षा-रसायनम् ॥१०४
कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम्।
क्रिया कर्मविवादश्च गुरुशास्त्रविलङ्घनम् ॥१०५
संधिश्च विग्रहो यान मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम्।
शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम् ॥१०६
विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम्।
त्यक्तं सन्यासयोगेन गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥१०७
गोत्रादिचरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम्।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥१०८
सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान्स्त्रीषु न विश्वसेत्।
सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम् ॥१०९

स्थावरं जङ्गमं वीजं तैजस विषमायुधम् ।
षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ।।११०

आगे के लिए संग्रह करके रखना संचय कहा जाता है। सुश्रूषा, लाभ, पूजा, यश के लिए चेष्टा करना भी परिग्रह है। जो आत्म-कल्याण के लिए करुणापूर्वक आये उसके सिवाय अन्य को शिष्य बनाना शिष्य-संग्रह कहा जाता है। संन्यासी में विद्या दिन का प्रकाश और अविद्या रात्रि समझी जाती है। इसलिये विद्याभ्यास में प्रमाद करना दिन में सोना कहा जाता है। आध्यात्मिक कथा भिक्षा की बात अनुग्रह प्रश्न का उत्तर देने के सिवा और जो बात की जाय वह व्यर्थ का बोलना ( गपशप ) समझा जाता है। घमण्ड और मत्सरता, एकान्न, गन्ध पुष्प, आभूषण, पान खाना, तेल लगाना, क्रीड़ा, भोगाकांक्षा, रसायन, खुशामद, निन्दा, कुशल, प्रश्न, खरीदने बेचने की बातें. क्रिया-कर्म, वाद-विवाद, गुरु के वाक्य का उल्लंघन, सन्धि-विग्रह की बातें, पलङ्ग, श्वेत वस्त्र, वीर्य-त्याग, दिन का सोना, भिक्षा-पात्र स्वर्ण विष शास्त्र जीव हिंसा क्रोध मैथुन—इन सबका संन्यासी पूर्णतः त्याग करे। जो गृहस्थियों के धर्म, व्रत, गोत्रादि के आचार पिता और माता के कुल की सम्पत्ति आदि निषिद्ध माने गये हैं, इनका सेवन करने से नीच गति प्राप्त होती है। वृद्ध हुआ विद्वान् संन्यासी वृद्धा स्त्री का भी विश्वास न करे क्योंकि पुरानी गुदड़ी में पुराना कपड़ा ही लगाया जाता है। स्थावर जङ्गम बीज सुवर्ण विष आयुध इन सब को संन्यासी मूत्र, विष्ठा के तुल्य त्याज्य समझ कर ग्रहण न करे।१०१-११०।

नैवाददीत पाथेयं यतिः किंचिदनापदि ।
पक्वमापत्सु गृह्णीयाद्यावदन्नं न लभ्यते ।।१११
नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावसथे वसेत् ।
परार्थं न प्रतिग्राह्यं न दद्याच्च कथचन ।।११२

दैन्यभावात्तु भूतानां सौभगाय यतिश्चरेद् ।
पक्वं वा यदि वापक्वं याचमानो व्रजेदधः ।।११३
अन्नदानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां प्रतिग्रही ।
आविकं वनाविकं वा तथा पट्टपटानपि ।।११४
प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्पतत्येव न संशयः ।
अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ।।११५

आपत्ति काल के सिवाय मार्ग के लिये संन्यासी को कुछ भी पास में नहीं रखना चाहिए । यदि अन्न न मिले तो पक्वान्न ग्रहण कर सकता है । स्वरूप और युवावस्था वाले संन्यासी को कभी किसी के घर में नहीं रहना चाहिए । दूसरे के लिये न कोई वस्तु लेनी चाहिए और न देनी चाहिए । संन्यासी को अन्य प्राणियों के कल्याणार्थ दीनता का आचरण करना चाहिए, पका हुआ अथवा बिना पका हुआ माँगने से अधोगति को प्राप्त होता है । खाने-पीने का लालच रखने वाला वस्त्र ऊनी कपड़ा अथवा बिना ऊन का कपड़ा रेशमी कपड़ा—इन वस्तुओं के ग्रहण करने से संन्यासी का असन्दिग्ध रूप से पतन होता है । उसे तो अद्वैत रूपी नौका में बैठ जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त होना चाहिए ।१११-११५ ।

वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कायदण्डेत्वभोजनम् ।
मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामोविधीयते ।।११६
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ।।११७
रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते ।
भूमिः शय्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ।।११८
प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुताद्यतिः ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः ।।११९
प्रवृत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी ।

ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरी भाक्त्वमेव च ॥१२०
नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नहि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ॥१२१
सर्वेषामेव पापानां संघाते समुपस्थिते ।
तारं द्वादशसाहस्रमभ्यसेच्छेदनं हि तत् ॥१२२
यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रथवं जपतेऽन्वहम् ।
तस्य द्वादशभिर्मासैः पर ब्रह्म प्रकाशते ॥१२३
इत्युपनिषत् ॥

वाणी के दण्ड के लिये मौन रहे, काया को दण्ड देना हो तो उपवास करे मन को दण्ड देना हो तो प्राणायाम करे । प्राणी कर्मों से बन्धन में पड़ते हैं और विद्या से छुटकारा पाते हैं इसलिए ज्ञानी संन्यासी कर्म से पृथक् रहते हैं । गलियों में बहुत से पुराने वस्त्र मिल जाते हैं और भिक्षा भी सर्व प्राप्त हो जाती है भूमि में चाहे जहाँ सोने की "शैया" प्राप्त हो सकती है सन्यासी को किस बात का दुःख है ? सन्यासी को समस्त प्रपंच ज्ञान की अग्नि में जला देना चाहिए । जो अपनी आत्मा में अग्नि का समारोह करता है वही महाज्ञानी अग्निहोत्री है । मार्जारी और बानरी नाम से दो प्रकार की प्रवृत्ति बतलाई गई है । ज्ञान का अभ्यास करने वालों की मुख्यतः मार्जारी प्रवृत्ति होती है और गौण रूप से बानरी होती है । बिना पूछे कुछ भी न बोले ओर कोई अन्याय का प्रश्न करे तब भी न बोले । ऐसे समय जानता हुआ भी जड़-मूढ़ के समान आचरण करे । अगर किसी तरह का पाप प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय तो बारह हजार तारक मन्त्र का जाप करके उस पाप को काट दे । जो प्रतिदिन बारह हजार प्रणव का जाप करता है उसे बारह महीने के भीतर परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है ।११६-१२३। ऐसा यह उपनिषद् है । हरि ॐ तत्सत् ।

॥ सन्यासोपनिषद् समाप्त ॥

# नारद परिव्राजकोपनिषत्

ॐभद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ।। स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

शांतिपाठ—ॐ हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान् कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति, शाँति शांति ।।

## प्रथमोपदेशः

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचरं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य, चित्त-शुद्धिं प्राप्य, निर्वैरः शान्तः, दान्तः सर्वतो निर्वेदमासाद्य, स्वरूपानुसंधानमनुसंधाय, नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुप-संकीर्णं नैमिशारण्यं पुण्यस्थलमवलोक्य, सरिगमधनिसंज्ञैर्वैरा-ग्यबोधकरैः स्वरविशेषैः प्रापञ्चिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैः स्थाव-रजङ्गमनामकैर्भगवद्भक्ति विशेषैर्नरमृग किम्पुरुषामरकिन्नराप्स-रोगणान्समोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवत्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्त्रयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसंपन्नाः सर्वज्ञास्तपो-

निष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसम्पन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं कृत्वा, नत्वा, यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा, स्वयं सर्वेऽप्युपदिष्टा भो भगवन्ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यम् ।।१

एक समय परिव्राजकों में श्रेष्ठ श्रीनारदजी सब लोकों में भ्रमण कर रहे थे, वे अत्यन्त पुण्य भूमियों और तीर्थ स्थानों में गये तथा उन के पदार्पण से वे स्थान और पवित्र हो गए। उन तीर्थ के दर्शन से उन्होंने स्वयं भी चित्त शुद्धि प्राप्त की। उनका मन अत्यन्त शान्त था, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वश में थीं, वे सब ओर विरक्त थे ओर उनके मन में किसी भी जीव के प्रति द्वेष भाव नहीं था। वे अपने स्वरूप के अनुसन्धान में लगे हुए, विचरण करते-करते नैमिषारण्य में गए। वह तीर्थ संयम नियम से उत्पन्न आनन्द के कारण सब तीर्थों की गणना में विशिष्ट है। उस स्थान पर अनेकों ऋषि मुनि निवास करते हैं। नारदजी ने उस पुण्य भूमि का दर्शन किया और वहाँ उनकी वीणा से वैराग्य का बोध कराने वाले विशेष स्वर झंकृत हो रहे थे। वे सांसारिक चर्चा से अलग रहते हुए श्रेष्ठ प्रभु-कथा में रस लेते थे। उनके गीतों को सुन कर सभी स्थावर-जङ्गम प्राणी आनन्द में निमग्न हो जाते थे। उनका भक्ति-प्रधान संगीत मनुष्य, मृग, देवता, किन्नर, गन्धर्व, अप्सरा आदि को भी आकर्षित कर रहा था। उस समय उस स्थान पर द्वादश वर्षीय सत्र-याग हो रहा था। उस महायज्ञ में देवज्ञ, तपस्वी, ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न शौनक आदि महर्षियों ने भाग लिया था। परम भागवत् देवर्षि नारद का आगमन देख उन सब महर्षियों ने अत्यन्त स्वागत किया। उनके चरणों में मस्तक झुकाकर सत्कारपूर्वक उन्हें एक श्रेष्ठ आसन पर बैठाया। इसके पश्चात् सभी अपने-अपने स्थानों पर बैठ गये। फिर शौनकादि ने उनसे विनम्रता पूर्वक प्रश्न किया—हे देवर्षि नारदजी ! विश्व-पाश से मुक्ति का क्या उपाय है, यह कृपाकर हमारे प्रति कहने का कष्ट करें ?' ।।१।।

इत्युक्तस्तान्स होवाच नारदः । सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकब्रह्मचर्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यम् पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य, चतुर्विधब्रह्मचर्यषड्विधिगार्हस्थ्यं चतुर्विध्यवानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य, तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य, साधनचतुष्टयसम्पन्नः, सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः, संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति । इत्युपनिषत् ॥२॥

इस प्रकार का प्रश्न सुन कर तीनों लोकों में प्रसिद्ध देवर्षि नारद प्रसन्न होते हुए कहने लगे—'ऋषिगण ! श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुये पुरुष का यदि उपनयन न हुआ हो तो सर्व प्रथम विधिवत् उपनयन-संस्कार करना चाहिये । इसके पश्चात् जो गुरु चौवीस संस्कारों से सम्पन्न हों ऐसे गुरु के आश्रम में जाकर रहे । वहाँ गुरु की सेवा करे और अपनी शाखा का अध्ययन करे । फिर सभी विद्याओं का अभ्यास करता हुआ बारह वर्षों तक गुरु की सेवा में लगा रहे । इस अवधि में पूर्ण ब्रह्मचारी रहे । फिर पच्चीस वर्षों तक गृहस्थ धर्म का सेवन करे और पच्चीस वर्षों तक वानप्रस्थी होकर उनके अन्तर्गत नियमों का भले प्रकार पालन करे - ज्ञानीजन चार प्रकार का ब्रह्मचर्य बताते हैं । गार्हस्थ्य छः प्रकार का और वानप्रस्थ्य चार प्रकार का कहा गया है । उन सबका भले प्रकार अभ्यास कर उन-उन आश्रमों के सब कर्मों को अनुष्ठित करे । फिर चारों साधनों से सम्पन्न होकर सम्पूर्ण विश्व से ऊपर उठकर मन, वाणी, कर्म, देह आदि के द्वारा सब प्रकार की आशा का त्याग करे और वासना, एषणा आदि का भी सर्वथा छोड़ दे । फिर किसी के प्रति द्वेष-भाव न रख, मन और इन्द्रियों को वश

करके सन्यास ग्रहण कर ले और संन्यास आश्रम में रहकर अपने अविनाशी रूप का ध्यान करता रहे। इस प्रकार के ध्यान में तन्मय पुरुष देह त्याग के पश्चात् मोक्ष को प्राप्त होता है। यह उपनिषद् है ॥२॥

## द्वितीयोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो भगवन्संन्यासविधिं नो ब्रूहीति । तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं पितामहमुखेनैव ज्ञातमुचितमित्युक्त्वा सत्त्रयागपूर्त्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद्ब्रह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा, यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामह-मुवाच । गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वम् । अतो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यम् । त्वद्विना मदभिमतरहस्य वक्तुं कः समर्थः । किमिति चेत् पारिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समा-धिनिष्ठो भूत्वा संसारार्तिनिवृत्त्यन्वेषण इतिनिश्चित्य नारद-मवलोक्य तमाह पितामहः । पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्य-प्रकारनिरतिशयाकारावलम्बिना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते । तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम् ।

शौनक आदि सभी महर्षियों ने पुनः भगवान् नारदजी से प्रार्थना की—'प्रभो ! संन्यास की विधि हमारे प्रति कहिए ।' नारदजी ने उन सब पर प्रसन्न दृष्टि डाली और कहने लगे—'संन्यास का पूर्ण स्वरूप पितामह ब्रह्माजी के श्रीमुख से ही सुनना श्रेयस्कर होगा ।' इस प्रकार कह कर, सत्रयाग के पूर्ण होने पर उन सब को साथ लेकर वे ब्रह्मलोक में पधारे और ब्रह्म के ध्यान में तन्मय हुये परमेष्ठी ब्रह्माजी को प्रणाम कर स्तुति करने लगे । इसके पश्चात् ब्रह्माजी ने सबको यथायोग्य आसन पर बैठने का आदेश दिया । फिर नारदजी ने ब्रह्माजी से प्रार्थना

की—'ब्रह्मन्' ! आप हमारे गुरु एवं पिता हैं । आप सर्वज्ञ तथा सभी विद्याओं के पूर्ण ज्ञाता हैं । इसलिए मेरे एक अत्यन्त प्रिय रहस्य पर प्रकाश डालने की कृपा करें । आपसे भिन्न ऐसा कोई नहीं जो मेरे इच्छित रहस्य को भले प्रकार समझा सके। यदि आप मेरे अभीष्ट विषय का रहस्य बताने को प्रस्तुत हों तो निवेदन है कि आप संन्यास के स्वरूप और क्रम का यहाँ उपस्थित हम सब के प्रति उपदेश करिए।'

नारदजी द्वारा इस प्रकार की जिज्ञासा किये जाने पर ब्रह्माजी ने सब की ओर देखा और घड़ी के लिए वे समाधिस्थ होकर जन्म-मृत्यु रूप सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने का उपाय सोचने लगे। फिर उन्होंने नेत्र खोलकर नारदजी की ओर पुनः देखकर कहा—

हे नारद ! प्राचीन काल में पुरुष सूक्त में तथा उपनिषदों में कहे गये गूढ़ रहस्य के अनुकूल सर्वश्रेष्ठ दिव्य विग्रहधारी विराट् पुरुष ने मेरे प्रति जो उपदेश किया था, उसी को मैं तुम्हारे प्रति कहता हूँ।'

भो नारद. विधिवदादावनुपनीतोपनयनानन्तरं तत्सत्कुलप्रसूतः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्सम्प्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा, यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य, द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य, पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्, दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचितपञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा; ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदकस्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एक वनस्थो भूत्वा, पुरग्रामप्रवेशनसञ्चारं विहाय, निकिरविरहिततदाश्रितकर्मोचितकृत्यं निर्वर्त्य, दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्यः चत्वारिंशत्संस्कार-

संपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्नः सन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

संन्यास का रूप और क्रम अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है । उसे तुम दत्तचित होकर श्रवण करो । माता-पिता की आज्ञा में चलने वाले श्रेष्ठ कुलोत्पन्न बालक का यदि उपनयन संस्कार न हुआ हो तो सर्व प्रथम उसका उपनयन संस्कार करे । फिर वह बालक अपने माता-पिता के पास से किसी उच्च कुलोत्पन्न सद्गुरु के आश्रम में जाकर रहे । वे गुरु श्रोत्रिये, शास्त्रानुरागी, श्रद्धालु और गुणवान् हों उनकी सेवा में उपस्थित होकर चरणों में नमस्कार कर उन पर अपना अभीष्ट प्रकट करे । फिर उनकी आज्ञा पाकर बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य पूर्वक तथा गुरुसेवा करते हुए सभी विद्याओं का अभ्यास करे । अध्ययन पूर्ण होने पर कुल के अनुरूप किसी श्रेष्ठ कन्या से गुरु की आज्ञा लेकर विवाह कर और पच्चीस वर्षों तक गृहस्थाश्रम का पालन करे । आपनी वंश-वृद्धि के विचार से पुत्रोत्पत्ति कर्म करे । पच्चीस वर्ष बीतने पर वानप्रस्थी हो जाय इस आश्रम में भी पच्चीस वर्ष रहे । तीनों समय स्नान और दिवस के चतुर्थ प्रहर में एक बार भोजन करे । ग्राम या नगर के परिचित मार्गों का त्याग कर अकेला ही वन में निवास करे । बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए चावल आदि एकत्र कर उसी से आश्रम के अनुरूप धर्म-निर्वाह कर देखें सुने लोक-परलोक के भोगों से पूर्ण वैराग्य धारण करले और चालीस संस्कारों से सम्पन्न हो चित्त की सर्वथा शुद्ध करले । आशा, असूया, ईर्ष्या, अहंकार आदि का त्याग कर चार प्रकार के साधनों से सम्पन्न हो जाय । इसके पश्चात् वह सन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है ।१।

## तृतीयोपदेश

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ । भगवन् केन संन्यासः संन्यासाधिकारी वेति । एवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य

पश्चात्संन्यासविधिरुच्यते । अवहितः शृणु । अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः । सन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः । पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥१॥

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा ।
अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥२
षण्डोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी ।
पतितश्च परद्वारी वैखानसपरद्विजौ ॥३
चक्री लिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः ।
द्वित्रिवारेण सन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च ।
एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥४

फिर देवर्षि नारद ने अपने पिता ब्रह्माजी से प्रश्न किया—'भगवन् ! संन्यास ग्रहण कैसे किया जाता है और उसका अधिकारी कौन है, यह बताने की कृपा करिये ?' इस पर ब्रह्माजी ने कहा—संन्यास का अधिकारी कौन है पहिले इस पर ही प्रकाश डालना उचित है। इसके पश्चात् संन्यास की विधि पर प्रकाश डाला जायगा। अंगहीन, नपुमंक, पतित, स्त्रैण, बधिर, मूक, बालक, पाखण्डी, चक्री, लिंगी, वैतनिक अध्यापक, शिपिविष्ट, अयाज्ञिक आदि यदि विरक्त हों तो भी संन्यास के अधिकारी नहीं हैं। यदि वे संन्यास ग्रहण करलें। तो भी उन्हें महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। जो पहले से ही संन्यास आश्रम के अनुकूल आचरण करने वाला है वही उसमें प्रवेश कर सकता है ॥१॥

जो न किसी से डरता है और न किसी को डराता है उसे ही स्मृतियाँ परिव्राजक कहती हैं। पुंसत्वहीन, अंगहीन, नेत्र-हीन, बालक, पातकी, पतित, परस्त्रैण, वैखानहार द्विज, चक्री, लिंगी,

पाखण्डी, शिपिविष्टि और अयाज्ञिक, वेतन भोगी अध्यापक तथा दो-दान बार संन्यासी ले चुकने वाला, यह सभी आतुर-संन्यास वाले हो सकते हैं परन्तु क्रम-संन्यास के योग्य नहीं है ।२-४।

आतुरकालः कथमार्यसंमतः ।
प्राणस्योत्क्रमणसन्नकालस्त्वातुरसंज्ञिकः ।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ।।५
आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम् ।
मन्त्रवृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विविवद्बुधः ।।६
आतुरेऽपि क्रमे वापि प्रैषभेदो न कुत्रचित् ।
न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मंत्रमपेक्षते ।।७
अकर्मं मन्त्ररहितं नातो मन्त्र परित्यजेत् ।
मन्त्रं बिना कर्मं कुर्याद्भिस्मन्याहुतिवद्भवेत् । ८
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरः स्मृतः ।
तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविर्मुने ।।९

आतुर–संन्यास का कौन-सा समय माना गया हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है कि मरण-काल में प्राण निकलने का समय ही आतुर-संन्यास का समय कहा गया है, इसके भिन्न कोई समय ठीक नही है । यदि आतुर सन्यास की प्राप्ति भी ठीक समय पर हो जाय तो उससे मुक्ति हो सकती है । इसे ग्रहण करने वाले विद्वान् पुरुष शास्त्रसम्मत मन्त्रों के पाठःपूर्वक सविधि सब आवश्यक कर्म पूर्ण करके मन्त्र का उच्चारण करता हुआ संन्यास ले । आतुर-सन्यास और क्रम-सन्यास के विधान में कोई भेद नहीं है । क्योंकि कर्म मन्त्र द्वारा ही प्रेरित होता है, प्रत्येक मंत्र किसी न किसी कर्म से सम्बन्धित है । मन्त्र के बिना कोई भी कर्म यथार्थ कर्म नहीं है इसलिए मन्त्र को नहीं छोड़ना चाहिए । मन्त्र के बिना किया हुआ कर्म बुझी हुई राख में छोड़ी जाने वाली आहुति के समान निरर्थक होता है । शास्त्र की विधि के अनुसार वर्णित कर्म के

संक्षेप में करने से आतुर-संन्यास की क्रिया पूर्ण होती है। इसलिए इसमें बारम्बार मन्त्रोच्चार उचित है।५-९।

अहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि।
प्रजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ सन्यसेत् ॥१०
मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथवा जले।
श्रुत्यनुष्टानतार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा।
समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥११
यदा मनसि सजात वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा सन्यासमिच्छन्ति पतितः स्याद्विपर्यये ॥१२
विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत्।
सरागो नरक याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥१३
यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः।
सन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥१४
संसारमेव निःसार दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥१५
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य सन्यसेदिह बुद्धिमान ॥१६

अग्निहोत्री पुरुष यदि अन्य देश में गया हुआ हो और वहाँ जा कर वह विरक्त हो जाय तो जल में प्राजापत्येष्टि कर्म करके संन्यास ग्रहण कर ले। यह प्राजापत्य योग मन से करे अथवा सविधि मन्त्रोच्चारण द्वारा करे अथवा वेदोक्त विधि से कर्मानुष्ठान द्वारा करे, ऐसा करने पर ही संन्यास ले, नहीं तो वह अपने धर्म से गिर जाता है।१०-११।

संन्यास की इच्छा तभी करे जब सभी पदार्थों के प्रति मन में पूर्ण विरक्ति हो जाय। इससे विपरीत आचरण मनुष्य को पतित करने वाला है। वैराग्य होने पर ही संन्यास ले और मन में किंचित् राग भी

रहे तो घर को न त्यागे। जो द्विज मन में राग रहते हुए भी संन्यास ले लेता है, वह अधम नरक को प्राप्त होता है।१२-१३।

जिसकी जिह्वा, उपस्थ, उदर और हाथ आदि इन्द्रियाँ वशवर्ती हों अथवा जो अविवाहित हो, ऐसा ब्रह्मचर्य-सम्पन्न ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करे। जगत को निःसार समझ कर सार वस्तु को पाने की कामना से ज्ञानी पुरुष पूर्ण विरक्त होकर अविवाहित रहते हुए ही संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। कर्म प्रवृत्ति का और ज्ञान संन्यास का प्रमुख लक्षण है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति ज्ञान को लक्ष्य में रखकर ही संन्यास ले।१४-१६।

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥१७
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥१८
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत् ॥
तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥१९
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्।
इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥२०
यस्मिञ्छान्तिः शमः शौचं सत्य संतोष आर्जवम्।
अकिंचनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे भवेत् ॥२१
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥२२
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।
वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥२३
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
ह्रीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥२४
अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि।

प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥२५
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषायन्बहिः ।
शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥२६
प्राणे गते तथा देहः सुखदुःखं न विन्दति ।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥२७

परमतत्व रूप सनातन ब्रह्म का ज्ञान होने पर एक दण्ड धारण करे और यज्ञोपवीत तथा शिखा का भी त्याग कर दे। जो पुरुष परमात्मा में अनुराग तथा उससे भिन्न सब पदार्थों में वैराग्य रखता है, जिसके मन से तीनों ऐषणायें निकल चुकी हैं, वही भिक्षा से प्राप्त अन्न का सेवन करने का अधिकारी है। जैसे साधारण मनुष्य अपनी प्रशंसा और आदर से अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता पिटने पर भी बनी रहे तभी उसे भिक्षु होने का अधिकार है। जो अपने को ही प्रसिद्ध अद्वितीय अक्षर ब्रह्म मानता है, वही भिक्षा का अन्न खाने का अधिकार पाता है। जिसमें शक्ति, शम, दम, शौच, सन्तोष सत्य, सरलता, दम्भ हीनता और असञ्चयवृत्ति हो, वही संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकारी माना गया हैं। मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी के प्रति ईर्ष्या-भाव न रखना संन्यासी का कर्तव्य है। इस प्रकार के कर्मों का आचरण करते हुए एकाग्र मन से उपनिषदों को सुने और ब्रह्मचर्य पालन तथा स्वाध्याय करता हुआ ऋषि ऋण से मुक्त हो। यज्ञानुष्ठान द्वारा देव ऋण को चुकाये और पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से मुक्त होकर संन्यास ले। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ही, विद्या, सत्य, और अक्रोध यह दस लक्षण धर्म के हैं। जो पुरुष भूतकालीन भोगों का चिंतन, वर्तमान काल में प्राप्त भोगों का स्वागत तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करता, वही संन्यास आश्रम में रह सकता है। जो अन्तःकरण में अवस्थित इन्द्रियों को और बाह्याभ्यंतरिक विषयों को मन में स्थान न

देने में समर्थ है, वही संन्यास आश्रम में रहने का अधिकारी है। जैसे प्राण-हीन शरीर को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता वैसे ही प्राणों के वर्तमान रहते जिसे सुख-दुख व्याप्त नहीं करते वह संन्यास-आश्रम में रहने का पूर्ण अधिकारी है।१७-२७।

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥२८
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम्।
रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते ॥२९
विशीर्णान्यमलान्येय चेलानि ग्रथितानि तु।
कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरञ्जितम् ॥३०
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः।
एक एव चिरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥३१
कुटुम्ब पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढं चरेद्यतिः ॥३२

दो लँगोटियाँ, एक गुदड़ी और एक दण्डा यही वस्तुयें संन्यासी संग्रह कर सकता है। इससे अधिक संग्रह नहीं कर सकता। यदि लोभ-वश अधिक वस्तुयें एकत्र करता है तो वह मरने पर रौरव नरक को प्राप्त होकर फिर पशु-पक्षी आदि योनियों में जन्म लेता है। ठण्ड आदि से रक्षा करने के लिए जीर्ण शीर्ण स्वच्छ वस्त्रों को सींकर गुदड़ी बनावे और निर्जन स्थान में जाकर रहे। भगवे वस्त्र पहिने। एक वस्त्र धारण करे या वस्त्रहीन रहे। दृष्टि को इधर-उधर न फिरा कर एक स्थान पर ही रखे। मन में किसी वस्तु की इच्छा उत्पन्न न होने दे। सदा अकेला ही घूमे। वर्षा ऋतु में एक स्थान पर रहे। स्त्री-पुरुष, कुटुम्ब, वेदांग ग्रन्थ, यज्ञ एवं यज्ञोपवीत को सर्वथा त्याग दे। इस प्रकार संन्यासी पुरुष अपनी विशिष्टता बताये बिना ही विचरण करे।२८-३२।

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्निर्ममो भवेत ॥३३
रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृहः ॥३४
दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः ।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नयात ॥३५
इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमुच्छत्यसंशयः ।
संनियम्य तुतान्येव ततः सिद्धि निगच्छति ॥३६
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥३७
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा चभुक्त्वा दृष्ट्वा घ्नात्वा चयो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रिय. ॥३८
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥३९
संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्यैव चाकङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥४०

संन्यासी सबके प्रति ममता को दूर करे । काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दोषों को त्याग दे । राग-द्वेष को मन में न आने दे । सुवर्ण, पाषाण अथवा मृत्तिका को समान ही माने । हिंसा से परे तथा निस्पृह होकर रहे । दम्भ, अहंकार, हिंसा, परमनिन्दा आदि से मुक्त तथा आत्मज्ञान प्राप्त कराने वाले उपयोगी गुणों से सम्पन्न संन्यासी ही मोक्ष का अधिकारी है । इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहने के कारण अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होता है । यदि वे ही इन्द्रियां भले प्रकार वशीभूत हो जाँय तो वह सिद्धिदायिनी होती है । भोगों का उपभोग करने से विषयों की कामनायें कभी शान्त नहीं होतीं, भोग तो

घृत द्वारा अग्नि के अधिक प्रदीप्त होने के समान, उनकी वृद्धि करते हैं। जो पुरुष कठोर या मीठे वचन सुन कर, स्वादिष्ट या कुरुचिपूर्ण भोजन करके, कोमल या कठोर वस्तु को छूकर, सुन्दर अथवा असुन्दर रूप देखकर, सुगन्ध, या दुर्गन्ध सूंघकर न तो प्रसन्न होता है और न ग्लानि का ही अनुभव करता है—सब में समान अनुभूति करता है, वही जितेन्द्रिय समझना चाहिए। जिनके मन वाणी में पवित्रता है, जो सदा दोष रहित हैं, वे ही मनुष्य वेदान्त सुनकर उसका पूरा फल पा सकते हैं। ब्राह्मण सम्मान को विष के समान उद्विग्न करने वाला समझे और अपमान को अमृत के समान उपकारी मान कर उसकी कामना करे।४०।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरित लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ।।४१
अतिवादास्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेम देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ।।४१
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ।।४२
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ।।४४
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।।४५
अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्।
चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ।।४६
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ।।४७
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ।।४८

सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
सा सिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितः ॥४९
सात्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।
स्पृष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी ॥५०
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥५१
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगाञ्छनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥५२
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।
सिद्धमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥५३

अपमान प्राप्त कर मनुष्य सुख पूर्वक सोता, जागता और विचरण करता है और जो उसका अपमान करता है वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है। यह शरीर नाशवान है इसको साथ लेकर किसी के साथ शत्रुता न करे। किसी का अनादर न करे और दूसरों के कठोर वचनों को सहन करले। जो क्रोध करे उसके प्रति क्रोध न करे। जो गाली दे, उसे गाली न देकर अच्छी वाणी से बोले। वाणी,दो नेत्र,दो कान,दोनाक के छिद्र और एकमुख इन सात द्वारों से सम्बन्ध रखने वाली है इसे कभी असत्य कथन में न लगावे जो पुरुष सुख प्राप्ति की इच्छा करे वह आध्यात्मिक विषय में मन लगा, स्थिर भाव से बैठ, किसी से कुछ याचना न करे। मन में किसी प्रकार की कामना उत्पन्न न होने दे। अपने कर्म में किसी अन्य व्यक्ति की सहायता न ले और अकेला ही संसार में विचरण करे। मनुष्य इन्द्रियों को वश मे रखे, राग द्वेष को समाप्त करदे और किसी भी जीव की हिंसा न करे, इससे मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है। यह देह रोगों का घर है, अस्थियां इसमें खम्भों के समान हैं तथा स्नायुओं का जाल डोरियों के समान पुरा हुआ है, इस पर मांस रक्त का पलस्तर हो रहा है और चर्म से मढ़ दिया

गया है। यह सदा मल मूत्र से युक्त रहता है, इसके भीतर दुर्गन्ध भरी हुई है। वृद्धावस्था और शोक से संतप्त रहने से उसमें सदा आतुरता रहती है। वीर्य और रज से इसकी उत्पत्ति हुई है, इसलिए यह रज-स्वल है। यह नित्य भी नहीं है अर्थात् किसी न किसी दिन समाप्त होगा ही। इसमें पञ्चभूतों का सदा डेरा लगा रहता है। इसलिए इसे त्याग देना चाहिए। इस मांस, मज्जा, रक्त, मल मूत्र आदि से निर्मित देह से यदि मूर्ख मनुष्य प्रेम रखता है तो वह नर्क प्रेम से प्रेम करने वाला ही होगा। इस देह में स्थित अहंकार कालसूत्र नरक का मार्ग है वह महावीचि नरक में पहुँचाने के लिए जाल के रूप में बिछा है वही असिपत्र नरक की श्रेणी का है। यही अहं कुत्ते का मांस ग्रहण करने वाली चाण्डालिनी के समान है। इसलिये प्रयत्नपूर्वक इस अहं-भाव को छोड़ दे। कल्याण की इच्छा वाला पुरुष विनाश काल में भी उसका स्पर्श न होने दे। अपने प्रियजनों में पुण्य और शत्रुओं में पाप का त्याग कर स्वयं उनसे कोई सम्बन्ध न रखे। ऐसा साधक ध्यान-योग में लीन रहकर सनातन पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होता है। सम्पूर्ण विषयों में धीरे-धीरे अनासक्त होकर सब द्वन्दों से छुटकारा प्राप्त कर संन्यासी पर ब्रह्म में स्थित होता है। सिद्धि चाहने वाला पुरुष किसी अन्य को साथी न बनावे और अकेला ही विचरण करे। संन्यासी किसी की सिद्धि देखकर अपने साधन का त्याग नहीं करता और न वह सिद्धि से ही हीन होता है ॥४१-५३॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥५४
सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमंडलुः ।
एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत् ॥५५
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेवः मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात उर्ध्व तु नगरायते ॥५६

नगरं न हि कर्तव्यं ग्रामं वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ।।५७
राजवार्त्तादि तेषां स्याद्भिक्षावार्ता परस्परम् ।
स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः ।।५८
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत् ।
दद्यान्नारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः ।।५९
एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभिः ।
मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथंचन ।।६०
कालमेव प्रतीक्षेत यावमायुः समाप्यते ।
नाभिनन्देत मरण नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेवं प्रतीक्षत निर्देशं मृतको यथा ।।६१
अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो वधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ।।६२
इदं मृष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ।।६३
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ।।६४
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ।।६५
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।
चतुर्युगा भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ।।६६
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत् ।
श्रुत्वापि शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ।।६७
सांनिध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।
सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ।।६८
नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तदा ।

मक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत्कदाचन ॥६९
राग द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु ।
षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ॥७०
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेव य ।
दिवास्वाप च यानं च यतीनां पातकानि षट् ॥७१
दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः ।
सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहैतुकीम् ॥७२
न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः ।
न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ॥७३
अपापममठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत् ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥७४
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः ।
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥७५
निर्ममो निरहङ्कारो निरपेक्षो निराशिषः ।
विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशय ॥ इति ॥७६

पीने के लिए कपाल नामक लकड़ी का पात्र, निवास के लिये किसी वृक्ष की मूल, पहनने को जीर्ण शीर्ण वस्त्र सदा एकाकी रहने का स्वभाव तथा सब देहधारियों में समत्व भावना यह जीवन्मुक्त के लक्षण हैं सन्यासी को तो सब का हितैषी होना चाहिए। वह शान्त चित्त से रहता हुआ सदा दण्ड-कमण्डलु धारण करे और केवल आत्मा में ही रमता रहे जब विचरण करे तो सब कुछ त्याग कर अकेला ही जाय। बस्ती में भिक्षा के लिये ही घुसे। संन्यासी का एकाकी रहना इसलिए भी आवश्यक है कि एक से दो होने पर जोड़ा कहा गया है और तीन मिल जाने पर गाँव कहा जाता है और इससे भी अधिक होने पर तो पूरा नगर ही हो गया। इसलिए शास्त्रों में अकेले

संन्यासी को ही भिक्षु कहा है। वह अपने पास किसी को आने का अवसर ही न दे। एक से दो भी न होने दे क्योंकि नगर ग्राम या मिथुन के रूप में रहने वाला संन्यासी अपने धर्म से पतित हो जाता है। कई व्यक्तियों का सम्मिलन होने पर उनमें राजा सेठ आदि का अथवा कहाँ कैसी भिक्षा प्राप्त होती है इस प्रकार की बातें होंगी। फिर विभिन्न वार्ताओं के फलस्वरूप परस्पर स्नेह द्वेष परनिन्दा आदि के भावों की उत्पत्ति होगी। इसीलिए निस्पृहता पूर्वक अकेला रहने की ही शास्त्रों ने आज्ञा दी है। उसे निरर्थक वार्तालाप नहीं करना चाहिए। दूसरों की बात या नमस्कार आदि का उत्तर 'नारायण' कह कर देना चाहिए। एकान्त स्थान में एकाकी रहकर मन वाणी देह और क्रिया द्वारा केवल ब्रह्म का ही ध्यान करे। मृत्यु या जीवन का कभी स्वागत न करे। जब तक मृत्यु काल न आवे तब तक काल की प्रतीक्षा करे। उसे न तो मृत्यु की प्रशंसा करनी चाहिए और न जीवन की। मृत्यु द्वारा अपने स्वामी की आज्ञा के लिए प्रतीक्षा करने के समान साधक पुरुष तो एक मात्र काल की ही प्रतीक्षा करे। नपुंसक के समान अर्थात् काम-भाव से शून्य रह कर अथवा अन्धा लूला बधिर अथवा मुग्ध के समान रहता हुआ पुरुष इन छःओं गुणों के प्राप्त होने पर मुक्ति को प्राप्त होता है। जो भोजन करते हुए स्वाद अस्वाद को नहीं देखता और सत्य बात कहता है उसे जिह्वा रहित कहा जाता है। जो मनुष्य नवजात कन्या षोडशी स्त्री और शतायुष्य वृद्धा को समान भाव से देखता हुआ राग द्वेष आदि के चक्कर में नहीं पड़ता वह षण्ड कहा जाता है। जो साधक मल-मूत्र त्याग के लिये अथवा शिक्षा के लिये ही घूमता है और जो प्रतिदिन एक योजन से अधिक नहीं चलता उसे पंगु कहा गया है। चलते हुए अथवा खड़े रह कर भी जो संन्यासी अपने नेत्रों को चार युग से अधिक दूर देखने के लिये नहीं फैलाता बल्कि झुकाये रहता है वह अन्ध संज्ञक है। जो हित-अहित सुख या दुःख वाली कैसी भी बात हो उसे सुनकर भी न

सुने के समान शान्त रहता है वह बधिर संज्ञक है। विषयों का सामीप्य देह मे शक्ति और इन्द्रियों की स्वस्थता होते हुए भी जो सुप्त की भांति उन विषयों के प्रति अनासक्त रहता है वह मुग्ध कहा जाता है।

संन्यासी पुरुष अपने सम्बन्धियों नट आदि के खेलों जुआ युवती रजस्वला भोज्य पदार्थ इम छः की ओर कभी न देखे। अपनों के प्रति मोह दूसरों के प्रति द्रोह माया-मद राग द्वेष इनसे सदा दूर रहे और मन में कभी इन के सम्बन्ध में विचार न करे। श्वेत वस्त्र पहनना स्त्रियों के सम्बन्ध में बातचीत करना अथवा सोचना इन्द्रियों की लोलुपता दिन में शयन मंच पर बैठना और सवारी पर चलना संन्यासियों के लिए यह छः कर्म पाप ही हैं। जो पुरुष आत्म-चिन्तन की कामना रखता है वह दूर की यात्रा न करने का यत्न करे। मोक्ष की कारणभूता उपनिषद् विद्या का संन्यासी को सदा अभ्यास करना चाहिए। वह अधिक उपवास अथवा अधिक तीर्थ यात्राओं के चक्कर में न पड़े। अधिक विद्याओं का पठन-पाठन भी उसके लिए त्याज्य है। सभाओं में व्याख्यान न दे तथा पाप दुष्टता और कुटिलता-रहित वर्ताव करे। इन्द्रियों को विषयों की ओर से कछुआ द्वारा अपने अंग को समेट लेने के समान ही समेट ले और इन्द्रियों तथा मन के कार्य व्यापारों को नष्ट कर दे। कामना और परिग्रह का त्याग कर हर्ष-शोक के वश में न पड़े। नमस्कार और स्वधा का भी त्याग कर दे। ममता और अहंकार को लेश-मात्र भी स्थान न दे। किसी वस्तु की कामना न करे। सदा एकान्त का सेवन करे। ऐसा सन्यासी जगत के पास से अवश्य छूट जाता है ।।७२-७६।।

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसम्पन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेऽय ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वामुख्यवृत्तिका चेद्ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती व्रतीबवा वा स्नातको वास्नातको वोत्सन्नाग्निश्नग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । तद्धैके प्रजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवंतया करोति । तस्मात् त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एत एव त्रयो धातवो यदुत सत्वंरजस्तम इति ॥७७॥

ययं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥७८

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रे । एषा वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह । आहवनीयादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रत । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वाद्धृत्य तदुदकं प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयं मोक्षदमिति । शिखां यज्ञोपवीतं पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मान्त्रन्तरं विसृज्यैव हरिव्रजत्यात्मवित् । मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैर्विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । एवमेवैतदितिः ॥७६॥

जो गृहस्थ, ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थी कर्म, भक्ति और ज्ञान में युक्त है—प्रमाद को त्याग कर केवल आत्मा के अधीन रहता है, वह वैराग्य के उत्पन्न होने पर संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है । यदि विरक्ति में कुछ न्यूनता हो और आश्रमों की आकांक्षा हो तो ब्रह्मचारी अपने आश्रम की अवधि पूरी कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो फिर वानप्रस्थ हो और इसके पश्चात् संन्यास ग्रहण करले । अथवा गहस्थ आश्रम के पश्चात् ही वैराग्य उत्पन्न होने पर संन्यासी बन जाय ।

ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य रहित, स्नातक अस्नातक, अग्निहोत्री या अग्निहोत्र को त्याग किये हुए अर्थात् किसी भी दशा में हो, उसे जिस समय वैराग्य उत्पन्न हो जाय, उसी समय गृह-त्याग कर संन्यास गृहण कर ले कुछ विद्वान संन्यास आश्रम में प्रवेश करते समय प्राजापत्येष्टि करते हैं, उसे करे चाहे न करे । अथवा केवल आग्नेयी इष्टि ही करे अग्नि ही प्राण हैं, इसलिए साधक इस इष्टि के द्वारा प्राण को पुष्ट करता है । यदि चाहे तो त्रैधातवीया इष्टि को अनुष्ठित करे । इस इष्टि द्वारा सत्त्व, रज, तम इन तीनों धातुओं का हवन करते हैं । विधिपूर्वक इष्टि करके मंत्रोच्चार सहित अग्नि को सूँघे । ('अयं ते अग्नि०' यह मन्त्र है। इसका अर्थ है) 'हे अग्ने ! इस प्राण द्वारा ही तुम्हारा आविर्भाव हुआ है । यह प्राण ही संवत्सर से सम्बन्धित काल है इससे उत्पन्न होने से तुम श्रेष्ठ कान्ति से सुशोभित हो रहे हो । तुम अपने उत्पन्न करने वाले प्राण को जानकर इसमें प्रतिष्ठित होओ । इस प्रकार हमारे प्राण में आत्मसात होकर हमारे ज्ञान-धन की वृद्धि करो ।' अवश्य ही यह प्राण अग्नि के प्रादुर्भाव का कारण है । इसलिए इस मन्त्र में अग्नि और प्राण की एकात्मता प्रतिपादित हुई है ।

आहवनीय अग्नि में से अग्नि ग्रहण करे और उसके द्वारा उपरोक्त इष्टि करने के पश्चात् अग्नि को सूँघे । यदि अग्नि न मिले तो जल में हवन करे और इस प्रकार कहे कि 'सब देवता जल स्वरूप हैं, मैं उनके लिए हवन करता हूँ । यह आहुति उन्हें मिले ।' फिर जल में से थोड़ा जल लेकर आचमन करे। घृतयुक्त जल आरोग्य और मोक्ष का देने वाला है। इसके पश्चात् चोटी, जनेऊ, पिता, पुत्र-स्त्री आदि, कर्म,अध्ययन तथा विभिन्न मन्त्रों के जप को त्याग दे । ऐसा करने पर ही आत्मज्ञानी पुरुष परिव्राजक होता है । त्रैधातवीय मन्त्र मोक्षात्मक हैं, उन्हीं के द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे, ब्रह्म सत्य ज्ञान आदि से युक्त है उसी की उपासना करे ।७७-७९।

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः। कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति। तमाह पितामहः ॥८०॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजेद्बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥८१
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥८२
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्वदर्शनः ॥८३
बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः।
धारणात्तस्त सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥८४
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
तै वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥८५
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥८६
अग्नेरिव शिखा नान्या तस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखेत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥८७
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥८८
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति ॥८९

नारदजी ने ब्रह्मा जी से पूछा—भगवन् ! यज्ञोपवीत का त्याग करने वाला ब्राह्मण कैसे रहेगा ? इस पर ब्रह्माजी ने कहा 'ज्ञानी पुरुष चोटी सहित सब बालों को मुंडावे और यज्ञोपवीत के रूप में ब्राह्मशरीर पर धारण किये सूत्र का त्याग करदे तथा अविनाशी ब्रह्म को सब में सूत्र रूप से व्यापक समझ कर अपने अन्तर में धारण

करे। जो ज्ञान का हेतु हैं, वही सूत्र कहलाता है। इसलिए सूत्र का अर्थ परमपद है। जो उस परमपद रूप सूत्र का ज्ञाता है, वही वेदों का पूर्ण ज्ञाता व्राह्मण है। जैसे सूत्र में मनके पिरोए जाते हैं, वैसे ही उस परमात्मा में यह सम्पूर्ण विश्व पिरोया हुआ है। योग के जानने वाला तत्वदर्शी पुरुष उसी यथार्थ सूत्र को धारण करे। ज्ञानी पुरुष बाह्य सूत्र को त्याग कर ब्रह्मरूप सूत्र को ही ग्रहण करे और योग का आश्रय ले। ऐसा करने वाला ही चेतन है। उस सूत्र को धारण करने के कारण संन्यासी कभी उच्छिष्ट मुँह अथवा अपवित्र नहीं होता। ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत के ज्ञाता जिन संन्यासियों के हृदय में ब्रह्म-सूत्र प्रतिष्ठित है, वही सूत्र के वास्तविक स्वरूप के ज्ञाता तथा सच्चे यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं। संन्यासियों का यज्ञोपवीत और शिखा ज्ञानमय ही होते हैं। ज्ञान को ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं ज्ञान सबसे अधिक पवित्र है। जैसे अग्नि की ज्वाला उसके स्वरूप वाली ही होती है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष की शिक्षा भी ज्ञानमयी होती है। केशमयी शिखा नहीं है। वैदिक कर्म का अधिकारी द्विज ही,कर्म के अङ्ग रूप यज्ञोपवीत को धारण करे। परन्तु ब्रह्मज्ञानियों की मान्यता है कि ज्ञानमयी शिखा तथा ज्ञानात्मक सूत्र धारण करने वाले में भी ब्राह्मणत्व पूर्ण रूप से स्थित रहता है।८०-८६।

तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राडेकशाटी मुण्डोऽपरिग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेत्। अथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा स्वपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सत्कर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुखं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जितः निन्दाहकारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयच्छाद्वेषसुखकामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य, स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वाः स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बहिरमन्यमानः, कस्यापि

वन्दनमकृत्वा न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेत् । यदृच्छालाभसंतुष्टः सुवर्णादीन्न परिग्रहेत । नावाहनं विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथङ् नत्वन्यत्र अनिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूलदेवगृहतृणकूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेषु, वने वा, श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वासः संवर्तकदत्तात्रेयरैवतकदव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालोन्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्त वदाचरस्त्रिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं भूः स्वाहेत्तत्प्सु परित्यज्य ॥९०॥

कटिसूत्रं च कौपीन दण्डं वस्त्रं कमण्डलुम् ।
सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् ॥९१

आत्मानमन्विच्छेत् । यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नःशुद्धमानसःप्राणसंधारणार्थं यथोक्त काले करपात्रेणान्येन वायाचिताहारमाहरन् लाभालाभौ समौ भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठ शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमरकीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य सन्यासेनैव देहत्यागं करोति । स कृतकृत्यो भवति इत्युपनिषत् ॥९२॥

इस तत्व को समझकर ब्राह्मण का कर्त्तव्य है कि संन्यास ग्रहण करले । एक वस्त्र रखे, मस्तक मुँडाले, अपरिग्रह का नियम पालन करे । यदि शरीर में सामर्थ्य न हो तो एक कौपीन धारण करे अन्यथा दिगम्बर रहे । पुत्र, मित्र, स्त्री, छोटे-बड़े सम्बन्धी, भाई-बन्धु आदि का त्याग करके स्वाध्याय और सत्कर्मों में संलग्न रहे । समस्त ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध त्याग दे और कौपीन, दण्ड, अंगाच्छादन आदि सब त्याग कर सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करे । सर्दी-गर्मी सुख-दुःख

निद्रा, मान-अपमान आदि किसी भी बात की किंचत् मात्र चिन्ता न करे। छहों ऊर्मियों से अप्रभावित रहे। निन्दा, अहंकार, मत्सर, गर्व दम्भ, ईर्ष्या, असूया, इच्छा, द्वेष, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि को त्याग कर, अपने शरीर को शव के समान समझ कर, अपनी आत्मा के अतिरिक्त बाहर-भीतर की किसी वस्तु को मान कर, न तो किसी की वन्दना करे, न यज्ञ और श्राद्ध करे और न किसी की निन्दा-स्तुति से प्रयोजन रखे। अकेला स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करता हुआ जो कुछ स्वमेव मिल जाय उसी से सन्तुष्ट रहे, किसी प्रकार का द्रव्य संग्रह न करे। आवाहन और विसर्जन से पृथक् रहे, न मन्त्र ले और न छोड़े, ध्यान, लक्ष्य, अलक्ष्य, सम्मिलन, पृथकता आदि की ओर ध्यान न दे। न एक स्थान पर रहने का आग्रह करे, न जाने का। अपना घर या आश्रम कोई न हो। सदा स्थिर मति रहे। सूना घर, वृक्ष-मूल, देव मन्दिर, झोंपड़ी, कुलालशाला, अग्निहोत्र का स्थान, नदी तट या कछार, भूगृह, गुफा, झरना, चबूतरा, वन जहाँ कहीं भी स्थान मिल जाय वहीं रहे। जिस प्रकार श्वेतकेतु, ऋभु, निदाघ, दुर्वासा, संवर्तक, दत्तात्रेय, रवतक आदि परमहंस बिना किसी चिह्न के रहे वैसे ही रहे और जान बूझकर बालक, उन्मत्त, पिशाच की भी चेष्टा करे जिससे कोई पहचान न सके। दण्ड, झोली, पात्र कमण्डलु, कटि सूत्र, कौपीन आदि सब 'भूः स्वाहा' कह कर जल में विसर्जन कर दे।६०।

'कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र, कमण्डलु इन सबको जल में डाल कर नग्न होकर विचरण करे'।६१।

आत्मा का अनुसंधान करे और सब प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करता हुआ दिगम्बर होकर विचरण करे। पास में कुछ भी न रखे। सदैव ब्रह्म-मार्ग पर ही स्थित रहे, मन को शुद्ध रखे और प्राण-रक्षा के लिये जो भोजन, जल आदि अपने आप प्राप्त हो जाय उसे हाथ रूप

पात्र से ही ग्रहण करे । लाभ हानि का ध्यान छोड़कर ममतारहित बन जाय, आत्मध्यान में ही निरत रहे, सदा अध्यात्म चिन्तन करता रहे और पाप-पुण्य के कर्मों को निर्मूल करके आत्मा से ही सम्बन्ध रखे। अपने को ब्रह्मस्वरूप समझ केवल ब्रह्म का ही चिन्तन करे । तीनों शरीरों के प्रति अहम्भाव को त्याग और संसार से सर्वथा नाता तोड़ कर ही वह देहत्याग करे । इस प्रकार आचरण वाला संन्यासी कृत-कृत्य होता है ॥६॥

## चतुर्थोपदेश:

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च ।
आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥१
नामगोत्रादिवरण देश कालं श्रुतं कुलम् ।
वयो व्रतं व्रतं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥२
न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत् ।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखिदामपि ॥३
एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामजरतो यतेः ।
चित्त विक्रियतेऽवश्य तद्विकारात्प्रणश्यति ॥४
तृष्णा क्रोधोऽनत माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये ।
शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः परिग्रहः ॥५
अहकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् ।
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधगराशिषः ।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥६
आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।
समानन च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥७
प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत् ।
प्रेरयेद्वा तया भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥८
ज्जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।

श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमोहौ त्यजेद्यतिः ॥९
अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम् ॥१०
अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः ।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥११
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः ।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥१२

जो संन्यासी लोक, वेद, विषयों के भोग और इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर आत्म स्थित रहता है वह परमगति को पाता है । संन्यासी अपने नाम गोत्र-कुल देश, काल, अवस्था, शील, व्रत, शास्त्र-ज्ञान आदि के सम्बन्ध में किसी से वार्ता न करे । किसी स्त्री से बात न करे । पूर्व परिचित स्त्री का स्मरण न करे । स्त्रियों के चित्रों को भी न देखे तथा स्त्रियों से सम्बन्धित चर्चा न सुने । क्योंकि स्त्री सम्बन्धी चर्चा, उनका स्मरण, चित्तावलोकन तथा संभाषण आदि से मन में विकार की उत्पत्ति होती है और वह उसकी योग-भ्रष्टता का कारण होता है । संन्यासियों के लिए मोह-ममता, माया, लोभ, तृष्णा, क्रोध, असत्य, राग, अहङ्कार, कामना, सग्रह, व्याख्यान, शिल्प, चिकित्सा-व्यवसाय, परगृह निवास, प्रायश्चित, औषधि वितरण, मंत्र प्रयोग, विष-प्रयोग, धर्मार्थ साहसिक कार्य, आशीर्वाद देना आदि कर्म निषिद्ध है । जो ऐसा करता है वह अपने धर्म से पतित होता है । मुमुक्षु संन्यासी अपने किसी सुहृद जन का भी स्वागत, सम्मान न करे और न उसे अपने पास ठहरावे । किसी का दिया हुआ दान न ले । किसी दूसरे को भी न दिलावे । किसी को दान देने या लेने की भी प्रेरणा न करे । अपने स्त्री-पुरुष आदि किसी भी प्रियजन के शुभ या अशुभ समाचार को देख सुन कर कभी विचलित न हो, हर्ष-शोक का सर्वथा त्याग करे । अहिंसा-भाव, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह,

अदैन्य, शान्ति, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेहाभाव, गुरु-सेवा, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, मनोनिग्रह, उदासीनता, धीरता, मधुरता, सहन-शीलता करुणा, लज्जा, धारणा, स्वल्पाहार और ज्ञान-विज्ञान परायणता—संन्यासी के लिए यह सभी धर्मरूप से पालनीय हैं ॥१२॥

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः ।
तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥१३
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।
सर्वाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥१४
द्विरात्रं न वसेद्ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥१५
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्मानिकेतनः ।
पर्यटेत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥१६
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥१७
शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन् ।
पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥१८
न रात्रौ न च मध्याह्ने संध्ययोर्नैव पर्यटन् ।
न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च ॥१९
एकरात्रं वसेद्ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् ।
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥२०
आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम ।
अन्धवज्जडवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥२१
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः ।
हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥२२

सत्वगुणयुक्त, समदृष्टि, द्वन्द्वातीत, तुरीयाश्रम में अवस्थित परमहंस संन्यासी नारायण का साक्षात् स्वरूप है। ग्राम में एक रात्रि और नगर में पांच रात्रियों से अधिक निवास न करे, परन्तु वर्षाऋतु में यह नियम नहीं है। वर्षा ऋतु में चातुर्मास निवास एक स्थान पर ही करे। गाँव में दो-रात्रि रहना भिक्षु के लिए वर्जित है, क्योंकि अधिक रहने से रोग आदि की उत्पत्ति सम्भव है, जिसके कारण नरक की प्राप्ति हो सकती है। गांव के एक किनारे निर्जन स्थान में ही रहे और मन-इन्द्रियों को नियन्त्रित रखे। किसी भी स्थान पर अपने लिए मठ या आश्रम न बनावे। आठ महीनों तक संन्यासी कीड़े के समान भ्रमण करता रहे। केवल वर्षा के चार मास ही एक स्थान पर काटे। एक वस्त्र पहिने या उसका भी त्याग करदे। अपनी दृष्टि को चंचल न होने दे। वह एक ओर ही रहे। वह श्रेष्ठ पुरुषों के मार्ग को कलङ्कित न होने देने के लिए विषयों में सर्वथा अनासक्त रहे और ध्यान परायण होकर ही पृथिवी पर भ्रमण करे। अपने धर्म में रत रह कर पवित्र स्थान पर निवास करे। वह सदा नीचे की ओर देखे। रात्रि में, मध्याह्न में तथा दोनों सन्ध्या कालों में विचरण न करे और शून्य, दुर्गम तथा प्राणियों के लिए बाधा उपस्थित करने वाले स्थानों पर भी न घूमे। ग्राम में एक रात्रि, पुरवे में दो रात्रि, कस्बे में तीन रात्रि और नगर में पांच रात्रि से अधिक न ठहरे। वर्षाकाल में पवित्र और जल वाले स्थान पर निवास करे। समस्त भूतों को अपने समान देखे। अन्ध, बधिर, मूक, जड़, एवं पागल के समान सब बाह्य दृश्यों से अनजान बन कर पृथिवी पर भ्रमण करे। बहूदक और वनस्थ-यती तीन समय स्नान करते हैं परन्तु हंस के लिए एक समय ही स्नान करने का आदेश है। हंस से ऊँची परमहंस स्थित में तो स्नान आदि का कोई बन्धन ही नहीं रहता ॥१३-२२॥

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकन्तशीलता।
निःस्पृहत्वं च सप्तेतान्येकदण्डिनाम् ॥२३

परमहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः ।
अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥२४

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोऽस्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥२५

क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः ।
क्व चाङ्गशोभासौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥२६

मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥२७

स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥२८

चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम् ।
ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम् ॥२९

न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः ।
निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥३०

मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः ।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥३१

लिंगे सत्यपि खल्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम् ।
निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥३२

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं न वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥३३

तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मव्रतमनुव्रतम् ।
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥३४

संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥३५

तं दृष्ट्वा शान्तमानसं स्पृहयन्ति दिवौकसः ।
लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ।।इति।।३६

एक दण्ड रखने वाले संन्यासियों के लिए मौन, योग, आसन, एकान्त-सेवन, तितिक्षा, निस्पृहता और समता यह सात नियम पालन करने आवश्यक हैं। जो साधक परमहंस रूप स्थिति में अवस्थित है, उसके लिए स्नानादि कर्म अनिवार्य न होने से केवल चित्त वृत्तियों का त्याग ही श्रेयस्कर है। मांस, रक्त, चर्म, नाड़ी, मेद, मज्जा, अस्थि आदि से निर्मित शरीर में रमण करने वाले मनुष्यों और मल-मूत्र आदि में निवास करने वाले कीड़ों में ही क्या अन्तर रहता है? यह शरीर तो कफ आदि घृणोत्पादक वस्तुओं का भण्डार है। कहां ऐसा यह शरीर और कहां सुन्दरता, कमनीयता तथा अङ्ग की शोभा? फिर भी मनुष्य घृणित पदार्थों के भण्डार रूप इस देह से प्रेम करता है, उसका प्रेम नरक में भी होगा ही। स्त्रियों के न कहने योग्य अङ्गों और सड़े हुए नाड़ीव्रण में कोई अन्तर न होने पर भी मनुष्य अपने मानसिक भ्रम के कारण ही ठगा हुआ है। स्त्रियों का अंग दुर्गन्ध से भरा हुआ है। उसमें रहने वाले मनुष्यों को नमस्कार है। क्योंकि यह तो घोर दुःसाहस ही है। संन्यासी को तो न कोई चिह्न धारण करना चाहिए और न कोई करने योग्य कर्म ही उसके लिय शेष रहता है। वह तो भय-रहित, ममता-रहित, द्वंद्व-रहित, वर्ण-रहित, शान्त एवं भोजन सामग्री के उपार्जन की चेष्टा से दूर रहता है। उसे नग्नावस्था में अथवा एक कौपिन में रह कर ही ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार ज्ञानवृत्ति में लगा हुआ योगी ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। संन्यास में भी ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। विभिन्न चिन्हों का धारण करना, ज्ञान के न होने पर तो नितान्त निरर्थक ही है। ब्रह्मज्ञानी वही है जिसके साधु, असाधु, मूर्ख या विद्वान् होने की बात कोई नहीं जानता। इसलिए सन्यासी किसी चिह्न विशेष को धारण न कर अपने धर्म को

जानता हुआ केवल ब्रह्म के चिन्तन में ही रत रहे । वह गूढ़ धर्म का आश्रय लेकर इस प्रकार रहे कि उसके योग सम्बन्धी आचरण की बात लोगों पर प्रकट न हो वह सभी के लिए सन्देहात्मक बना रहे और वर्णाश्रम से परे रहता हुआ, अन्ध, बधिर, वक के समान पृथ्वी पर घूमे । ऐसे शान्त मन वाले संन्यासी का दर्शन करने वाले देवता भी उसी के समान आचरण करने की इच्छा किया करते हैं । जब आत्माभाव से भिन्न किसी वस्तु का अस्तित्व मन में न रहे, तब कैवल्य की प्राप्ति होती है । यही ब्रह्मतत्व विषयक उपदेश है ।२३-३६।

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ । पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रप्रायश्चित्तवैकामष्टश्राद्धं कुर्यात् देवर्षिदिव्यमनुष्यभूतपितृमात्रात्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात् । प्रथमं सत्यवसुसज्ञकान्विश्वान्देवान्, देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्, ऋषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन्, दिव्यश्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्, मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमारसनत्सुजातान्, भूतश्राद्धं पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूतग्रामान् पितृश्राद्धे पितृआत्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहान्, जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति । सर्वत्र युग्मक्लृप्त्या ब्राह्मणानर्चयेत् । एकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषुवा एक एकदिन वा पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य, पिण्डप्रदानानि निर्वर्त्य-दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा, शेषकर्मसिद्धयर्थं सप्तकेशान्विसृज्य शेषकर्मसिद्धयर्थं केशान्सप्ताष्ट वा द्विजः संक्षिप्य वापयेत्केशश्मश्रुनखानि चेति सप्तकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा, सायंसन्ध्यावन्दनं निर्वर्त्य, सहस्र-

गायत्रीं जप्त्वा, ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य, स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य, स्वशाखापसंहरणं कृत्वा, तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वाहुतिविधिं समाप्य, आत्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वा आचमनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य, स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा, पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा, चतुर्थयामान्ते स्नात्वा, तदग्नौ चरुं श्रपयित्वा, पुरुषसूक्तेनान्नं षोडशाहुतीर्हुत्वा, विरजाहोमं कृत्वा अथाचम्य, सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णं पात्रं धेनुं दत्त्वा, समाप्य, ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा,

स मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः ।
सं मायमग्निः सिञ्चावायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा ।।" इति ।।

या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मानम् ।
अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि ।।
यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिम् ।
जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि ।।"

इत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य; ध्यात्वाग्निं, प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्वास्य, प्रातः संध्यामुपास्य, सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा, नाभिदघ्नोदकमुपविश्य अष्टदिक्पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युद्वासनं कृत्वा, सावित्रीं व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा,

"अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ।।'

"यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् ।।"

"शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां

भूरि विश्रवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः। श्रुतं मे गोपाय ।।"

"दायेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थितोऽहम्" "ओं भूः संन्यस्तं मया" "ओं भुव संन्यस्तं मया" "ओं सुवः संन्यस्तं मया" "ओंभूर्भुवःसुवः संन्यस्त मया" "इति मन्द्रमध्यतारध्वनिभिर्मनसा वाचोच्चार्य:"अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहा इत्यनेन जल प्राश्य. प्राश्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिप्य ओं स्वाहा" इति शिखामुत्पाटच

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्र यक्षोपवीत बलमस्तु तेजः ।।
यज्ञोपवीतं बहिर्ननिवसेत् त्वमन्तःप्रविश्य मध्ये ह्यजस्रम् ।

परमं पवित्रं यशो बल ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ ।।

इति यज्ञोपवीत छित्वा उदकाञ्जलिना सह ओं भूः समुद्र गच्छ स्वाहा इत्यप्सु जुहुयात् । ओं भूः संन्यस्त मया ओं भुवः संन्यस्तं मया ओं सुवः संन्यस्तं मया इति त्रिरुक्त्वा त्रिवारमभिमन्त्र्य तज्जल प्राश्याचम्य ओं भूः स्वाहा इत्युप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य सर्वकर्मनिवर्तकोऽहमिति स्मृत्वा जातरूपधरो भूत्वा स्वरूपानुसंधानपूर्वकमूर्ध्वबाहुरुदीचीं गच्छेत् ।।३७।।

इसके पश्चात् नारदजी ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया— भगवन् ! संन्यास की विधि बताने की कृपा कीजिए ।' इस पर ब्रह्मा जी कहने लगे–'आतुर संन्यास या क्रम-संन्यास ग्रहण करने के लिए प्रथम प्रायश्चित के रूप में कृच्छ्र आदि व्रत करे । फिर देवता, ऋषि, दिव्य मनुष्य, भूत, पितर, माता और आत्मा इन आठों के लिए अष्ट श्राद्ध करे । प्रथम 'सत्य' और 'वसु' नामक विश्वेदेवों को आहूत कर

फिर देव श्राद्ध में ब्रह्मा, विष्णु, महेश का आह्वान करे। ऋषि श्राद्ध में देवर्षि, राजर्षि, मनुष्य ऋषियों को बुलावें। दिव्य श्राद्ध में अष्टावसु, एकादश रुद्र और द्वादश आदित्यों को बुलावे। मानव-श्राद्ध में सनक, सनन्दन, सनतकुमार तथा सनत्सुजात का आह्वान करे। भूत-श्राद्ध में पृथ्वी आदि पंचभूतों, नेत्र आदि इन्द्रियों तथा जरायुक्त आदि चार प्रकार के प्राणियों को आहूत करे। पितृ-श्राद्ध में पिता, पितामह, प्रपितामह का और मातृ-श्राद्ध में माता, पितामही का आह्वान करे एवं आत्म-श्राद्ध में अपना, पिता का और पितामह का श्राद्ध करे। परन्तु पिता जीवित हों तो उनका श्राद्ध न कर अपना पितामह का और प्रपितामह का करे। अष्ट श्राद्ध को एक ही अनुष्ठान का अंग बसावे और दो-दो के क्रम से ब्राह्मणों को निमन्त्रण देकर उनका पूजन करे। यदि आठ श्राद्धों का पृथक् पृथक् अनुष्ठान करे तो अपनी शाखा के मन्त्रों द्वारा आठ दिन या एक दिन में ही अनुष्ठान पूरा करे। पितृयाग की विधि के अनुसार, ब्राह्मण पूजन, भोजन आदि सब मर्म-सविधि पूर्ण करके पिण्डदान दे। फिर दक्षिणा और ताम्बूल देकर ब्राह्मणों को सन्तुष्ट कर विदा करे। शेष कर्म की पूर्ति के निमित्त सात् आठ बालों को रख कर मुँड़वा दे और दाड़ी, मूँछ, नख का भी त्याग करे। आँख और उपस्थ के केशों को न कटावे और कर्म के अनन्तर स्नान करे और सायं सध्या के समय एक हजार गायत्री मन्त्र का जाप करे। फिर ब्रह्मयाग करके पृथक् अग्नि-स्थापन करे। इसके अनन्तर अपनी शाखा का उपसंहार का आज्य भाग तक घृताहुति दे। हवन पूर्ण होने पर सत्तू के तीन ग्रास भक्षण करे और आचमन करके, अग्नि में ईंधन आदि रख कर अग्नि के उत्तर की ओर कृष्ण मृगचर्म पर बैठे और पुराणादि की ज्ञानयुक्त कथा-वार्त्ता सुनते हुए रात्रि-जागरण करे। तथा रात्रि के चतुर्थ पहर में स्नान कर उसी अग्नि में चरु का पाक करे और पुरुष सूक्त के षोडश मन्त्रों के द्वारा चरु की सोलह आहुतियाँ

अग्निस्थ करे और विरजा होम कर, आचमन, दक्षिणा, वस्त्र, सुवर्ण, पात्र और गोदान करे फिर ब्रह्मा को विसर्जित कर अग्नि के अधिदैविक रूप को अपने आत्मा में प्रतिष्ठित करे । फिर अग्नि का ध्यान, प्रदक्षिणा और नमस्कार कर उसे अग्निशाला में विसर्जित करे । फिर प्रातः सन्ध्या में सहस्र गायत्री जप और सूर्योपस्थान करे । फिर नाभि तक जल में घुस कर आठों दिक्पालों को अर्घ्य दे । इसके अनन्तर गायत्री को विसर्जित कर सावित्री का व्याहृतियों में प्रवेश करावे ।

## प्रार्थना के मन्त्र

इस प्रकार वाणी द्वारा मंद, मध्यम एवं उच्चस्वर अथवा मन ही मन मंत्रोच्चारण कर 'अभय०' आदि मन्त्र से आचमन करे और पूर्व दिशा की ओर अंजलि भर कर जल छोड़े और 'ॐ स्वाहा' कहते हुए शिखा के शेष बालों को उखाड़ डाले । फिर 'यज्ञोपवीत०' आदि मन्त्रोच्चारण करते हुए यज्ञोपवीत को तोड़ दे और उसे जल की अन्जलि के साथ जल में डाल दे । फिर 'ॐ भूः संन्यस्ततं०' आदि के तीन बार उच्चारणपूर्वक जल को अभिमन्त्रित कर उसका आचमन करले । फिर 'ॐ भूः स्वाहा' कह कर वस्त्र और कटिसूत्र को जल में छोड़ दे और यह सोचे कि 'मैंने कर्मों का त्याग किया है' तथा नग्न होकर आत्मरूप के चिंतनपूर्वक भुजा ऊपर की ओर उठाये हुए उत्तर की ओर गमन करे ।।३७।।

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेत् । गुरोः प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्तो व्यतिरिक्त, इति फलपत्रोदकाहारः, पर्वतवनदेवतालयेतु संचरेत् । संन्सस्याथ दिगम्बरः सफलसचारकं सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मातिदूरलाभः प्राणधारणपरायणः फलरसत्वक्त्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेद्देहं स्मारस्तारकम् ।।२८।।

यदि विद्वान संन्यासी हो तो गुरु से प्रणव अथवा महावाक्य का उपदेश ग्रहण करे और सब को आत्मरूप मानकर आनन्द सहित विचरण करे। पर्वत, वन, देव, मन्दिर आदि स्थानों में ठहरे तथा फल, पत्र और जल का आहार करे। संन्यास लेकर दिगम्बर हो तो केवल आत्मानुभूति को ही हृदय में स्थान दे। कर्मों से परे रहना ही कल्याण कारी समझे। फलों का रस, छिलके, पत्र, मूल और जल के आहार से प्राण धारण करे। मोक्ष की कामना करता हुआ संन्यासी पर्वत की गुफा में ओंकार का जप तथा ब्रह्म का चिंतन करते हुए ही अपने देह का त्याग करे ॥३८॥

विविदिषासंन्यासो चेच्छतपतं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैः 'तिष्ठ तिष्ठ महाभाग, दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण, प्रणवमहावाक्य-ग्रेहणार्थं गुरुनिकटमागच्छेत्' इत्याचार्योदण्डकटिसूत्रकोपीनं शाटी-मेकां कमण्डलुम, पादादिस्तकप्रमाणव्रण सम सौम्यमकाकपृष्ठ सलक्षणं वैणवदण्डमेकमाचनपूर्वंकम् ।

"सखा मा गोपायौजः सखा योऽसोन्द्रस्यं व्रज्त्रोऽसि वार्त्र घ्नः शर्म मे भव यत्पाप तन्निवारय ॥"

इति दण्डं परिग्रहेत् 'जगज्जीवनं जोवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्य' इति प्रणवपूर्वाकं कमण्डलुं परिगृह्य, कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्' इवि 'गुह्याच्छादक कौपीनमोम्' इति शीतवातोष्णत्राणकर देहेअरक्षण वस्त्रमोम्, इति कटि-सतकौपीनवस्त्रम्, आचमनपूर्वंक योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा, कृतार्थोऽहमिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेत् । इत्युपनिषत् ॥३९॥

ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से ही यदि संन्यास ग्रहण किया हो तो सौ पग जाने पर ही आचार्य आदि द्वारा बुलाये जाने और दण्ड, कमडलु, वस्त्र ग्रहण करने की आज्ञा देने तथा प्रणव आदि का

उपदेश सुनने को आमंत्रित किये जाने पर उनके निकट पहुंचे और आचार्य द्वारा दिये गए दण्ड, कमण्डलु, कौपीन, कटिसूत्र, चादर आदि को ग्रहण करे। दण्ड बाँस का हो, पाँव से मस्तक तक ऊँचा, छिद्र-रहित, चिकना एवं श्रेष्ठ हो। वह काले रंग का न हो। इन वस्तुओं को ग्रहण कर आचमन करे। फिर 'सखा मा०' के उच्चारण पूर्वक दण्ड हाथ में ले और 'जगज्जीवनं०' के साथ प्रणव का उच्चारण कर कमण्लु ले। फिर कटिसूत्र और कौपीन धारण तथा वस्त्र ग्रहण-कार्य भी मन्त्रोच्चारण पूर्वक ही करे। फिर पुनः आचमन कर योगपट्ट से अभिषिक्त हो अपने को कृतार्थ हुआ मान कर संन्यास आश्रम के उपयुक्त आचरण करे।

## पञ्चमोपदेशः

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ। भगवन् सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते। ततः पितामह उवाच। शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यावस्थाः सन्ति। तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्तदनुकूलाचाराः सन्ति। तथैव चेद्भगवन् संन्यासाः कतिभेदास्तदनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्वतोऽस्माक वक्तुमर्हसीति। तथेत्यङ्गीकृत्य तं पितामहेन ॥१॥

इसके पश्चात् नारदजी ने अपने पिता श्री ब्रह्माजी से प्रश्न किया—'भगवन्! आप संन्यासाश्रम को सब कार्यों से निवृत्ति कारक कहते हैं और फिर अपने आश्रम के उपयुक्त आचार पालन की बात भी कही है। इस सम्बन्ध में समाधान करने की कृपा करें।' इस पर ब्रह्माजी कहने लगे—'देहधारी प्राणी की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय यह चार अवस्थाएँ हैं। इन्हीं अवस्थाओं में कर्म, ज्ञान और वैराग्य का प्रवतन होता है। सभी जीव इन चार अवस्थाओं के आश्रय में रहते

हुए अवस्था के अनुकूल ही आचरण करते हैं। संन्यासी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ के द्वारा सेवनीय और स्मार्त कर्मों का ही निवर्तन करता है। परन्तु संन्यास आश्रम के अनुकूल श्रवण, मनन निदिध्यासन आदि का त्याग नहीं कर सकता। इसी दृष्टि से संन्यासाश्रम के अनुकूल आचरण की बात कही गई है।'

नारदजी बोले—'भगवन्! अब संन्यास के भेदों पर प्रकाश डालिए और यह भी बताइये कि उनके अनुष्ठान में कैसा अन्तर है? ॥१॥

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत्—तत्त्वतस्त्वेक एव संन्यासो अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मलोपत श्च त्रैविध्यमेत्य, वैराग्य-संन्यासः ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसन्यासश्चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥२॥

तद्यथेति। दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्य-कर्मवशान्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥३॥

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्यप्रपञ्चोपरतः क्रोधे-र्ष्यासूयाहङ्काराभिमानात्मोकसर्वसंसारं निर्वर्त्य दारैषणाधनेषणा-लोकैषणात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्राकृतियं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥४॥

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपा-नुसंधानेन जातरूपधरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥५॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्सति स कर्मसंन्यासी ॥६॥

ब्रह्मचर्येण सन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्य-सन्यासी। विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी। विविदिषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥७॥

ब्रह्म जी बोले—सन्यासी के अन्तर से आचरण में क्या अन्तर पड़ता है, इसकी बात कहता हूं । यथार्थ में सन्यासी एक ही प्रकार का है । परन्तु अज्ञान के कारण, असमर्थ होने के कारण अथवा कर्म के लोप होने के कराण इसके अनेक रूप हो गए हैं । वैराग्य-संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास और कर्म-संन्यास इन चार भेदों में संन्यासी की विभक्ति हुई है । वैराग्य-संन्यास उसे होता है जो मन में दूषित भावनाओं का अभाव होने पर विषयों में अनासक्त होकर पूर्व जन्म के सत्कर्मों की प्रवृत्ति के कारण विरक्त हो जाता और संन्यास ग्रहण कर लेता है । ज्ञान संन्यास उसे होता है जो शास्त्र-ज्ञान के कारण अथवा अनुभव से विश्व प्रपञ्च के प्रति स्वभाव से ही विरक्त हो गया हो । क्रोध, ईर्ष्या, असूया, और अहङ्कारयुक्त विश्व को अपने मन से दूर कर स्त्री, धन, ख्याति की कामना से मुक्त हो गया हो तथा जिससे देहात्मक, शास्त्रात्मक और लोकात्मक वासनाओं का त्याग कर दिया हो । उच्छिष्ट को त्याज्य समझने के समान ही जिसने भोगों को सर्वथा त्याज्य मान लिया हो, वही ज्ञान-संन्यासी है । ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी वह है जो सब शास्त्र में अभ्यस्त होकर और सब का अनुभव प्राप्त करके ज्ञान-वैराग्य के द्वारा आत्म स्वरूप के ध्यान में रत रहते हुए दिगम्बर रूप में रहता है । कर्म-संन्यासी वह कहा जाता है जिसका साधक ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर गृहस्थाश्रम का भी पालन कर लेने पर, वानप्रस्थ से संन्यासी ग्रहण कर लेता है । ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही संन्यास लेकर जो दिगम्बर हो जाता है वह वैराग्य-संन्यासी है । विद्वत्संन्यासी को ज्ञान-संन्यासी और विविदिषा संन्यासी को कर्म-संन्यासी कहा गया है ।७।

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविध- निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति। निमित्तस्त्वातुरः अनिमित्तः क्रमसंन्यासः । आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः स निमित्तसंन्यासः ।

दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य ॥८-९॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥१०॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्य क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिमितसंन्यासः ॥११॥

संन्यासः षड्विधो भवति, कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसस्तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥१२

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपरः एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥१२।

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥१३

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥१४॥

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥१५॥

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥१६॥

अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः ॥१७॥

कर्म संन्यासीभी निमित्त संन्यास और अनिमित्त सन्यास के भेद से दो प्रकार का है । आतुर संन्यास ही निमित्त संन्यास है और क्रम-संन्यास अनिमित्त संन्यास माना गया है ? रोग आदि के कारण

जिसमें सभी कर्म लुप्त हो जाते हैं तथा प्राण-त्याग के समान जो संन्यासावस्था स्वीकार की जाती है वही निमित्त संन्यास है। देह बलवान है और साधक यह धारण करता है कि सभी उत्पन्न पदार्थ, नाशवान् हैं और इस प्रकार शरीर को भी त्याज्य मान लेता है। "परमात्मा आकाशचारी हंस और अन्तरिक्षचारी वसु है, वही वेदी में प्रतिष्ठित अग्नि है और वही होता है। वही गृहस्थों के अतिथि रूप से निवास करता है। मनुष्यों में उसका अस्तित्व है। श्रेष्ठ वस्तुओं और सत्य में वह अवस्थित है। आकाश में भी वह है। जल से, पृथ्वी और वाणी से तथा पर्वत से भी प्रकट होता है। तथा इन सब से भिन्न और विलक्षण रूप वही एक परम सत्य है।

इस प्रकार जो पुरुष केवल परब्रह्म को ही सत्य मानकर ब्रह्म के अतिरिक्त सब पदार्थों को नाशवान् मानता है और क्रम-पूर्वक संन्यासी आश्रम में जाता है तब वह अनिमित्त संन्यासी कहा जाता है। वैसे कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत, अवधूत इन भेदों से छः प्रकार संन्यासी कहे हैं। कुटीचक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत का त्याग नहीं करता। दंड, कमण्डलु, कौपीन तथा कन्था धारण करता और माता, पिता, गुरु की सेवा में लगा रहता है। वह पिठर, खनित्र, झोली आदि साथ रखता तथा मन्त्र-सिद्धि में लगा रहता है वह श्वेत ऊर्ध्व-पुण्ड और त्रिदण्ड धारण करता तथा एक ही स्थान पर ही भोजन करता है। बहूदक भी कुटीचक के समान होते हैं। शिखा, यज्ञोपवीत आदि धारण करते और त्रिपुण्ड लगाते हैं। वे सब के प्रति समान भाव रखते हुए अनेक घरों से रोटी माँग कर केवल आठ ग्रास खाते हैं। हंस संज्ञक संन्यासी जटाधारी होते हैं। वे ऊर्ध्व त्रिपुण्ड धारण करते, कौपीन काछते और तूँबी साथ रखते हैं। परमहंस शिखा-सूत्र नहीं रखते, पाँच घरों से अन्न माँग कर प्रत्येक रात्रि में भोजन करते हैं। पात्र के स्थान पर

हाथ को ही काम में लेते हैं इसलिए उन्हें करपात्री भी कहते हैं। वे एक कोपीन, एक ओढ़ने का वस्त्र और बाँस का दण्ड धारण करते हैं। यदि वह कुछ ओढ़नी नहीं तो भस्म रमा लेते हैं। वे सब वस्तुओं का त्याग कर देते हैं। तुरीयातीत संन्यासी गौ के समान दैवेच्छा से जो कुछ मिल जाय, उसी से निर्वाह करते हैं। वह किसी से कुछ मांगते नहीं। प्रायः फल का आहार करते हैं। अन्नाहार करे तो केवल तीन घरों से अन्न लाते हैं। वे देह के सिवाय और कुछ भी पास नहीं रखते। वे दिगम्बर रहते हुए अपनी इन्द्रियों को मृतकों के समान चेष्टाहीन बना लेते हैं। अवधूत किसी प्रकार के बन्धन को नहीं मानते। कलंकित और पतित मनुष्यों को छोड़कर बिना किसी वर्ण भेद के अजगर वृत्ति से अन्न ग्रहण करते तथा आत्म-चिंतन में लगे रहते हैं।८-१७।

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः ॥१८॥
कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत्कुटीचकानां संन्यासविधिः ॥१९॥

परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः सर्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः। दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेन्न कन्थालशः नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किंचित्। प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि। बहूञ्छब्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा, पाण्यादिना संभाषणं, नान्यभाषाविशेषेण, न शूद्र स्त्रीपतितोदक्यासंभाषणम्, न यतेर्देवपूजानुत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥२०॥

आतुर व्यक्ति संन्यास ग्रहण करने पर मृत्यु को प्राप्त न हो तो

उसे विधिवत् क्रम-संन्यास ग्रहण कर लेना श्रेयस्कर है। कुटीचक, बहूदक, हंस इन तीन प्रकार के संन्यासियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के क्रम से ही चतुर्थाश्रम का विधान है। परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत संन्यास वालों के लिए कटिसूत्र, दण्ड, कमण्डलु, वस्त्र आदि रखने की आवश्यकता नहीं है। वे दिगम्बर रहते हुए सभी वर्णों के घर से भिक्षा माँगने में स्वतन्त्र हैं। संन्यास ग्रहण करने के समय 'मैंने जितना अध्ययन किया है, वह पर्याप्त है' ऐसा निश्चय जब तक न हो, तब तक अध्ययन करना उचित है। इसके पश्चात् ही कौपीन, कटिसूत्र आदि को जल में विसर्जित कर दे। दिगम्बर हो तो कन्था न रखे, अध्ययन न करे, प्रवचन-कथा आदि न सुने और व्याख्यान आदि भी न दे,। तर्कशास्त्र, शब्दशास्त्र कुछ भी पढ़ने की आवश्यकता नही। केवल प्रणव ही जपना चाहिए। वाणी का व्यर्थ अपव्यय करना निरर्थक है। सकेत से बात करना भी निषिद्ध है। शूद्र, पतित एवं स्त्री से बात न करे। राजस्वला स्त्री से तो भूल कर भी बात नहीं करनी चाहिए। उत्सव देखना, तीर्थयात्रा करना अथवा देव-पूजन आदि भी यति के लिए अनावश्यक हैं।१८-२०।

पुनर्यतिविशेषः कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा, बहूदकस्यार्सं-कलृप्तमाधूकरम्, हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकवलम्; परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रम्. फलाहारो गोमुख तुरीयातीतस्य. अवधूतस्याजगर-वृत्तिः सार्ववर्णिकषु। यतिर्नैकरात्रं वसेत्। नैकस्यापि नमेत्। तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्टः। यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः। हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानाधि-रूढ़ो न क्रयविक्रयपरो न किंचिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृ-तवादो। न यतेः किंचित्कर्तव्यमस्ति। अस्ति चेत्सांकर्यम्। तस्मान्मननादौ संन्यासिनामधिकारः।।२१।।

अब संन्यासी के कुछ विशिष्ट नियमों पर प्रकाश डाला जाता

है। एक स्थान पर कुटीचक संन्यासी ही भिक्षा ग्रहण करे। बहूदक संन्यासी अनिश्चित घरों में जाकर भोजन प्राप्त करे। हंस संन्यासी आठ घरों से एक-एक ग्रास अन्न ले और केवल आठ ग्रास ही अन्न खाय। परमहंस को पांच घरों से अन्न ग्रहण करना चाहिए। उसके पास कोई पात्र नहीं होता,हाथ ही पात्र है। तुरीयातीत संन्यासी गौ के समान जो कुछ मिल जाय, उसी में सतोष कर लेता है, वैसे ही जो कुछ भगवत इच्छा से प्राप्त हो जाय उसे ग्रहण करके ही सन्तोष कर ले। अवधूत संन्यासी अजगर वृत्ति से अन्न प्राप्त करे। संन्यासी किसी के घर में एक रात्रि भी निवास न करे, किसी को नमस्कार भी न करे। तुरीयातीत और अवधूत में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। अवस्था में बड़ा होने पर भी वह समान है। जिसे अपने रूप का ज्ञान नहीं, वह बड़ा हो तो भी छोटा है। संन्यासी को तैर कर नदी पार करना, वृक्ष पर चढ़ना, यात्रा में सवारी का उपयोग करना, क्रय-विक्रय या अदला-बदली करना, अहंकार रत रहना, असत्य भाषण करना, आदि सब का निषेध है। उन्हें तो केवल मनन करना ही श्रेयस्कर है।२१।

आतुरकुटीचकयोर्भूलोकभुवर्लोकौ. वहूदकस्य स्वर्गलोको. हंसस्य तपोलोकः. परमहंसस्य सत्यलोकः तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूप नुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥२२॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ॥२३

आतुर एवं कुटीचक संज्ञक संन्यासी भूलोक और भुवर्लोक को प्राप्त होते हैं। बहूदक स्वर्ग और हंस तपोलोक को प्राप्त होता है। परम हंस सत्यलोक पाता है। तुरीयातीत और अवधूत अपने आत्मा में कैवल्य प्राप्ति का अधिकारी होता है। भ्रमर-चिंतक कीट के समान आत्मरूप का ध्यान करने वाले वे दोनों प्रकार के संन्यासी स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं। मनुष्य अपने अन्तिम काल में जिस भाव का चिंतन

करता है, वह उसी रूप को प्राप्त होता है। श्रुति का यह उपदेश यथार्थ ही है ॥२२-२३॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्। तदाचारवशात्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य जाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः। अवस्थाभेदादवस्थेश्वरभेदः। कार्यभेदात्कारणभेदः। तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम्। वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति। तत्तद्वृत्तिव्यापारभेदेने पृथगाचारभेदः ॥२४॥

इस प्रकार जान लेने वाला संन्यासी आत्मरूप का ध्यान छोड़कर किसी अन्य विषय में प्रवृत्त न हो। विभिन्न आचरणों का पालन करने से नहीं के अनुसार लोकों को प्राप्त होना होता है। जो ज्ञान-वैराग के सम्पन्न संन्यासी है उसकी मुक्ति स्वयं में ही होती है। अपने आचरण से भिन्न किसी आचरण का पालन करने में न भटकना ही श्रेयस्कर है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में उसका समान रूप रहता है। उसी को जाग्रतावस्था में विश्व कहते हैं, स्वप्नावस्था में वही तैजस् और सुषुप्ति में प्राज्ञ कहा जाता है। अवस्थाओं के भेद से ही साधक में भी विभिन्न भेद होते हैं। कार्यभेद ही कारण-भेद है। चौदह करणों वाली बाह्याभ्यांतरिक वृत्तियों का कारण एक ही है। मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त यह चारों भीतरी वृत्तियां कही गई हैं। सब वृत्तियों के स्वभावनुकूल ही आचरण में भेद उत्पन्न हो जाता है ॥२४॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥२५॥

तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थायामपि यादृगवस्था भवति। स जीवन्मुक्त इति वदन्ति। सर्वश्रुत्यर्थप्रतिपादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति। भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षः। यद्यपेक्षास्ति चेत् तदनुरूपो भवति। स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैः उष्ट्रकुङ्कुमभारबद्व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति चेच्छावालंकारवत्। चर्मकारवदतिविदूरकर्माचारविद्यादूरः। न प्रणवकीर्तनपरः। यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवदतः सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद्भिक्षुः। बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न काङ्क्षेत, कालमेवप्रतीक्षेत-निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राडिति ॥२६॥

जाग्रतावस्था में विश्व नेत्र में स्थित है। स्वप्नावस्था में तैजस् कंठ में स्थित है और सुषुप्तावस्था में प्राज्ञ हृदय में स्थित है। तुरीय मस्तक में स्थित है। 'जाग्रत आदि अवस्थाओं को प्रकाशित करने वाला तुरीयस्वरूप अक्षर-ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार जानने वाला पुरुष जाग्रत अवस्था में भी सुषुप्तावस्था का आचरण करता है और सभी सुनी देखी वस्तुओं को सुनी न देखी के समान मानता है। वह अपनी स्वप्नावस्था में भी तद्रूप बना रहता है। ऐसे ही पुरुष को ज्ञानियों ने जीवन्मुक्त कहा है। सभी श्रुतियां उसकी मुक्ति का ही प्रतिपादन करती हैं। सन्यासी को इस लोक के विषयों की तो इच्छा नहीं ही रहती, वह परलोक के विषयों की भी कामना का त्याग कर देता है। यदि उनकी कामना शेष हो तो उसे अपनी कामना के अनुसार ही बनना होता है। अपने रूप के चिंतन को त्याग कर अन्य शास्त्रों का अभ्यास करना ऊँट की पीठ पर लदे हुए केसर के गट्ठे के समान ही निरर्थक समझना

चाहिये । उसे न तो योगशास्त्र में प्रवृत्त होना चाहिये और न सांख्य शास्त्र में। मन्त्र-तंत्र में पड़ना भी उसके लिए निषिद्ध है । अन्य शास्त्रों में संन्यासी की प्रवृत्ति मृतक पर धारण किये जाने वाले आभूषणों के समान माननी चाहिये । चर्मकार के समान दूर रहता हुआ कर्म विद्या तथा आचार आदि से परे ही रहना चाहिये । उच्चस्वर से प्रणव का उच्चारण भी नहीं करना चाहिये । मनुष्य को अपने किये कर्म का परिणाम प्राप्त करना होता है इसलिये सभी कर्मों का उसी प्रकार त्याग करदे जिस प्रकार रेंडी के तेल में आए हुए झाग निःसार होने से त्याग दिये जाते हैं । संन्यासी को आत्मचिंतन ही परम लक्ष्य है। दिगम्बर संन्यासी आदर्श के अनुरूप ही आचरण करे । वह बालक, पागल या पिशाच के समान जीवन या मरण की कामना न करे। जैसे भृत्य अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही अपना कर्त्तव्य समझता है वैसे ही 'काल आने पर चल देंगे' इस प्रकार इच्छा-अनिच्छा न रखे।२५-२६।

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।
भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ।।२७

न दण्डधारणेन न मुण्डनेन ।
न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ।।२८

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ।
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञिकान् ।।२९

प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठासमा गीता महर्षिभिः ।
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ।।३०

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत् ।
परेच्छा च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ।।३१

स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः ।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥३२
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्र स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥३३
अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैस्को यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥३४

संन्यासी के लिये तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणों का पालन उचित है। जो इन गुणों को छोड़कर केवल भिक्षा-वृत्ति से पेट पालता है, वह संन्यास वृत्ति को नष्ट करने वाला है। केवल सिर मुँडाने, दण्ड धारण आदि से मुक्ति प्राप्त नहीं होती। दण्डी तो वही है जिसके पास ज्ञान रूप दण्ड है। मनमें सब इच्छाएँ जाग्रत हैं, ज्ञान का अभाव है और काठ का दण्ड धारण कर रखा है, ऐसा आडम्बर करने वाला मनुष्य घोर नरक का अधिकारी होता है। ऋषिगण प्रतिष्ठा को शूकरी के मल के समान घृणित कहते हैं। इस लिए संन्यासी का कर्त्तव्य है कि वह सर्वप्रथम इस प्रतिष्ठा का ही त्याग करे और कीट की भाँति निरभिमान विचरे। दिगम्बर संन्यासी किसी से कुछ न माँगे, स्वतः ही जो प्राप्त हो उसी से निर्वाह करे। वह दूसरे के कहने पर ही स्थान तथा वस्त्र धारण करे जो सन्यासी स्वप्न में जाग्रत के समान अधिक सतर्क रहकर वैसी ही चेष्टा करता है वह ब्रह्मज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ होता है। भिक्षा प्राप्त न होने पर दुःख न हो और प्राप्त होने पर प्रसन्नता का अनुभव न करे। जीवन-निर्वाह हो सके, उतनी ही भिक्षा ग्रहण करे। सम्मान प्राप्ति के प्रति उदासीन रहे। क्योंकि मानापमानयुक्त शब्दों में आसक्त होने वाला संन्यासी मुक्त होकर भी बन्धन में फँस जाता है।२७-३४।

प्राणयात्रनिमित्तं च व्यंगारे भुक्तवज्जने ।
काले प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद्गृहान् ॥३५

पाणिपात्रं चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत् ।
तिष्ठन्भुज्याच्चरन्भुज्यान्मध्ये नाचमनं तथा ॥३६

अब्धीव धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः ।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥३७

आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥३८

अनिन्द्यं वै व्रजन्गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत् ।
अनावृते विशेद्द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ॥३९

पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥४०

संन्यासी को उत्तम वर्ण के गृहस्थों के घरों से ही भिक्षा लेनी चाहिए। जब चूल्हे की अग्नि शान्त हो ले और सब भोजन करलें तभी भिक्षाटन करे। भिक्षा केवल जीवन-निर्वाह के निमित्त ही माँगनी चाहिये। जो संन्यासी अपने हाथ को ही पात्र मानकर विचरण करते हैं वे बारम्बार भिक्षा न माँगें। एक बार में जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसे खड़े-खड़े या चलते-चलते ही खा लेना चाहिए। हाथ का भोजन समाप्त होने पर ही जल पीवे। संन्यासी समुद्र के समान मर्यादित रहे। वे महान् आशय वाले होते हैं और सूर्य जैसे निश्चित मार्ग पर चलते हैं, वैसे ही नियत मार्ग का पालन करें। जब वह गोमुख के समान आचरण करने लगता है तब वह सभी प्राणियों को समान रूप से मानता है। उस समय वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। निंदित घरों से भिक्षा न ले। अनिंदित एवं सद्गृहस्थों से ही भिक्षा ग्रहण करे। जिस घर के किवाड़ बन्द हों, उस घर में न जाय। धूल भरे निर्जन घर में ही ठहरे अथवा वृक्ष की जड़ पर निवास करे। संन्यासी को भली-बुरी सभी भावनाओं का त्याग कर देना चाहिये।३५-४०।

तत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः।
यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥४१
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः।
कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥४२
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥४३
निर्मानिश्चनहंकारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥४४
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः।
काले प्राप्ते भवेद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥४५
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्
अज्ञातचर्यां लिप्सेत य चैनं हर्ष आविशेत्।
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवगिचरेन्महीम् ॥४६

जहाँ सूर्य डूब जाय, उसी स्थान पर सोवे। अपने लिए गृह आदि न बनावे और न अग्नि ही रखे। जो कुछ मिल जाय, उसी को खाकर सन्तोष करे, मन और इन्द्रियों पर सदा नियंत्रण रखे। गृह-त्याग कर बन में रहे। इन्द्रियों का संयम रखे और ज्ञान से परिपूर्ण रहता हुआ विचरण करे तथा काली की प्रतीक्षा करे। ऐसा संन्यासी अवश्य ब्रह्मभाव को पाता है। जो सब प्राणियों को अभय देता हुआ घूमता है, वह किसी प्राणी से कभी भय को प्राप्त नहीं होता है, जो प्रतिष्ठा और अहंकार को छोड़कर द्वन्द्व से परे हो जाता है और मन के सब सन्देहों को दूर कर, क्रोधि-रहित, द्वेष-रहित असत्य-भाषण से शून्य होता हुआ श्रेष्ठ स्थानों में भ्रमण करता और जो मिले उसी पर सन्तोष कर अहिंसा का पूर्ण पालन करता है, वह संन्यासी ब्रह्मभाव की प्राप्ति का पूर्ण अधिकारी होता है। संन्यासी को वानप्रस्थ और गृहस्थ से संसर्ग नहीं रखना चाहिये। अपनी जीवनचर्या को यथा सम्भव गुप्त

रखे। वह कभी हर्षावेश में न पड़े। कीड़े के समान शान्त रहे और सूर्य द्वारा प्रकाशित मार्ग पर विचरण करे।४१-४६।

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च।
लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥४७
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥४८
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥४९
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत्।
कविर्मूकवदात्मानं तद्दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥५०
न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥५१
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥५२
बुधो बालकवत्क्रीडः कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्यां नैगमश्चरेत ॥५३
क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा।
ताडितः संनिरुद्धो व वृत्त्या वा परितापितः ॥५४
विष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥५५
संमाननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विंदति ॥५६
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।
जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥५७
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनः कायकर्मभिः।
युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥५८

कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राङ् भयवर्जितः ।।५८

संन्यासी का कर्त्तव्य है कि कामना हिंसा और सांसारिक पदार्थों के संग्रह मोह आदि से सम्बन्धित जितने कर्म हैं उन्हें त्याग दे और दूसरों के द्वारा भी न करावे । सत्य-रहित शास्त्रों में मन न लगावे तथा जीविकोपार्जन के लिए क्रय-विक्रय, व्यवसाय, वाणिज्य आदि कोई कर्म न करे । किसी से आवश्यकता से अधिक बात न करे । दो पक्षों में विवाद हो तो भी पक्ष न ले । शिष्य एकत्रित न करे । अनेक ग्रन्थों के अध्ययन में न पड़े और किसी ग्रन्थ की व्याख्या में अपना पक्ष प्रबल करने के लिए खींचतान से दूर रहे । विभिन्न आयोजनों द्वारा अपनी प्रसिद्धि न बढ़ावे । अपने आश्रम को कोई चिह्न विशेष न लगावे । दूसरों के समान पागल या बाल के समान अज्ञानी बना रहे । विद्वान् होकर भी गूँगे के समान मौनावलम्बी रहे । दूसरे लोग जैसा भाव रखें, उनके समक्ष वैसा ही बन जाय । भले बुरे विचारों को मन में न आने दे, मूक रहे और कोई भी कर्म न करे । आत्मा में ही रमा रहे । सर्वत्र जड़ के समान शान्त रहे । इन्द्रियों पर संयम रखे । वासना का त्याग करे और पृथ्वी पर अकेला ही घूमे, किसी को साथी न बनावे । सब को समान रूप से देखे । बालक के समान चेष्टा करे । सभी कार्यों में कुशल होते हुए भी मूर्ख के समान बना रहे । वेदों का ज्ञाता हो तो भी गौ के समान निर्विकार रहे । सदा उन्मत्त के समान बात करे । दुष्टों द्वारा किए गए अपमान, मिथ्या आरोप, लांछन आदि को शान्त मन से सहन करले । वे मारें, बाँध रखें अथवा कार्य-कलाप में बाधा डालें तो भी अशान्त न हो । मूर्ख मनुष्य देह पर थूक दें, मल त्याग करे अथवा अन्य किसी प्रकार का कष्ट दें तो भी उसे सह ले सकट के उपस्थित होने पर अपना ही उद्धार करने का यत्न करे । दूसरों के द्वारा मिला हुआ आदर तपो-

पार्जन में हानिप्रद हैं । परन्तु, अपमानित हुआ संन्यासी बहुत शीघ्र ही अपने लक्ष्य को प्राप्त होता है । संन्यासी को उचित है कि वह किसी विपरीत आचरण द्वारा संन्यासी-धर्म को कलंकित न करे । उसे तो ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे लोग उससे सम्पर्क स्थापित न करना चाहें अथवा उसका अपमान करते रहें । मन, वाणी और देह के द्वारा किसी भी जीवधारी के प्रति द्वेष न रखे और सब प्रकार की वासनाओं को छोड़ दे । जो सन्यासी कामादि दोषों का त्याग कर देता है, वह निडर हो जाता है ।४७-५९।

भैक्षाशनं च मौनित्व तपो ध्यानं विशेषतः ।
सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ।।६०
काषायवासाः सतत ध्यानयोगपरायणः ।
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालयेऽपि वा ।
भैक्षण वर्तते नित्यं नैकान्नाशो भवेत्क्वचित् ।।६१
चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तान्नित्यं चरेत्सुधीः ।
ततः प्रव्रज्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित् ।।६२
वहिरन्तश्च सर्वत्र संपश्यन्हि जनार्दनम् ।
सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ।।६३
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयन् ।
निर्वैरेण समं पश्यन्द्विजगोऽश्वमृगादिषु ।।६४
भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम् ।
चिन्तयन्परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन् ।।६५

ज्ञात्वैव मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तोभूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवति इत्युपनिषत् ।।६६।।

संन्यासी का निश्चित धर्म भिक्षावृत्ति द्वारा प्राप्त भोजन ग्रहण

करना, तप करना, मौनावलम्बन, ज्ञानान्वेषण और विरक्ति-भाव है। वस्त्र गेरुआ पहिने, गाँव के किनारे, वृक्ष के नीचे अथवा किसी देव मन्दिर में रहे। अपने समय को ध्यान-योग में लगाये रहे, भिक्षान्न से ही जीवन-यापन करे। किसी एक ही गृहस्थ का भोजन कदापि न करे। सदा अपने आश्रम के अनुकूल आचरण करे। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाय तभी सन्यास ले। फिर सब पापों या पाप-विषयक चर्चाओं से दूर रहकर मौनावलम्बी होकर विचरण करे। सर्वत्र बाहर भीतर ब्रह्म को ही देखे। दुःख को समान समझे। क्षमाभावी रहे। जो मिल जाय उसी भोजन पर सन्तोष करे। ब्राह्मण, गौ अश्व, मृग आदि सब प्राणियों के प्रति समभाव रखे। स्वयं में परमानन्द स्वरूप ब्रह्म का भाव रखे और ईश्वर को सर्वव्यापी माने। जो दण्डधारी संन्यासी सब कामनाओं से मुक्त होता अथवा दिगम्बर रहकर मन, वाणी, कर्म द्वारा विश्व प्रपंच को आसार समझ उससे मुंह फेर लेता है, वह निश्चय ही मुक्ति को प्राप्त होता है।६०-६६।

## षष्ठोपदेशः

अथ नारदः पितामहमुवाच। भगवन् तदभ्यासाद्भ्रमरकीटन्यायवत्। तदभ्यासः कथमिति। तमाह पितामहः। सत्यवाग्ज्ञानवैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥१॥

ज्ञानं शरीरं वैराग्यं जीवनं विद्धि, शान्तिदान्ती नेत्रे, मनो मुखम्, बुद्धिः कला, पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवानि, अवस्था पञ्चमहाभूतानि, कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाः, चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकारीणीत्येवमपि नावमपि पङ्कं कर्णधार इव, यन्तेव गजम्, स्वबुद्ध्या स्ववशीकृत्य, अस्मद्व्यतिरिक्तं सर्वं कृतकं नश्वरमिति मत्वा, विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्याहरेन्नान्यत्किंचिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण जीवन्मुक्तो त्वा वसेत्कृतकृत्यो। भवति। न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरे-

तिंकतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तुरीयावस्थां प्राप्य तुर्यातीतत्वं व्रजेत् ॥२॥

दिव जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमिति। एकावस्थायां चतस्रोऽवस्थाः एकैककरणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापाराश्चक्षूरादीनाम्। चक्षुषो रूपग्रहणम्, श्रोतयोः शब्दग्रहणम्, जिह्वाया रसास्वादनम्, घ्राणस्य गन्धग्रहणम्, वचसो वाग्व्यापारः, पाणेरादानम्, पादयोः सञ्चार, पायोरुत्सर्गः, उपस्थस्यानन्दग्रहणम् त्वचः स्पर्शग्रहणम्। तदधीना च विषयग्रहणा बुद्धि। बुद्धया बुध्यति। चित्तेन चेत्तयति। अहंकारेणाहकरोति। विसृज्य जीव एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीर जीवः सञ्चरति। प्राग्दले पुण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिः ईशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्त्रं ज्ञात्वा ॥ ३ ॥

फिर ब्रह्मा जी से नारद जी ने प्रश्न किया—"भगवान्! भ्रमरकीट न्याय से अपने रूप को जान लेने पर मोक्ष मिलता है, परन्तु अपने रूप को जानने का अभ्यास किस प्रकार हो, यह बताने की कृपा करें।" इस पर ब्रह्माजी कहने लगे—सत्य भाषण करे और ज्ञानवैराग्य के द्वारा देह के प्रति अनासक्त हो जाय। इन विकारों के दूर होने पर अवशिष्ट रहे शरीर में स्थित हो।१।

वह अवशिष्ट शरीर ज्ञान है, उसका प्राण वैराग्य और शम, दम नेत्र हैं। शुद्ध हुआ मन मुख, बुद्धि कला और देह के अवयव पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, पंच विषय, चार अन्तःकरण और एक प्रकृति इस प्रकार पच्चीस हैं। उस देह के पंचभूत, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीय और तुरीयातीत यह पाँच अवस्थाऐं हैं। शाखाऐं

कर्म, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य यह चार हैं। पूर्वोक्त चौदह करण कीच में खड़े हुए कमजोर खम्भों के समान हैं। जैसे चतुर मल्लाह दलदल में फँसी हुई नाव को कीचड़ से निकाल कर जल-मार्ग पर ले जाता है वैसे ही संसार-रूप सागर के दलदल में फँसी हुई इस जीवन रूपी नाव को श्रेष्ठ बुद्धि से पार लगानी चाहिए। जैसे महावत हाथी को वश में रख कर उसे उचित मार्ग पर लाता है वैसे ही इस जीवन को उचित मार्ग पर लावे। इस ज्ञानमय शरीर को प्राप्त हुआ साधक अपने अतिरिक्त अन्य सबको कल्पित और नाशवान् समझता हुआ स्वयं में ब्रह्मभाव रखे। अपने आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को जानने योग्य न समझता हुआ जीवन्मुक्त हो जाय। कभी भी अपने को ब्रह्म से पृथक् न समझे। 'मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा ही भाव रखे। जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था को भी पार कर लेने वाला योगी तुरीयातीत अवस्था में प्रविष्ट होता है।२।

जाग्रत रूप दिन, स्वप्न रूप रात्रि और सुषुप्ति रूप अर्द्धरात्रि यह तीनों अवस्थाएँ तुरीय में स्थित हैं तथा तुरीयातीत में स्थित हैं। इस प्रकार एक में ही चारों अवस्थाएँ स्थित हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों के वशवर्ती नेत्रादि चतुर्दश करण हैं। नेत्र रूप ग्राहक हैं, कान शब्द सुनते हैं, हाथ वस्तुएँ उठाते, लेते हैं, पाँव चलते हैं, गुदा मलत्याग-रत और विषयेन्द्रिय आनन्द-रत रहती है। त्वचा स्पर्श-रत, बुद्धि विषय ग्रहणरत है। चेतना—चित्त से, अहंता अहंकार से उद्भुत है। इन सम्पूर्ण भावों की उत्पत्ति द्वारा देहगत आत्माभिमान के कारण जीव तुरीय-चेतन हो जाता है। तुरीय-चेतन हुआ जीव उसी प्रकार विचरता है, जिस प्रकार घर के अहंभाव से मनुष्य गृहस्थ बनता है। देहगत अष्टकमलात्मक हृदय में निवास करने वाला जीव जब कमल के पूर्ववर्ती दल मे भ्रमण करता है, तब वह पण्यात्मक अनुष्ठान मे प्रवृत्त होता है। जब वह आग्नेयवर्ती कोण

वाले दल में विचरण करता है, तब वह निद्रा और प्रमाद आदि कर्मों में प्रवृत्त होता है। जब वह दक्षिणवर्ती दल में स्थिर होता है, तब वह क्रूर हो जाता है। नैर्ऋत्य कोणस्थ दल में रहता है तब पाप-बुद्धि जाग उठती है। पश्चिमदल में रहने पर क्रीड़ा में अनुरक्त होता है। वायव्य कोण का आश्रय लेता है तब गमन करता है। उत्तर दिशा के दल में जाने पर उसे शान्ति प्राप्त होती है तथा ईशान कोण में स्थित होता है तब वह ज्ञानी हो जाता है। कमल की कर्णिका में प्रविष्ट होने पर वह वैराग्यवान होता है। कमल-केसर में जाने पर आत्मा का चिंतन करता है। इस आत्मा में चैतन्य ही मुख के समान प्रमुख है, उसके स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी तुरीयातीत अवस्था में रमण करता है।३।

जीवदवस्था प्रथम जाग्रद्द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीय चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम्। विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव। एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्ब्रह्माहमिति व्याहरेत्। नोचेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्ते सुषुप्तयादिचतस्रोऽवस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्थाः। न त्वेवं तुर्यातीतस्य निर्गुणस्य। स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षीत्वेक एवावतिष्ठते। उत तदस्थो द्रष्टा। तटस्थो न द्रष्टा। द्रष्टुत्वान्न द्रष्टैव। कर्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः। जीवेतरो न स्पृष्टः। जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न। जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः, शरीराभिमानेन जीवत्वम् जीवत्वं घटाकाशमहाकाशवद्व्यवधानोऽस्ति। व्यवधानवशादेव हंसः, सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासनिःश्वासव्यपदेशेनानुसंधान करोति। एवं विज्ञाय शरीराभिमान त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति स एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥४

जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार अवस्थाओं से परे तुरीयातीत अवस्था है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तटस्थ से एक ही आत्मा चार भेद वाला है। इसलिये स्वयं को ही एक ब्रह्म, सर्वसाक्षी, सत्वादि गुणों से परे माने। तुरीयातीत अवस्था वाले पुरुष को उपरोक्त चारों अवस्थाओं से परे मानना चाहिए। अन्यथा जैसे जाग्रत् आदि चारों अवस्थाओं के अन्तर्गत प्रत्येक में चार-चार अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही तुरीयातीत में भी चार अवस्थाएँ होनी चाहिए थीं। परन्तु, यथार्थ में तुरायातीत के निर्गुण होने से उसमें अवस्था भेद नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप विश्व, तैजस और प्राज्ञ ब्रह्म हैं, सब अवस्थाओं में उनके साथ एक ही साक्षी रहता है। परन्तु तटस्थ ईश्वर दृष्टा नहीं है, क्योंकि तटस्थ पुरुष माया धारी ईश्वर के रूप में होते हैं, परन्तु उनका कोई द्रष्टा नहीं है इसलिए तटस्थ ही दृष्टा नहीं हो सकता। कर्तव्य, भोक्तृत्व एवं अहंकार आदि वाला जीव भी द्रष्टा नहीं है। जीवेतर ब्रह्म उक्त दोषों से सम्पर्क नहीं रखता। देहाभिमान के कारण जीवत्व का अभिमान होने से जीव भी कर्तव्य आदि के संस्पर्श से परे नहीं हैं। महाकाश से घटाकाश के समान ही परमात्मा से जीवत्व का व्यवधान है। इस कारण ही यह हंसरूप प्राण उच्छ्वास और निःश्वास के रूप में 'सोऽहं' जपता हुआ अपने रूप को खोजता है। ऐसा मानकर ही देह में अभिमान व्यर्थ है। देहाभिमान न करने पर ही ब्रह्म होता है।४।

युक्तसंगो जितक्रोधो लघ्वाहारी जितेन्द्रियः।
विधाया बुद्धयाद्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥५
शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च।
नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥६
आतिथ्यश्राद्धयजेषु देवयात्रोत्सवेषु च।
महाजनेषु सिद्धयर्थी न गच्छेद्योगवित्क्वचित् ॥७॥

यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च ।
तथा युक्तश्चरेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥८
वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥९
विधूमे व प्रशान्ताग्नौ यस्तु माधुकरं चरेत् ।
गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ॥१०
दण्डभिक्षा च यः कुर्तात्स्वधर्मे व्यसनं विना ।
यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥११
यस्मिन्गृहे विशेषेण लभेद्भिक्षां च वासनात् ।
तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥१२
यः शरीरेन्द्रियातिभ्यौ विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥१३॥
परतत्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥१४
नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥१५
यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥१६
सोऽतीत्य स्वाश्रतान्वर्णानात्मन्येव स्थित पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्त सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥१७
तस्मादन्यगना वर्णा आश्रमा अपि नारद ।
लात्मन्यारोपिताः सव भ्रान्तया ते नात्मवेदिना ॥१८
न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
ब्रह्माविज्ञानिनामस्ति तथा वान्यचच नारदः ॥१९

संन्यासमें अनासक्त रहकर, क्रोध को जीते और स्वल्पाहार करता हुआ इन्द्रियों को नियन्त्रित रखे। इन्द्रियों के द्वारों का अवरोध

कर आत्म चिन्तन ही उसका कर्तव्य है। योगानुरागी पुरुष को साधन में ही तत्पर रहना चाहिए। वह एकान्त स्थान में, जंगल या कन्दरा में रहे और चिन्तन में ही लगा रहे। उसे कभी श्राद्ध, यज्ञ, अतिथि, सत्कार, देबयात्रा आदि किसी प्रकार के उत्सव आदि में भाग नहीं लेना चाहिए। उसे तो लोगों से दूर रहने के लिए ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जिससे कोई उसके पास जाना ही न चाहे और उसका अनादर ही करते रहें। जो वाणी रूपी दण्ड, मन रूपी दण्ड औह कर्म रूपी दण्ड इन तीनों को नियंत्रित रख सके यथार्थ में वही त्रिदण्डी सँन्यासी है। श्रेष्ठ यती वही है जो चूल्हे का धुंआ तक वन्द हो जाने पर अर्थात् आँच बुझ जाने पर ही भिक्षाटन द्वारा रोटी आदि माँग कर खाता है। परन्तु जिसके मन में संन्यास नहीं होता फिघ भी संन्यास ग्रहण कर भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करता है, वह निम्न श्रेणी का संन्यासी होता है। जिस घर से भिक्षा मिले उस घर में मोहवश कभी न जाय। जो स्वयं प्रकाश, विज्ञान स्वरूप, सुखमय, सर्वसाक्षी, देह-इन्द्रिय आदि से रहित ब्रह्म है, उसे अपने ही स्वरूप में देखता है वही वर्णाश्रम से परे है, क्योंकि वर्ण और आश्रम का उद्भव माया से ही हुआ है। जो अपने को ही बोधरूप आत्मा और वर्णाश्रम से परे मानता है वह सच्चा संन्यासी है। आत्मसाक्षात्कार के कारण जिसने वर्ण और आश्रम से संवंधित आचारों का परित्याग कर दिया है, यथार्थ में वही अपने रूप में स्थित है। ऐसे ही पुरुष के लिए वेदान्त-वेत्ताओं ने अतिवर्णाश्रमी बताया है। शरीरगत होने पर सभी वर्ण एवं आश्रम आत्मा में आरोपित करना आत्मवेत्ता पुरुषों द्वारा व्यर्थ बताया जाता है। ब्रह्मज्ञानियों के लिए नियम, निषेध कुछ भी नहीं है किसी वस्तु के त्याज्यात्याज्य होने का नियम उनके लिए नहीं हैं। वे तो सभी वन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।५-६।

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चपदादपि।

घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्पुत्रवित्तादिकेष्वपि ॥२०
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया ।
ईपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥२१
सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः ।
सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥२२
निर्ममो निरहंकारः सर्वसङ्गविवर्जितः ।
सदा शान्त्यादियुक्तः सत्तात्मन्यात्मानमीक्षते ॥२३
संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा ।
विरक्तिस्य तु संसारात्संन्यासः स्यान्न संशय ॥२४
मुमुक्षुः परहंसाख्यः साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
अभ्यसेद्ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥२५
ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः ।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥२६
वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ।
निर्भयो निर्ममो नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥२७
जीर्णकौपीनवासाः स्यान्मुडी नग्नोऽथवा भवेत् ।
प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥२८
मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ।
एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥२९

ब्रह्म में जिज्ञासा रखने वाला पुरुष कभी किसी पद की कामना न करे। वह ब्रह्मा के पद को भी न चाहे। पुत्र, धन आदि के प्रति अनासक्त होकर मोक्ष-प्राप्ति के साधन में ही लगा रहे। हाथ में कुछ भेट लेकर, किसी सत्गुरु के आश्रम में जाकर उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त करे। श्रद्धापूर्वक गुरु के वाक्यार्थ को सुने-समझे। मोह और अहंकार को छोड़कर गुरु-सेवा में लगे। सब प्रकार की आसक्तियों का त्याग करे और शम दम युक्त होकर अन्तर में आत्मा को देखे। जन्म, बुढ़ापा,

मौत आदि को देखने से वैराग्य उत्पन्न होता है और पूर्ण वैराग्य के उत्पन्न होने पर ही संन्यास लिया जा सकता है। मुमुक्ष परमहंस उपनिषद् आदि सुनकर मुक्ति प्राप्त कराने वाले ब्रह्मज्ञान का निरंतर अभ्यास करे। इस प्रकार के अभ्यासार्थ शम-दम आदि में प्रवृत्त रहे। ममता और भय का त्याग करे। संचयवृत्ति से दूर रहे। मूँड-मुँडा कर पुराने वस्त्र और कौपीन बनावे अथवा दिगम्बर ही रहे। ममत्व, अहंकार आदि को छोड़कर मित्र शत्रु सब को समान मानता हुआ अपने अन्तःकरण को जो शान्त रखता है, वह संसार-सागर से पार हो जाता है।२०-२९।

गुरूणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत्।
नियमेष्वप्रमत्तस्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥३०
प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोममनुत्तमम्।
अविरोधेन धर्मस्य संचरेत्पृथिवीमिमाम् ॥३१
ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम्।
आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रयम् ॥३२
अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम्।
त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥३३

गुरु के आश्रय में सेवा-रत जिज्ञासु एक वर्ष तक रहे। आश्रम के नियम-पालन में आलस्य न करे और ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि के पालन में सयत्न रहे। इस प्रकार के साधन द्वारा ज्ञान-योग को प्राप्त कर धर्म के अनुकूल चले। इस प्रकार ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रमों का सेवन किया हुआ संन्यासी पृथिवी पर भ्रमण करता रहे। आसक्ति को छोड़कर क्रोध को जीत ले, स्वल्पाहार करे तथा इन्द्रियों पर संयम रखे।३०-३३।

द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा।
निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥३४

माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद्दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥३५
संभाषण सह स्त्रीभिरालापप्रेषणं तथा ।
नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥३६
न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥३७
नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च ।
धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिर्लौकिकी क्रिया ॥३८
संत्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः ।
कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगीन् वनस्पतीन् ॥३९
न नाशयेत्बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः ।
नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥४०
अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद ।
नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥ १
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निः स्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥४२
इत्युपनिषत् ।

कर्म-रत संन्यासी और कर्म-रहित गृहस्थ दोनों की शोभा तभी है, जब वे अपने आश्रम के अनुकूल आचरण करें। मदिरा का पान करने पर मद की उत्पत्ति होती है, परन्तु युवती नारी के दर्शन-मात्र से ही उन्मत्तता हो जाती हैं, इसलिए नारी के दर्शन तक संन्यासी को नहीं करने चाहिए, स्त्रियों से वार्तालाप नृत्य, गान, परनिन्दा, आदि से सर्वथा दूर रहे। उसके लिए तो स्नान करना, जप पूजा-हवन करना, देवताओं का अर्चन, श्राद्ध तर्पण, व्रत और तीर्थ-यात्रा करना आदि भी आवश्यक नहीं है। धर्माधर्म और लोकाचार-पालन भी उसके लिए कर्त्तव्य नहीं है। उसे सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर देना चाहिए।

अपनी बुद्धि को पारमार्थिक कार्य में लगावे और कभी किसी जीव की हिंसा न करे। मन को पवित्र रखे और बाहर से भी पवित्र रहे। पूर्ण शान्त रहता हुआ बुद्धि को आत्मा के आनन्द में लीन रखे। हे नारद! अन्तःकरण से स्वच्छ रहकर और आसक्ति को छोड़कर संसार में भ्रमण करो। जिस प्रदेश में अराजकता फैल रही हो, उस प्रदेश में संन्यासी विचरण न करे। वह श्राद्ध-तर्पण आदि से परे रहे और किसी की स्तुति अथवा नमस्कार की आकांक्षा न करे। निर्जन स्थान गिरि-कन्दरा आदि में रहे अथवा स्वच्छन्द रूप से भ्रमण करे ॥३४-४२॥

## सप्तमोपदेशः

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्टं नारदं पितामहः पुरस्कृत्य। विरक्तः सन् यो वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेन्नैकत्र निवसेद्भिक्षुर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमनविरोधग्रहणं न कुर्यात्, हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यात्, न वृक्षारोहणमपि, न देवोत्सवदर्शनं कुर्यात्। नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात्। स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमासरन्, कृशो भूत्वा, मेदावृद्धिमकुर्वन्, आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्र। अन्नं पललमिव, गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव, क्षारमन्त्यजमिव, वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिव, अभ्यङ्गं स्त्रीसंगमिव, मित्राह्लादकं मूत्रमिव, स्पृहां गोमांसमिव, ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव, स्त्रियमहिमिव, सुवर्णं कालकूटमिव, सभास्थलं श्मशानस्थलमिव, राजधानीं कुम्भीपाकमिव, शवपिण्डवदेकत्रान्नम्। देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य, स्वदेशमुत्सृज्य, ज्ञातचरदेशं विहाय, विस्मृतपदार्थपुनःप्राप्तिहर्ष इव स्वमानन्दमनुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा, स्वशरीरं शवमिव हेयमुपगम्य, कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्राप्तगन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो

वसेत् । अयत्नेन प्राप्तमाहरन्, ब्रह्मप्रणवध्यानानुसंधानपरो भूत्वा सर्वकर्मनिर्मुक्तकः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादिकं दग्ध्वा त्रिगुणातीतः, षडूर्मिरहितः, षड्भावविकारशून्यः, सत्यवाक्, शुचिः, अद्रोही, ग्रामैकरात्रम्, पत्तने पञ्चरात्रम्, क्षेत्रे पञ्चरात्रम्, तीर्थे पञ्चरात्रम्, अनिकेतः स्थिरमतिर्नानृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एवं वा द्वौ वा चरेत् ग्रामं त्रिभिः नगरं चतुर्भिर्नगरमित्येकः चरेद्भिक्षुः चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यात् । अविच्छिन्नज्ञानाद्वैराग्यसंपत्तिमनुभूय, मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्यालोच्य, सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्तिमवाप्य, प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा, देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत् ॥१॥

नारदजी ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया—"भगवन् ! यति के नियमों पर प्रकाश डालिए ।" इस पर ब्रह्माजी कहने लगे—'वैराग्यवान् संन्यासी किसी एक स्थान पर वर्षाऋतु के चार महीने ही रहे । शेष आठ महीने तो उसे विचरण करना चाहिए । किसी एक स्थान पर अधिक न ठहरे अन्यथा धर्म भ्रष्ट होने का भय रहता है । यदि कोई अधिक ठहरने का आग्रह भी करे तो उस आग्रह को न माने । नदी को हाथों से तैर कर पार न जाय । वृक्ष पर न चढ़े और किसी देवोत्सव अथवा मेले आदि में भी भाग न ले । आत्मा की ही उपासना करे, किसी अन्य देवता की नहीं । एक घर में से ही अन्न ग्रहण न करे । आत्मा के अतिरिक्त किसी में आसक्ति न रखे । चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं को मल-मूत्र के समान त्याज्य समझे । क्षार को चाण्डाल के समान न छूने योग्य माने । कौपीन आदि के सिवाय अन्य वस्त्रों का उसी प्रकार त्याग करे जैसे जूँठे बर्तनों को छोड़ दिया जाता है । अभ्यंग आदि से दूर रहे । मित्रों के साथ को आनन्दमय न माने, वरन् मूत्र के समान त्याग दे । स्पृहा को उत्पन्न न होने दे । परिचित

स्थान के उपयोग से दूर रहे। सभा-स्थल को श्मसान के समान समझे। स्त्री को भुजङ्गिनी के समान भयंकर माने। स्वर्ण को कालकूट विष और राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान समझे,एकान्न को मृतक के दिए जाने वाले पिण्ड के समान त्याज्य माने। देह को आत्मा से पृथक् न देखे और किसी विषय में न फँसे। अपने प्रदेश को छोड़ दे और परिचित स्थानों पर निवास करने की प्रवृत्ति में भी न पड़े। अपने ही आनन्दमय स्वरूप में, भूली वस्तु के प्राप्त होने पर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता रखे। जहाँ अपने कुटुम्बी एवं परिचित रहते हों, उस स्थान को त्यागकर बहुत दूर चला जाय। अपने देह को मृतक के समान त्याज्य माने और उसमें अनासक्त रहे। जैसे चोरी करने वाला पुरुष कारावास से मुक्त होकर लज्जा के कारण अन्यत्र जाकर रहता है किसी को मुख नहीं दिखाना चाहता, वैसे ही संन्यासी अपने स्त्री-पुत्र आदि से दूर जाकर रहे और अपना दर्शन न दे। बिना माँगे जो कुछ मिले उसे ही खाकर सन्तोष करले। सभी कर्मों को छोड़ कर ब्रह्मरूप प्रणव का ही चिन्तन करे। काम, क्रोध, लोभादि को भस्म करदे और भूख-प्यास आदि से व्याकुल न हो। जन्म, वृद्धि, जरा आदि भाव विकारों से भी दूर रहे। किसी से वैर न करे, देह और मन को पवित्र रखे तथा सत्यवादी रहे। ग्राम मे एक रात्रि निवास करे। नगर, पुण्यक्षेत्र अथवा तीर्थ स्थान में भी पाँच रात्रियों से अधिक न ठहरे। अपने रहने के लिए गृह-निर्माण न करे। मिथ्या भाषण से दूर रहे और बुद्धि को परमात्मा के चिन्तन में लगाये रहे। घूमे तो सदा अकेला रहे और निवास करे तो किसी गिरिकन्दरा में। दो व्यक्ति साथ कभी न रहें। तीन व्यक्तियों का साथ ग्राम के समान और चार व्यक्तियों का साथ नगर के समान माना गया है। इसलिए अकेला ही रहना चाहिए। अपनी इन्द्रियों को विषय-चिन्तन का अवसर न दे और अपने से भिन्न किसी को न माने। किसी अन्य पदार्थ

की भावना न कर सब को आत्मवत् देखे । अपने स्वरूप से साक्षात्कार करता हुआ जीवन्मुक्त हो जाय । अपने रूप का ज्ञान होने पर भी जब तक मृत्यु न आवे तब तक स्वरूप का ही चिन्तन करे । संन्यासी का कर्त्तव्य है कि वह अपने आत्मा का भले प्रकार बोध प्राप्त करे ।१।

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य, बहूदकस्य द्विवारम्, हंसस्यैक-वारम्, परमहंसस्य मानसस्नानम्, तुर्यातीतस्यभ स्मस्नानम्, अवधूतस्य वायव्यस्नानम् ॥२॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य, त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य, ऊर्ध्वपुण्ड्रत्रिपुण्ड्रं हंसस्य, भस्मोद्धूलनं परमहंसस्य, तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रम् अवधूतस्य न किंचित् तुरीयातीतावधूतयोः ॥३॥

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य, ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य, न क्षौरं हंसस्य, परमहंसस्य न च क्षौरम्, अस्ति चेदयनक्षौरं, तुरीया-तीतावधूतयोर्न क्षौरम् ॥४॥

कुटीचक संन्यासी को तीनों समय स्नान करना चाहिए। बहूदक दो समय और हंस एक समय स्नान करे। परमहंस के लिए मानसिक स्नान का विधान है। तुरीयातीत भस्म रमा ले, यही उसके लिए स्नान है। अवधूत वायु के स्पर्श से ही स्नान के समान शुद्ध हो जाता है ।२।

कुटीचक ललाट में ऊर्ध्वपुण्ड लगावे। बहूदक त्रिपुण्ड का प्रयोग करे। हंस ऊर्ध्वपुण्ड या त्रिपुण्ड तथा परमहंस केवल भस्म लगावे। तुरीयातीत के लिए तिलकपुण्ड का विधान बताया गया है। अवधूत के लिए किसी प्रकार का चिन्ह लगाना आवश्यक नहीं है ।३।

कुटीचक दो-दो महीने से क्षौर करावे और बहूदक चार-चार महीने से क्षौर-कर्म करावे। हंस और परमहंस चाहें तो छः छः महीने के अन्तर से क्षौर करा सकते हैं। अवधूत और तुरीयातीत के लिए क्षौर अनावश्यक है ।४।

कुटीचकस्यैकान्नम्, माधूकरं बहूदकस्य, हंसपरमहंसयोः करपात्रम्, तुरीयातीतस्य गोमुखम्, अवधूतस्याजगरवृत्ति ॥५॥

शाटीद्वय कुटीचकस्य, बहूदकस्यैकशाटी, हंसस्य खण्डम्, दिगम्बरं परमहंसस्यैककौपीनं वा, तुरीयातीतवधूतयोर्जातरूपधरत्वम् । हंसपरमहंसयोरजनं न त्वन्येषाम् ॥६॥

कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनम्, हंसपरमहंसयोर्मानसार्चनम्, तुरीयातीतावधूतयोः सोऽहंभावना ॥७॥

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारः, हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारः, तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारः, तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि । कुटीचकबहूदकहंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥८॥

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः,हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः तुर्यातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥९॥

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणम्, हंसपरमहंसयोर्मननम्, तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः । सर्वेषामात्मानुसंधानं विधिरिति ॥१०॥

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विषेद्यतिः इत्युपनिषत् ॥११॥

कुटीचक को एक स्थान से लेकर खा लेना चाहिए । बहूदक को मधुकरी वृत्ति रखनी चाहिये । हंस और परमहंस को हाथ में भिक्षा लेनी, तुरीयातीत को गोमुख और अवधूत को अजगर वृत्ति से आहार ग्रहण करना ।५। कुटीचक को दो वस्त्र, बहूदक को एक वस्त्र, हंस को एक टुकड़ा, परमहंस को एक कौपीन तथा तुरीयातीत और अवधूत को बिना वस्त्र के रहना ।६। कुटीचक और बहूदक देवार्चन करें, हंस और पहमहंस मानसिक अर्चना करें, तुरीयातीत तथा अवधूत

सोऽहं भावना रखें।७। कुटीचक और बहूदक को मन्त्र जपने का अधिकार है, हंस-परमहंस को ध्यान का अधिकार है, तुरीयातीत और अवधूत को महावाक्यों के उपदेश का अधिकार है। कुटीचक और बहूदक को उपदेश का अधिकार नहीं है।८। कुटीचक और बहूदक को साधारण प्रणव, हंस, परमहंस को आन्तरिक प्रणव और तुरीयातीत तथा अवधूत को ब्रह्म प्रणव करना।९। कुटीचक, बहूदक को श्रवण हंस, परमहंस को मनन, तुरीयातीत, व अवधूत को निदिध्यास करना। सब को आत्मानुसंधान का लक्ष्य रखना। इस प्रकार सब को मोक्ष के लिए प्रयत्न करते रहना और सांसारिक विषयों से छुटकारा पाकर जीवनमुक्त और कैवल्य की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।१०-११।

## अष्टमोपदेश:

अथ हैनं भगवन्तं पदमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ। संसारतारकं प्रपन्नोब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे। ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण। का व्यष्टिः का समष्टि। संहार-प्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बसिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधिः। ब्रह्म-प्रणवोऽन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः। बाह्यप्रणव आर्षप्रणव उभयात्मको विराट्प्रणवः। संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्रा-प्रणवः ॥१॥

नारदजी ने प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया 'भगवन्! कौनसा मन्त्र ऐसा है जो जरा-मरण रूप समुद्र से पार कर सकता है?' ब्रह्माजी बोले—ऐसे प्रभाव वाला ब्रह्मस्वरूप ॐ ही तारक मन्त्र है। इसका ही व्यष्टि और समष्टि में चिन्तन करे।' नारदजी के 'व्यष्टि और समष्टि' क सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करने पर ब्रह्माजी पुनः बोले-व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणव के ही अंग हैं। एक ब्रह्म-प्रणव संहार-प्रणव, सृष्टि प्रणव और उभयात्मक प्रणव इन तीनों भेदों वाला है।

उभयात्मक प्रणव के बाह्याभ्यांतरिक भेद हैं। इसीलिए उभयात्मक कहा गया। ब्रह्म प्रणव का एक भेद व्यावहारिक प्रणव भी है। व्यष्टि प्रणव को ही बाह्य प्रणव कहा गया है। एक आर्ष प्रणव और है। उभयात्मक प्रणव को विराट् प्रणव भी कहते हैं। अकारादि चार मात्राओं वाले स्थूल आदि भेद से युक्त प्रणव को अर्द्धमात्रा प्रणव भी कहा जाता है।१।

ओमिति ब्रह्म ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि । स चाष्टधा भिद्यते। अकारोकारो मकारअधमात्रा नादबिन्दुकला शक्तिश्चेति। तत्र चत्वारः, अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्ता वयवाकारः। सगुणो विराट्प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः। यथा प्लुत विराट्प्लुतप्लुतः संहारः ॥२॥

ॐ ब्रह्म है। यही एकाक्षर मन्त्र है तथा इसी को अन्त प्रणव माना गया है। यह अकार, उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, बिन्दु, नाद, कला और शक्ति इस प्रकार आठ भागों में विभक्त है। चार मात्रा का परिलक्षित होने वाले प्रणव की प्रत्येक मात्रा के भी अनेकानेक भेद हैं। अकार मात्र के ही दस सहस्र अवयव हैं। उकार के एक सहस्र और मकार के शत अवयव कहे गये हैं। अर्द्धमात्रा-प्रणव भी अनन्त अवयवों से सम्पन्न है। विराट् प्रणव सगुण और संहार प्रणव निर्गुण माना गया है। सृष्टि प्रणव सगुण-निर्गुण दोनों से ही सम्बन्धित है। विराट् प्रणव अकारादि चार मात्राओं की समष्टि वाला है, तथा संहार प्रणव चतुर्थमात्रात्मक अर्द्धमात्रा रूप वाला है।२।

विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः। षोडशमात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमः, द्व्युकारो द्वितीयः, मकारस्तृतीयः, अर्धमात्रा चतुर्थः, बिन्दुः पञ्चमी, नादः

षष्ठी, कला सप्तमी, कलातीताष्टमी, शान्तिर्नवमी, शान्त्यतीता दशमी, उन्मन्येकादशी, मनोन्मनी द्वादशी, पुरी त्रयोदशी, मध्यमा चतुर्दशी, पश्यन्ती पञ्चदशी, परा षोडशी। पुनश्चतुःषष्टिमात्रः प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरशतभेदमात्रा-स्वरूपमसाद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपत्येकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥३॥

विराट् प्रणव षोडश मात्राओं से युक्त है। इसे छत्तीस तत्वों से परे बताया गया है। आकार इसकी प्रथम मात्रा है। उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, बिन्दु, नाद, कलातीता, शान्ति शान्त्यातीता, उन्मनी मनोन्मनी, पुरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा इस प्रकार क्रमशः दूसरी से सोलहवीं मात्रा हैं। षोडश मात्राओं वाला यही ब्रह्म प्रणव ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प रूप तुरीय से भिन्न न होने कारण चौंसठ मात्राओं वाला हो जाता है। फिर प्रकृति और पुरुष रूप दो भेदों वाला होने पर एक सौ अट्ठाइस मात्राओं से सम्पन्न होता है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म प्रणव के सगुण, निर्गुण आदि रूप धारणपूर्वक तथा दृष्टि-भेद से अनेकानेक रूप हो जाते हैं ॥३॥

सर्वाधारः परं ज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः।
सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः ॥४
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागमयः शिवः।
सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयं ॥५
भूतभव्यभविष्यद्यत्त्रिलोकादितमव्ययम्।
तदप्योंकारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥६
तदेवात्मानमित्येतद्ब्रह्मशब्देन वर्णितम्।
तदेकमजरममृतमनुभूय तथोमिति ॥७
सशरीर समारोप्त तन्मयत्वं तथोमिति।
त्रिशरीरं स्वमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिनु ॥८

ब्रह्म-प्रणव रूप यह परमात्मा सर्वव्यापक हैं । यह परमज्योति स्वरूप एवं सब के आश्रयभूत हैं । सब देवता इन्हीं के स्वरूप हैं । यही सम्पूर्ण प्रपञ्च के आधार तथा सर्वाक्षर रूप हैं । यही कल्याणमय और समस्त शास्त्रमय हैं । श्रुतियों में पुरुषोत्तम ब्रह्म एवं श्रेष्ठ तत्व के रूप में इन्हीं की खोज करे । समस्त उपनिषदों के वाच्यार्थ यही हैं । यही सब कालरूप हैं और भूत, भविष्यत्, वर्तमानयुक्त त्रिकालात्मक जगत् तथा त्रिभुवन से परे जो अविनाशी तत्व है, वह सब इन्हीं का स्वरूप है । इस प्रणव को ही मुक्तिदाता समझना चाहिए । प्रणव के अर्थभूत ब्रह्म ही आत्मा है । उस ब्रह्म का आत्मा में एकीभाव करके प्रणव को ही एक, जरारहित, अमृतरूप एवं चिन्मयतत्व मानो । फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप सम्पूर्ण दिखाई देने वाले प्रपंच का प्रणव में आरोप करे । इस प्रकार इस विश्व को ॐ ही मानो और आत्मा को त्रिविध देह रूप उपाधि सम्पन्न ब्रह्म मानो । इसी प्रकार आत्मा परमात्मा में दृढ़ एकीभाव स्थापित कर आत्मारूप ब्रह्म के चिन्तन का निरन्तर अभ्यास करे ।।४-८।।

परं ब्रह्मानुसंदध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात् ।
स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्परम् ।।९
ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः ।
चतुष्पाज्जागरितस्थानस्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक् ।।१०
एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः ।
स्थूलभुक्चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः पुमान् ।।११
विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः ।
सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्ग एको नान्यः परन्तप ।।१२
सूक्ष्मभुक्चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम् ।
हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते ।।१३
कामं कामयते यावद्यत्र सुप्तो न कंचन ।

स्वप्नं पश्यत नवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम् ॥१४
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी ।
नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः ॥१५
तथाप्यानन्दभुक्चेनोमुखः सर्वगतोऽव्ययः ।
चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसञ्ज्ञितः ॥१६

स्थूल और स्थूल जगत् का तथा सूक्ष्म और सूक्ष्म जगत् का भोक्ता होने से और आनन्द तथा आनन्द स्वरूप को उपभोक्ता होने के कारण अथवा इन तीनों से भी अद्भुत होने के कारण इस आत्मा के चार भेद माने गये हैं । इन्हीं भेदों के कारण आत्मा चार पादों वाला कहा गया है । जाग्रत अवस्था और उससे उपलक्षित जगत् जिसका देह है और जिसका ज्ञान ही इस स्थूल विश्व में प्रसारित है तथा जो सम्पूर्ण विश्व क भोक्ता है, जिसके मुख पञ्च कर्मेन्द्रिय आदि उन्नीस कारण हैं और भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य एवं पाताल यह आठ लोक ही जिसके अंग हैं, जिसकी अभिव्यक्ति स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी रूप में होती है, वही सर्व व्यापक विश्वरूप वैश्वानर ही ब्रह्म के प्रथम पाद माने गये हैं ।

स्वप्न और उपलक्षित सूक्ष्म विश्व में व्याप्त ब्रह्म सूक्ष्मप्रज्ञ है । उनका विज्ञान आन्तरिक जगत में व्याप्त हो रहा है । वे पूर्वोक्त आठ अंग वाले, स्वप्नलोक में एकाकी ही हैं । वे सूक्ष्म तत्वों का अनुभव करने वाले एवं पालक हैं । उनके सूक्ष्मादि चार भेद हैं । प्रकाश के स्वामी होने से उन्हें तैजस् कहते हैं । वे सर्वभूताधिपति और हिरण्यगर्भ हैं । अन्तःप्रदेश में वास होने से यह सूक्ष्म हैं । इन्हीं को परमात्मा का द्वितीय पाद कहा गया है ।

सुषुप्तावस्था में मनुष्य कोई स्वप्न नहीं देखता और न किसी भाग की ही कामना करता है । ऐसी अवस्था और उससे उपलक्षित विश्व का प्रलय रूप जिनका स्थान है, जो द्वितीय एवं प्रज्ञानात्मक हैं

को सुख रूप एवं नित्यानन्दमय हैं, अन्तर्यामी रूप से स्थित, अपने ही रूप का आनन्दोपभोग करने वाले, अविनाशी, प्रकाश रूप मुख वाले तथा ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प रूपों में जो अभिव्यक्त हैं, ऐसे वे प्राज्ञ ही परमात्मा के तृतीय पाद माने गए हैं ।।६-१६।।

एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः ।
एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ।।१७
भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम् ।
तत्सुषुप्तं हि तत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ।।१८
चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम् ।
तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ।।१९
ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम् ।
विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमांतरम् ।
मायामात्रं यिदित्वैवं सच्चिदेक रसो ह्यथ ।।२०

इस प्रकार यह त्रिपाद परमात्मा ही सब के स्वामी हैं। यही सूक्ष्म रूप से चिन्तनीय, सर्वज्ञ एवं अन्तर्यामी हैं। यही जगत के कारण और प्राणियों की सृष्टि, स्थिति, और लय के स्थल हैं। तीनों अवस्था वाला यह विश्व सुषुप्ति रूप ही है। यहां वस्तु के विपरीत दिखाई पड़ने के कारण यह स्वप्न के समान एवं मायामय ही है।

उक्त तीन पादों के अतिरिक्त एक चतुर्थपाद है वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प भेद से चार रूप का है। उसे तुरीय-पाद कहा गया है यह सच्चिदानन्द रूप है। इसके चारों भेद तुरीय ही हैं क्योंकि प्रत्येक रूप तुरीय में लीन हो जाता हैं। इस तुरीयपाद में, ओत, अनुज्ञातृ अनुज्ञा यह तीनों भेद विकल्प ज्ञानात्मक हैं। इन सब को ही स्वप्नवत् अथवा माया ही समझें। इन विकल्पों से अतीत निर्विकल्प परमात्मा ही एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप हैं ऐसा निश्चय करना ही श्रेयस्कर है ।।१७-२०।।

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम् ।
न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं म प्रज्ञं न कच्चिन्मुने ॥२१
नैवाप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम् ।
नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च ॥२२

तदलक्षणमग्राह्यं यदव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स ब्रह्मप्रणवः स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुमक्षूणामाधारः स्वयंज्योतिर्ब्रह्माकाशः सर्वदा विराजते परब्रह्मत्वात् । इत्युपनिषत् ॥२३॥

फिर श्रुति स्पष्ट कहती है कि जो न स्थूल का ज्ञाता है और न सूक्ष्म का ज्ञाता है तथा जो इन दोनों का ही ज्ञाता नहीं है, जो अधिक या न्यून नहीं जानता, बाहर का ज्ञाता है न भीतर का ज्ञाता है, जो प्रज्ञान रूप नहीं है, जो नेत्रों से नहीं देखा जाता, क्योंकि उसका कोई रूप नहीं है । जो न पकड़ा जा सकता है और न व्यवहार में आ सकता है । जो न किसी परिभाषा में आता है और न ध्यान में आता है । जिसका स्वरूप आत्म सत्ता का विश्वास ही है तथा जो प्रपंच से परे है, वह अद्वितीय एवं परम कल्याणमय तत्व ही उस ब्रह्म का चतुर्थ पाद है । इसी को ज्ञानीजन ब्रह्म-प्रणव कहते हैं । मोक्ष की कामना करने वाले पुरुष का आश्रयभूत यही है । वह परम ब्रह्म होने से ही प्रतिष्ठित है । वही स्वयं प्रकाश एवं आकाश स्वरूप है ॥२१-२३॥

## नवमोपदेशः

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारदः पप्रच्छ । तं होवाच पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपमिति । अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१॥

नारदजी ने पुनः पूछा—'हे भगवन् ! ब्रह्म का स्वरूप बताने का अनुग्रह करें ?'' ब्रह्मा जी कहने लगे–नारद ! अपना रूप ही ब्रह्म है। जो अपने को ब्रह्म से भिन्न मानता है उसे मनुष्य नहीं, पशु ही समझना चाहिए। पशु केवल उन्हीं को नहीं कहते जो पशुओं की किसी योनि में ही उत्पन्न हुए हों, बल्कि जिन्हें किसी वास्तविकता का ज्ञान नहीं वही पशु है। जो पुरुष परब्रह्म को ही सर्वात्मा मानता है वह ज्ञानी पुरुष मृत्यु के मुख से बच जाता है। मोक्ष को प्राप्त कराने वाला मार्ग है तो एकमात्र परमात्मा का ज्ञान ही है ॥१॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां त्वात्मभावादात्मा
ह्यनीशः सुखदुःख हेतोः ॥२
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्टत्येकः ॥३
तमेकस्मिन् त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥४
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्च प्राणोर्मिं
पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् । पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥५

काल, स्वभाव फल का कारण कर्म, आकस्मिक घटना, पञ्च-महाभूत या जीवात्मा इस विश्व का कारण है क्या ? नहीं, काल आदि इस विश्व के कारणभूत नहीं हो सकते, वे सब चेतन आत्मा के ही आश्रित हैं। इम विश्व का कारण दुःख-सुख के कारण रूप प्रारब्ध के

अधीन रहने वाला जीवात्मा भी नहीं हो सकता। ऐसा विचार कर उन जिज्ञासुओं ने ध्यान किया और स्वगुणावृत्त एवं स्वरूपभूत अचिन्त्य शक्ति से साक्षात् किया। वह शक्ति उन्हीं परमात्मा की है जो एकाकी रह कर ही सम्पूर्ण कारणों को अपने अधीन रखते हैं। उन एक नेमि, तीन घेरे, षोडश शीश, पचास अरे, बीस सहायक अरे, छः अष्टक, एक पाश अनेक रूप, तीन भेद वाले तथा एक नाभि वाले चक्र को उन जिज्ञासुओं ने देखा। हम उस नदी को जानते हैं जो पञ्चस्रोतों से निकलने वाले विषयात्मक जल से सम्पन्न है। वह पांच स्थानों से उद्भूत होकर प्रचण्ड वेग एवं टेढ़ी-मेढ़ी गति वाली है। पंच प्राण रूप तरंगों से युक्त तथा मनरूप मूल वाली है। पाँच भँवर वाली, दुःखरूप पाँच प्रवाहों वाली, पाँच पर्व और पचास भेदों वाली है ॥२-५॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्र ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥६
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिमस्त्रियं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीनाः
परे ब्रह्मणि तत्परायणः ॥७
सयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बुध्यते
भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥८
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।
अनंतश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥९

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तदभिध्यानाद्योजनात्तात्त्वभावाद्
भयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तः ॥१०

सब प्राणियों के आश्रयभूत इस विशाल ब्रह्मचक्र में जीवात्मा को फेरी दिलाते हैं। यह स्वयं को एवं सब को प्रेरणा देने वाले परमात्मा को पृथक्-पृथक् जानकर उन्हीं परमेश्वर में अपनाया जा कर अमृतत्व को प्राप्त होता है। वेद में जिन परमात्मा का वर्णन है, वही सर्वश्रेष्ठ एवं तीनों लोको में अविनाशी रूप से स्थित हैं। वेदवेत्ताजन अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा का चिन्तन करते हुए उन्हीं में मिल गए। नाशवान् जड एवं अविनाशी जीवात्मा के व्यक्त-अव्यक्त रूप में स्थित इस संसार का धारण पोषण वे परब्रह्म परमेश्वर ही करते हैं और जीवात्मा सांसारिक विषयों का भोगने वाला होने के कारण प्रकृतिवश इसी के बन्धन में पड़ जाता है परन्तु, उन परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सब प्रकार के बन्धनों से छूट जाता है। ज्ञानी-अज्ञानी, समर्थ-असमर्थ इन दो प्रकारों के आत्मा हैं और प्राणी के लिये अनुकूल भोग्य वस्तु प्रकट करने वाली तृतीय शक्ति यह प्रकृति है। परब्रह्म सम्पूर्ण रूप वाले, कर्त्तापन के अभिमान से परे एवं अन्त-रहित है। जब मनुष्य ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को ही ब्रह्म रूप में पाता है, तब उसके सब बन्धन कट जाते हैं। प्रकृति नाश होने वाली है परन्तु उसका भोक्ता आत्मा अविनाशी है, एक मात्र ईश्वर ही नाशशीला प्रकृति और अविनाशी आत्मा को अपने अधीन रखते हैं। मन को उन्हीं ईश्वर में लगाकर उनका निरन्तर चिन्तन करने से अन्त में साधक उन्हीं को प्राप्त होता है। उसके लिए समस्त माया दूर हो जाती है ॥६-१०॥

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
यस्याभिध्यानात्तृतीय देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः पर वेदितव्यं हि किंचिद् ।

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च ।
मत्मा सर्वं प्रोक्तं त्रिविध ब्रह्ममेतत ।।१२
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ।।१३

उन प्रकाश स्वरूप परमात्मा के ध्यान करने मात्र से सभी बंधन दूर हो जाते हैं क्योंकि क्लेशों के मिटने पर जन्म-मरण का बंधन भी शेष नहीं रह सकता । ज्ञानी पुरुष देह-नाश के पश्चात् तृतीय लोक तक में अनासक्त रहता हुआ शुद्ध एवं पूर्णकाम होता है । वह ब्रह्म अपने में ही स्थित है, उसको ही पूर्ण रूपेण जानना चाहिए । ब्रह्म से अधिक जानने योग्य कुछ भी नहीं । भोक्ता भोग्य और प्रेरक परमात्मा इन्हें जान लेने पर सब का ज्ञान स्वतः हो जाता है इन तीन भेदों में वह ब्रह्म ही वर्तमान है । उसकी प्राप्ति के मूल-साधन तप और आत्मज्ञान ही हैं ।११-१३।

य एव विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयन् 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः तस्माद्विराड् भूतं भव्यं भविष्य-द्भवत्यनश्वरस्वरूपम् ।।१४

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।।१५

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति
वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।१६
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ।।१७
सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिसर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम् ।
परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्वेदितव्यम् ।।१८

कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ।
अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाच्युताम्भोरुहगर्भभू-
धरम् ॥१९

स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पंचात्मकं पंचसु वर्तमानम् ।
पंचीकृतानान्तभवप्रपंच पचीकृतस्वावयवैरसंवृतम् ।
परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम् ॥२०

नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥२१

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं नोभयतः प्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तः स्थितः स्वयमेवेति य एव वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान्पितामहः ॥२२

जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जानता हुआ अपने स्वरूपभूत ब्रह्म का ही ध्यान करता है, उसके लिए फिर कैसा मोह और कैसा शोक ? भूत, भविष्यत्, वर्तमान रूप त्रिकालात्मक विश्व अविनाशी ब्रह्म का ही रूप है । सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान् से महान् वह ब्रह्म प्राणो के हृदय मंदिर में विराजमान है । वही सब का जन्मदाता और रक्षक है, उसी की कृपा से मनुष्य संकल्पातीत परमात्मा के दर्शन करता हुआ उसकी महिमा को जानता है । ऐसा पुरुष सब प्रकार के दुःखों से छूट जाता है । वह हाथ-पाँव आदि से परे होकर भी सब वस्तुओं को ले लेता और द्रुत वेग से चलता-फिरता है । बिना नेत्रों के ही वह सब कुछ देख लेता और बिना श्रोत्रों के ही सुनता है । सभी ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञाता है, परन्तु उसे भले प्रकार कोई भी नहीं जान पाता । ज्ञानीजन उसे पुराण पुरुष बतलाते हैं । वह इस नाशवान् देहों में बिना शरीर के निवास करता है । जो उसे जान लेता है वह शोकान्वित नहीं होता । वह सभी का धारक, पोषक है और वह अचिन्त्य शक्ति वाला है । सभी शास्त्रों द्वारा उसी की सत्ता का प्रतिपादन हुआ है । वही परब्रह्म के रूप में जानने योग्य है और संसार के प्रलयकाल में भी

वही ज्ञातव्य है । वही पुरुषों में श्रेष्ठ एवं त्रिकालदर्शी है । सब का ईश्वर और देवताओं द्वारा भी पूजित है । उसका आदि, मध्य अथवा अन्त नहीं है । वही अविनाशी ब्रह्म विष्णु, शंङ्कर कमलोत्पन्न ब्रह्मा रूपी वृक्ष का आविष्कारक है। पञ्च भूतात्मा प्रपञ्च को उसी ने अपने अंशों से व्याप्त कर रखा है । परन्तु इन पञ्च भूतात्मक अवयवों से वह स्वयं प्रभावित नहीं होता । वह स्वयं प्रकाशमान, सनातन, कल्याण स्वरूप एवं अत्यन्त महान् है । जिसके आचरण शुद्ध नहीं हुए हैं, जिस की इन्द्रियाँ असंयमित हैं, जिसका चित्त चंचल है, ऐसा मनुष्य ज्ञान का अभाव रहने के कारण इस ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता । वह भीतर, बाहर अथवा उभय बाह्याभ्यंतर को नहीं जानता । वह स्थूल, सूक्ष्म, ज्ञान रूप अज्ञान रूप भी नहीं है और न वह ग्रहण किया जा सकता है । वह किसी प्रकार व्यवहृत नहीं हो सकता । यह आंतरिक रूप से स्वयं स्थित है । इस प्रकार उसे जानने वाला ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।१८-२२।

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट परिव्राडेकाकी चरति, भयत्रस्त सारंगवत्तिष्ठतिः गमनविरोधं न करोति। स्पशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्या स्थित्वा स्वरूपानुसधान कुर्वन्सर्वमनन्यबुद्धया स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति। स परिव्राट सर्वक्रियाकारकनिवर्तको गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिमुक्तः सवसंसार विसृज्य मामोहितः। परिव्राट् कथ निर्धनिकः सुखी। धनवान् ज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिःप्रकाशः सववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति । तद्विष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते। तत्कैवल्यम्। इत्युपनिषत् ।।२३।।

जो संन्यासी अपने रूप को जानता है वह एकाकी ही घूमता

है। जैसे डरा हुआ हरिण कभी एक स्थान पर नहीं रहता, वैसे ही वह कभी एक स्थान पर नहीं ठहरता। अन्यत्र न जाने के अनुरोध को भी वह नहीं मानता। सब वस्तुओं को त्याग देता है और भिक्षावृत्ति से पेट भरता है। वह सदा अपने ही रूप का ध्यान करता है और सभी प्राणियों को अपना आत्मा ही मानता है। ऐसा आचरण करने वाला संन्यासी सर्व बन्धन मुक्त होता है। वह क्रिया और कारक में भेद नहीं मानता। गुरु, शिष्य और शास्त्र के बन्धन भी उसे नहीं बाँधते। वह संन्यासी त्यागी कभी दुःखादि से पीड़ित नहीं होता। इस सांसारिक ऐश्वर्य का त्याग करने पर ही संन्यासी सुखी हो सकता है। वह ब्रह्म-ज्ञान रूप ऐश्वर्य से युक्त होकर ज्ञान और अज्ञान से भी परे हो जाता है। उसे दुःख-सुख नहीं व्यापते। अपनी आत्मा से ही प्रकाश प्राप्त करके जानने योग्य पदार्थों को जान लेता है। वह सब सिद्धियों के देने में समर्थ होता हुआ सब का ज्ञाता और सब का स्वामी होता है। वह अपने को ही ब्रह्म मानता है। भगवान् विष्णु का परमपद वह परब्रह्म ही है। जो उसे प्राप्त कर लेता है वह पुनः संसार में नहीं आता। उस परलोक में सूर्य-चन्द्र अपना प्रकाश नहीं पहुंचा सकते। वहाँ जाने वाला आवागमन से छूट जाता है क्योंकि वही कैवल्य पद है।२३।

॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद् समाप्त ॥

———

# पैङ्गलोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्ति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

## प्रथमोध्यायः

अथ ह पङ्गलो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्य द्वादशवर्षशुश्रुषापूर्वकं परमरहस्यकैवल्यमनुब्रूहीत पप्रच्छ ॥१॥

स होवाच याज्ञवल्क्य—सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दपरिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ॥२॥

तस्मिन् मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषरेखाऽऽदिवल्लोहितशुक्लकृष्णा गुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्यामूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तत् साक्षिचैतन्यमासीत् ॥३॥

सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्त्वोद्रिक्ताऽव्यक्ताख्याऽऽवरणशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बतं यत्तदीश्वरचैतन्यमासीत्। स स्वाधीनमायः सर्वज्ञः सृष्टिस्थितिलयानामादिकर्त्ता जगदङ्कुररूपो भवति। स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगदाविर्भावयति। प्राणिकर्मवशादेष पटोयद्वत् प्रसारितः प्राणिकर्मक्षयात् पुनस्तिरोभावयति। तस्मिन्नेवाखिलं विश्वं संकोचितपटवद्वर्तते ॥४॥

ईशाधिष्ठितावरणशक्तितो रजोद्रिक्ता महदाख्या विक्षेपश-

क्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्धिरण्यगर्भचैतन्यमासीत् । स महत्तत्त्वाभिमानी स्पष्टास्पष्टवपुर्भवति ॥५॥

पैङ्गल ऋषि याज्ञवल्क्य के यहाँ गये और बारह वर्ष तक उनकी सेवा सुश्रूषा करने के पश्चात् उन्होंने कहा—'मुझे परम रहस्य कैवल्य का उपदेश दीजिये'' ।१। तब याज्ञवल्क्य ऋषि कहने लगे—पहले केवल सत् ही था। वही नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान, आनन्द से पूर्ण, सनातन एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म हैं।२। उसमें मरु-भूमि में जल, सीप में चाँदी, स्थाणु में पुरुष, स्फटिक में रेखा के आभास के समान लाल, श्वेत और कृष्ण ( सत्-रज-तम ), गुण वाली मूल प्रकृति उत्पन्न हुई, जिसमें तीनों गुण साम्यावस्था में थे। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ वही साक्षी-चैतन्य हुआ।३। वह मूल प्रकृति फिर जब विकारयुक्त हुई तब वह सत्वगुण वाली आवरण शक्ति हुई जिसे अव्यक्त कहते हैं। उसमें जो प्रतिविम्बित हुआ वह ईश्वर चैतन्य हुआ। वह सर्वज्ञ, माया को आधीन रखने वाला, सृष्टि, स्थिति प्रलय का कर्त्ता, जगत का अंकुर रूप है। वही अपने भीतर छिपे हुए जगत का आविर्भाव करने वाला है। वह प्राणियों के कर्मानुसार जिस प्रकार इस विश्व रूपी पट को फैलाता है उसी प्रकार प्राणियों के कर्मों का क्षय होने पर फिर उसे समेट लेता है। उसी में समस्त विश्व लपेटे हुए वस्त्र के समान रहता है।४। ईश्वर में अधिष्ठित आवरण-शक्ति से रजोगुणमयी विक्षेप शक्ति होती है जिसे महत् कहते हैं। उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह चैतन्य हिरण्यगर्भ कहा जाता है। वह महत तत्व वाला कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट आकार का होता है।५।

हिरण्यगर्भाधिष्ठितविक्षेपशक्तितस्तमोद्रिक्ताहंकाराभिधा स्थूलशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्विराट्चैतन्यमासीत् । स तदभिमानी स्पष्टवपुः सर्वस्थूलपालको विष्णुः प्रधानपुरुषो भवति। तस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः।

अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । तानि पञ्च तन्मात्राणि त्रिगुणानि भवन्ति ॥६॥

स्रष्टुकामो जगद्योनिस्तमोगुणमधिष्ठाय सूक्ष्मतन्मात्राणि भूतानि स्थूलीकर्तुं सोऽकामयत । सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधा विधायः पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वेस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्च पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतैरनन्तकोटिब्रह्माण्डानि तत्तदण्डोचितचतुर्दशभुवनानि तत्तद्भुवनोचितगोलकस्थूलशरीराण्यसृजत् ॥७॥

स पञ्चभूतानां रजोऽशांश्चतुर्धा कृत्वा भागत्रयात् पञ्चवृत्त्यात्मकं प्राणमसृजत् । स तेषां तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियाण्यसृजत् ॥८॥

स तेषां सत्त्वांशं चतुर्धा कृत्वा भागत्रयसमष्टितः पञ्चवृत्त्यात्मकमन्तः करणमसृजत् । स तेषां सत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियाण्यसृजत् ॥९॥

सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत् । तानि सृष्टान्यण्डे प्राक्षिपत् । तदाज्ञया समष्ट्यण्डं व्याप्य तान्यतिष्ठन् । तदाज्ञयाऽहंकारसमन्वितो विराट् स्थूलान्यरक्षत् । हिरण्यगर्भस्तदाज्ञया सूक्ष्माण्यपालयत् ॥१०॥

हिरण्यगर्भ में रहने वाली विक्षेप शक्ति से तमोगुण युक्त अहंकार नाम वाली स्थूल शक्ति का आविर्भाव होता है । उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ वह विराट् चैतन्य कहा जाता है । उसका अभिमानी स्पष्ट आकार का सर्व स्थूल जगत का पालनकर्त्ता प्रधान पुरुष 'विष्णु' होता है । उसकी आत्मा से आकाश की उत्पत्ति हुई । फिर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी—यह पांच तन्मात्रा तीन गुण वाले हुए ।६। जब उस जगतकर्ता को सृष्टि रचने की इच्छा हुई तो उसने तमोगुण में अधिष्ठित होकर सूक्ष्म

तन्मात्राओं को स्थूल पंचभूतों में परिणित करने की कामना की। सृष्टि किये हुए भूतों में से एक-एक के दो भाग कर दिए फिर उनमें से एक के चार-चार भाग किये। तब प्रत्येक भूत के आधे भाग में अन्य भूतों के आठवें भाग को मिलाकर सब का पंचीकरण किया और इस पंचीकृत भूतों से अत्यन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना की, उनके उपयुक्त चौदह भुवन बनाये और उन भुवनों के उपयुक्त स्थूल शरीरों की रचना की।७। पंचभूतों के रजोगुण वाले अंश के चार हिस्से करके तीन हिस्से से पाँच प्रकार के प्राण और चौथे से कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न किया।८। इसी प्रकार पंचभूतों के सतोगुण वाले अंश के चार भाग करके उनमें तीन भाग द्वारा पाँच क्रियावृत्ति वाला अन्तःकरण और चौथे भाग से ज्ञानेन्द्रियों को उत्पन्न किया।९। सत् अंश के समिष्ट से पाँचो इन्द्रियों के देवता उत्पन्न करके उनको ब्रह्माण्डों में स्थापित कर दिया उसकी आज्ञा से वे सब ब्रह्माण्डों में व्याप्त होकर रहने लगे और अहंकार से युक्त विराट स्थूल जगत की रक्षा करने लगा। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्ष्म सृष्टि का पालन करने लगा।१०।

अण्डस्थानि तानि तेन विना स्पन्दितं चेष्टितुं वा न शेकुः। तानि चेतनीकर्तुं सोऽकामयत। ब्रह्माण्डं ब्रह्मरन्ध्राणि व्यष्टिमस्तकान् विदार्य तदेवानुप्राविशत्। तदा जडान्यपि तानि चेतनवत्-स्वस्वकर्माणि चक्रिरे॥११॥

सर्वज्ञेशो मायालेशसमन्वितो व्यष्टिदेहं प्रविश्य तया मोहितो जीवत्वमगमत्। शरीरत्रयतादात्म्यात् कर्तृभोक्तृत्वतामगमत्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणधर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमतीति॥१२॥

ब्रह्माण्ड में स्थिति वे उसके बिना गमनशील न हो सके न चेष्टा कर सके। उसने उनको चैतन्य करने की कामना की और समस्त व्यष्टि का मस्तक विदीर्ण करके ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मरंध्रों में प्रवेश किया।

तब जड़ होते हुए भी वे चेतन के समान कर्मशील हो गये ।११। सर्वज्ञ ईश्वर माया से समन्वित होकर व्यष्टि देह में प्रविष्ट हुआ और मोहवश जीवभाव को प्राप्त हो गया । तीन प्रकार के शरीरों से तादात्म होकर वह कर्तापन और भोक्तापन का अनुभव करने लगा । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा मरण-धर्म को प्राप्त करके उद्विग्न होकर घटिका यत्र ( समय सूचक घड़ी ) अथवा कुम्हार के चक्र की तरह जगत में फिरने लगा ।१२।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

## द्वितीयोऽध्यायः

अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीशः कथं जीवत्वमगमदिति ॥१॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः – स्थूलसूक्ष्मकारणदेहोद्भवपूर्वकं जीवेश्वरस्वरूप विविच्य कथयामीति सावधानेनैकाग्रतया श्रूयताम् । ईशः पञ्चीकृतमहाभूतलेशानादाय व्यष्टिसमष्ट्यात्मकस्थूलशरीराणि यथाक्रमकरोत् । कपालचर्मान्त्रास्थिमांसनखानि पृथिव्यंशाः । रक्तमूत्रलालास्वेदादिका अवशाः । क्षुतृष्णोष्णमोहमथुनाद्या अग्न्यंशाः । प्रचारणोत्तारणश्वासादिका वाय्वंशाः । कामक्रोधादयो व्योमांशाः । एतत्सघातं कर्मसंचितं त्वगादियुक्तं बाल्याद्यवस्थाऽभिमानास्पदं बहुदोपाश्रयं स्थूलशरीरं भवति ॥२॥

अथापञ्चीकृतमहाभूतरजोंशभागत्रयसमष्टितः प्राणमसृजत् । प्राणापानव्यानोदानसमानाः प्राणवृत्तयः । नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया उपप्राणाः । हृदासनाभिकण्ठसर्वाङ्गं स्थानम् । आकाशादिरजोगुण तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियसृजत् । वाक्पाणिपादपायूपस्थास्तद्वृत्तयः । वचनादानगमनविसर्गानन्दास्तद्विषयाः । एवं भूतसत्त्वांशभागत्रयसमष्टितोऽन्तःकरणम-

सृजत् । अन्तः करणमनोबुद्धिचित्ताहंकारास्तद्वृत्तयः । संकल्प-निश्चयस्मरणाभिमानानुसंधानास्तद्विषयाः । गलवदननाभि-हृदयभ्रूमध्यं स्थानम् । भूतसत्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियमसृजत् । श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणास्तद्वृत्तयः । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्त-द्विषयाः ।

दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शंभुश्च करणाधिपाः ॥३

अथान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्चकोशाः । अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्यान्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोशः । तदेव स्थूलशरीरम् । कर्मेन्द्रियैः सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोशः । ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमय-कोशः । ज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः । एतत्कोशत्रयं लिङ्गशरीरम् । स्वरूपाज्ञानमानन्दमयकोशः । तत् कारण-शरीरम् ॥४॥

अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चकमन्तःकरणचतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम् ॥५॥

पैङ्गल ऋषि ने फिर याज्ञवल्क्यजी से पूछा कि "समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाला ईश्वर किस प्रकार जीव भाव को प्राप्त होता है ?" ।१। याज्ञवल्क्य ने कहा—स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के उद्भवपूर्वक जीव और ईश्वर के स्वरूप का विवेचन करके तुझको बतलाता हूँ उसे ध्यान लगाकर सुनो । ईश्वर ने व्यष्टि और समष्टि के स्थूल शरीरों को पचीकृत महाभूतों का अंश लेकर क्रमशः उत्पन्न किया है । कपाल, चर्म, आतें, अस्थि, मांस और नख ये पृथ्वी के अंश से हैं । रक्त, मूत्र, लार, पसीना आदि जल के अंश से हैं । भूख, प्यास, उष्णता, मोह, मैथुन आदि अग्नि के अंश से हैं । चलना, उठना, बैठना, साँस लेना आदि वायु के अंश से हैं । आकाश के

अंश, काम, क्रोध आदि हैं। इस भाँति इन सब के संघात व कर्म से निर्मित त्वचा आदि से युक्त बाल्यावस्था आदि की भावना वाला, बहुत से दोषों का आश्रयरूप यह स्थूल शरीर होता है ।२। फिर अपंचीकृत महाभूतों के रजांश के तीन भागों को लेकर प्राण की रचना की गई। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच प्राण और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय—ये पाँच उप-प्राण हैं। हृदय मुख, नाभि, कण्ठ ये सब शारीरिक अंग उनके स्थान हैं। आकारादि पंच महाभूतों के चतुर्थ भाग से कर्मेन्द्रियाँ बनाई गई जो वाणी, हाथ, पैर गुदा उपस्थ हैं। वचन, दान, गमन, विसर्जन और आनन्द इन इन्द्रियों के विषय हैं। इसी प्रकार महाभूतों के सत् अंश के तीन भागों से अन्तःकरण उत्पन्न किया। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और अन्तःकरण उसकी वृत्तियाँ हैं। संकल्प, निश्चय, स्मरण, अभिमान और अनुसन्धान उनके कार्य हैं। गला, मुख, नाभि, हृदय, भौंहों का मध्य उनके स्थान हैं। सत्—अंश के चतुर्थ भाग से ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न कीं जो कान, त्वचा, नेत्र जिह्वा घ्राण हैं। इनके विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। दिशायें, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु यम ) चन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा, शम्भु—ये इन इंद्रियों के अधिपति हैं ।३। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—ये पाँच कोश हैं। अन्न के रस से बनने वाला, अन्न के रस से बढ़ने वाला और अन्नरसमय पृथ्वी में ही लय होने वाला अन्नमय कोश है। यही स्थूल शरीर होता है कर्मेन्द्रिय सहित पाँच प्रकार के प्राणों का प्राणमय कोश होता है। ज्ञानेन्द्रिय सहित मन का मयोमय कोश होता है और ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि होने से विज्ञानमय कोश होता है। ये तीनों कोश मिलकर लिंग शरीर होता है। जिसमें स्वरूप का अज्ञान होता है वह आनन्दमय कोश है और यही कारण शरीर है ।४। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच भूत, चार अन्तःकरण, काम, कर्म, अविद्या—इनको पुर्यष्टका कहते हैं ।५।

ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत् । विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको जाग्रत्स्थूलदेहाभिमानो कर्मभूरिति च विश्वस्य नाम भवति ॥६॥

ईशाज्ञया सूत्रात्मा व्यष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रविश्य मन अधिष्ठाय तैजसत्वमगमत् । तैजसः प्रातिभासिकः स्वप्नकल्पित इति तैजसस्य नाम भवति ॥७॥

ईशाज्ञया मायोपाधिरव्यक्तसमन्वितो व्यष्टिकारणशरीरं प्रविश्य प्राज्ञत्वमगमत् । प्राज्ञोऽविच्छिन्नः पारमार्थिकः सुषुप्त्यभिमानीति प्राज्ञस्य नाम भवति ॥८॥

अव्यक्तलेशाज्ञानाच्छादितपारमार्थिकजीवस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानि ब्रह्मणैकतां जगुः नेतरयोर्व्यावहारिकप्रातिभासिकयोः ॥९॥

अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्य यत् तदेवावस्थात्रयभाग्भवति । स जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः प्राप्य घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव स्थितो भवति ॥१०॥

ईश्वर की आज्ञा से व्यष्टि में प्रविष्ट होकर विराट ने बुद्धि में रह कर विश्व की संज्ञा प्राप्त की । विज्ञानात्मा, चिदाभास, विश्व, व्यावहारिक, जागृत स्थूल देहाभिमानी, कर्म भू—ये विश्व के नाम हैं ।६। ईश्वर की आज्ञा से सूत्रात्मा व्यष्टि सूक्ष्म देह में प्रवेश करके मन के अधिष्ठान से तैजस हुआ । तैजस, प्रातिभासिक, स्वप्नकल्पित ये तैजस के नाम हैं ।७। ईश्वर की आज्ञा से माया की उपाधियुक्त अव्यक्त व्यष्टि के कारण शरीर में प्रविष्ट होकर प्राज्ञ हुआ । प्राज्ञ अविच्छिन्न, पारमार्थिक, सुषुप्ति का अभिमानी—ये प्राज्ञ के नाम हैं ।८। परमार्थिक जीव, जो अव्यक्त के अंश रूप अज्ञान से ढका होता

है, ब्रह्म का अंश होता है, जैसा कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से प्रकट होता है। पर व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक अंश ब्रह्म से ऐसी एकता नहीं रखते।९। अन्तःकरण में जो चैतन्य प्रतिविम्बित होता है वही जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है। चैतन्य ही इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होकर घटी-यन्त्र के समान उद्विग्न होता है और मृतक के समान हो जाता है।१०।

अथ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणावस्थाः पञ्च भवति। तत्तद्देवताऽनुग्रहान्वितैः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषयग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति। तत्र भ्रूमध्यं गतो जीव आपादमस्तकं व्याप्त कृषिश्रवणाद्यखिलक्रियाकर्ता भवति। तत्तत्फललभुक् च भवति। लोकान्तरं गतः कर्मार्जितफलं स एव भुङ्क्ते। स सार्वभौमवत्व्यवहाराच्छ्रान्त अन्तर्भवनं प्रवेष्टुं मार्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥११॥

करणोपरमे जाग्रत्संस्काराऽर्धप्रबोधवत्ग्राह्यग्राहकरूपस्फुरणं स्वप्नावस्था भवति। तत्र विश्व एव जाग्रत्व्यवहारलोपान्नाडीमध्य चरंस्तैजसत्वमवाप्य वासनारूपकं जगद्वैचित्र्यं स्वभासा भासयन् यथेप्सितं स्वयं भुङ्क्ते ॥१२॥

चित्तैककरणाः सुषुप्त्यवस्था भवति। श्रमविश्रान्तशकुनिः पक्षौ संहृत्य नीडाभिमुखं यथा गच्छति तथा जीवोऽपि जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चे व्यवहृत्य श्रान्तोऽज्ञानं प्रविश्य स्वानन्दं भुङ्क्ते ॥१३॥

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा और मरण – ये पाँच अवस्थाऐं कही जाती हैं। जाग्रत अवस्था वह है जिसमें कान, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने देवताओं की शक्ति से युक्त होकर विषयों को ग्रहण करती हैं। उस अवस्था में जीव भौंहों के मध्य में निवास करता

है, पर मस्तक से लेकर चरण तक समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और कृषि से लेकर श्रवण तक अर्थात् कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के सब कामों को करता है और उनका फल भी प्राप्त करता है इन कर्मों का फल उसे परलोक में भी भोगना होता है। वह एक सार्वभौम राजा के समान सांसारिक कार्यों से थक कर भीतर के विश्राम स्थान में जाने की कामना से मार्ग में ठहरता है।११। जब इन्द्रियाँ अपनी क्रिया बन्द कर देती हैं तब जाग्रत अवस्था के संस्कारों से ग्राह्य-ग्राहक रूप जो स्फुरणा होती है वह स्वप्नावस्था है। उस अवस्था में विश्व नाम का जीव जाग्रत अवस्था के व्यवहार का लोप करके नाड़ी के मध्य तेजस भाव को प्राप्त होता है। वह अपनी वासना के अनुसार अपने ही आभास से विचित्र जगत की सृष्टि करके स्वयं ही इच्छानुसार उसका भोग करता है।१२। सुषुप्ति अवस्था में चित्त ही एक कारण होता है। जिस प्रकार भ्रमण करके श्रान्त होने पर पक्षी पंख समेट कर घोंसले की ओर जाता है, वैसे ही जीव भी जाग्रत और स्वप्न के प्रपञ्चों से थक जाने पर अज्ञान में प्रवेश करके आनन्द को भोगता है।१३।

अकस्मान्मुद्गरदण्डाद्यैस्ताडितवद्भयाज्ञानाभ्यामिन्द्रियसंघातैः कम्पन्निव मृततुल्या मूर्च्छा भवति ॥१४

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छाऽवस्थानामन्या ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तसर्वजीवभयप्रदा स्थूलदेहविसर्जनी मरणावस्था भवति ॥१५

कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान् प्राणान् संहृत्य कामकर्मान्वितः अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति। प्राक्कर्मफलपाकेनावर्तान्तरकीटवद्विश्रान्तिं नैव गच्छति ॥१६

सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा

जायते । तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकालसेवया बन्धं मोक्षं कश्चित् पृच्छति ॥१७॥

अविचारकृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति । तस्मात् सदा विचारयेत् । अध्यारोपापवादः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते । तस्मात् सदा विचारयेज्जगज्जीवपरमात्मनः । जीवभावजगद्भावबाधे प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैवावशिष्यत इति ॥१८॥

दण्ड और मुद्गर का अकस्मात प्रहार किये हुए व्यक्ति के सदृश्य भय और अज्ञान से जिसकी सब इन्द्रियाँ काँप रही हों ऐसी मृततुल्य अवस्था मूर्छा है।१४। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्छा से भिन्न मरण अवस्था है जिससे कीड़े से लेकर ब्रह्मा तक को भयभीत होना पड़ता है और स्थूल देह का नाश हो जाता है।१५।

उस समय कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्रायें और प्राण--इन सबको संकल्पित करके काम और कर्म से समन्वित हुआ जीव अविद्या से आवेष्ठित होकर अन्य देह को प्राप्त करके परलोक गमन करता है। पूर्व कर्मों के फल को भोगने में फँसे रहने से वह उसी प्रकार शान्ति नहीं पाता जिस प्रकार भंवर में फँसा हुआ कीड़ा।१६। जब सत्कर्मों के परिपाक से अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की भावना मोक्ष की तरफ होती है तब वह किसी सद्गुरु का आश्रय लेकर चिरकाल तक उनकी सेवा करके बन्धन से छुटकारा पाकर मोक्ष को प्राप्त होता है।१७। अविचार से बन्धन होता है और सुविचार से मोक्ष होती है, इसलिये सदा उत्तम विचार करना चाहिए। स्वरूप का निश्चय आध्यारोप और अपवाद से किया जाता है। इस प्रकार जगत्, जीव और ईश्वर के जीव भाव और जगतभाव का निराकरण करने से अपने प्रत्यगात्मा से अभिन्न केवल ब्रह्म ही शेष रहता है।१८।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

## तृतीयोऽध्यायः

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महावाक्यविवरणमनुब्रूहीति ॥१॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—तत्त्वमसि, त्वं तदसि, ब्रह्मास्याहं ब्रह्मास्मीत्यनुसंधानं कुर्यात् ॥२॥

तत्र परोक्ष्यशबलः सर्वज्ञत्वादिलक्षणो मायोपाधिः सच्चिदानन्दलक्षणो जगद्योनिस्तत्पदवाच्यो भवति। स एवान्तःकरणसंभिन्नबोधोऽस्मत्प्रत्ययालम्बनस्त्वंपदवाच्यो भवति। परजीवोपाधिमायाऽविद्य विहाय तत्वंपदलक्ष्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ॥३॥

तत्वमसीत्यहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थविचारः श्रवणं भवति। एकान्तेन श्रवणार्थानुसंधानं मननं भवति। श्रवणमननिर्विचिकित्स्येऽर्थे वस्तुन्येकतान तया चेतः स्थापनं निदिध्यासनं भवति। ध्यातृध्यानं विहाय निवातस्थितदीपवद्ध्येयैकगोचरं चित्तं समाधिर्भवति ॥४॥

तदानीमात्मगोचरवृत्तयः समुत्थिता अज्ञाता भवति। ताः स्मरणादनुमीयन्ते। इहानादिसंसारे संचिताः कर्मकोटयोऽनेनैव विलयं यान्ति। ततोऽभ्यासपाटवात् सहस्रशः सदाऽमृतधारा वर्षति। ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघ प्राहुः। वासनाजाले निःशेषममुना प्रविलापिते कर्मसंचये पुण्यपाप समूलोन्मूलिते प्राक् परोक्षमपि करतलामलकवद्वाक्यमप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्कारं प्रसूयते। तदा जीवन्मुक्तो भवति ॥५॥

फिर पैंगल ने याज्ञवल्क्य से कहा—"मुझे महावाक्यों का भावार्थ समझाइये ? ।१। याज्ञवल्क्य बोले—"तत्सगसि' ( वह तू है ) 'त्वं तदसि' वह है ) 'त्वं ब्रह्मासि' ( तू ब्रह्म है ) 'अहं ब्रह्मास्मि' ( मैं ब्रह्म हूं )—ये महावाक्य हैं, जिनके सम्बन्ध में विचार करना

चाहिए ।२। 'तत्वमसि' में 'तत्' पद से सर्वज्ञता आदि लक्षण वाला माया की उपाधियुक्त, सच्चिदानन्द रूप, जगत का मूल-स्थान, ऐसे अव्यक्त ईश्वर का बोध होता है। अन्तःकरण की उपाधि के कारण वही ईश्वर भिन्नता का बोध होने से 'त्वम्' पद द्वारा भी प्रकट किया जाता है। ईश्वर की उपाधि माया और जीव की अविद्या है, इनको छोड़ देने से 'तत्' और 'त्वम्' पदों का आशय उस ब्रह्म से है जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न है ।३। इस प्रकार 'तत्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' का श्रवण होता है। एकान्त स्थान में बैठकर इन महावाक्यों का अर्थानुसन्धान करना ही मनन है। श्रवण और मनन द्वारा निर्णय की गई अर्थ स्वरूप वस्तु में एकाग्रतापूर्वक चित्त को स्थापित करना निदिध्यासन कहा जाता है। जब ध्याता और ध्यान के भाव को छोड़कर केवल ध्येय में रहती हुई चित्तवृत्ति निर्वात स्थान में रखे दीपक की ज्योति के समान स्थिर हो जाती है तो वह समाधि की अवस्था होती है ।४। उसमें वृत्तियां आत्माकार हो कर अगोचर हो जाती हैं और स्मृति से ही उनका अनुमान किया जाता है। इस अवस्था के होने से संसार में अनादिकाल से सचित होने वाले करोड़ों कर्म नष्ट हो जाते हैं। फिर अभ्यासपटुता होने पर सदैव अमृत्व की सहस्रों धाराओं की वर्षा हुआ करती है। इसी लिए योगविद समाधि को धर्म-मेघ कहा करते हैं। इसके द्वारा समस्त वासना-जाल निशेःष हो जाते हैं, पुण्य और पाप, दोनों प्रकार के कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं और तब 'तत्वमसि' पद का जो आशय पहले विचार द्वारा परोक्ष रूप से ज्ञात होता था वह अब हथेली पर रखे आमले की तरह बिना किसी अवरोध के स्पष्टतः ज्ञात होने लगता है और ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, जिससे योगी जीवन्मुक्त हो जाता है ।५।

ईशः पञ्चीकृतभूतानाम पञ्चीकरणं कर्तुं सोऽकामयत। ब्रह्माण्डतद्गतलोकान् कार्यरूपांश्च कारणत्व प्रापयित्वा यतः

सूक्ष्माङ्गं कर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्च ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरणचतुष्टयं चैकीकृत्य सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूयपञ्चके संयोज्य भूमिं जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहकारे चाहंकारं महति महदव्यक्तेऽव्यक्तं पुरुषे क्रमेण विलीयते। विराड्ढिरण्यगर्भेश्वरा उपाधिविलयात् परमात्मनि लीयन्ते। ६॥

पञ्चीकृतमहाभूतसंभवकर्मसंचितस्थूलदेह कर्मक्षयात् सत्कर्मपरिपाकतोऽपञ्चीकरण प्राप्य सूक्ष्मेणैकीभूत्वा कारणरूपत्वमासाद्य तत्कारणं चूटस्थे प्रत्यगात्मनि विलीयते। विश्वतैजसप्राज्ञाः स्वस्वोपाधिलयात् प्रत्यगात्मनि लीयन्ते ॥७॥

अण्ड ज्ञानाग्निना दग्धं कारणैः सह परमात्मनि लीनं भवति। तता ब्राह्मणः समाहितो भूत्वा तत्त्वं पदैयदमेव सदा कुर्यात्। ततो मेघापायेंऽशुमानिवात्माऽऽविर्भवति ॥८

ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्।
अंगुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ॥९
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत् कटस्थमव्ययम्।
ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैव चासुप्तेरामृतेस्तु यः ॥१०
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्।
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥११

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमल निरामयम् ॥ १२॥ इति ॥

जब ईश्वर ने पञ्चीकृत भूतों को फिर अपचीकृत करने की कामना की तो उसने ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत लोकों को कार्य रूप से फिर कारण रूप में प्राप्त करा दिया। सूक्ष्य कर्मेन्द्रियों, प्राण, ज्ञानेन्द्रियों और चारों अन्तःकरण को एकत्र करके समस्त भौतिक

पदार्थों को उनके कारणभूत पंचक में मिला दिया। तत्पश्चात् भूमि जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, प्रकाश वायु में, प्रकाश अहंकार में, अहंकार महत् में, महत् अव्यक्त में और अव्यक्त पुरुष में क्रम से लय हो गये। विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर भी उपाधियां न रहने से परमात्मा में लीन हो जाते हैं।६। पंचीकृत महाभूतों द्वारा बना और संचित कर्मों से प्राप्त स्थूल देह बन्धनकारी कर्मों के क्षय होने तथा सत् कर्मों का परिपाक होने से अपंचीकृत होकर सूक्ष्म में मिल कर कारण रूप को प्राप्त हो जाता है। फिर वह कारण के कारण कूटस्थ प्रत्यगात्मा में लय हो जाता है। विश्व में तैजस और प्राज्ञ भी अपनी उपाधियों के नष्ट हो जाने से प्रत्यगात्मा में लीन हो जाते हैं।७। ब्रह्माण्ड अपनी कारणरूपी अविद्या के साथ ज्ञानाग्नि में भस्म हो कर परमात्मा में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण (ब्रह्मरत पुरुष) को समाहित भाव से सदैव 'तत्' और 'त्वम्' पदों का ऐक्य करते रहना चाहिए। ऐसा करने से आत्मा का साक्षात्कार उसी प्रकार होने लगता है जिस प्रकार मेघों के हटने से सूर्य का प्रकाश प्रकट हो जाता है।८। कलश के मध्य में रखे हुए दीपक के सदृश्य शरीर में रहने वाले निर्धूम ज्योति रूप अंगुष्ठमात्र आत्मा का ध्यान करे।९। अन्तःप्रदेश में स्थित प्रकाशयुक्त कूटस्थ अव्यय आत्मा का जो ज्ञानी पुरुष सोने के समय तक सदैव और मृत्यु के समय भी ध्यान करता रहता है उसे जीवन्मुक्त समझना चाहिए। वह धन्य है, वह कृतकृत्य है। जीवन्मुक्त अवस्था के समाप्त होने हर वह इस देह को त्याग विदेह मुक्त की अवस्था को उसी प्रकार प्राप्त होता है जैसे पवन का बहना बन्द हो जाय।१०-११। फिर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित अव्यय, नित्य, अनादि, अनन्त महत् से पर और ध्रुव ऐसा निरामय ब्रह्म ही शेष बच जाता है॥१२।

॥ तीसरा अध्याय समाप्त ॥

## चतुर्थोऽध्यायः

अथ ह पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं ज्ञानिनः किं कर्म का च स्थितिरति ॥१॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः--अमानित्वादिसंपन्नो मुमुक्षुरेकविंशतिकुलं तारयति। ब्रह्मविन्मात्रेण कुलमेकोत्तरशतं तारयति ॥२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
जङ्गमानि विमानानि हृदयानि मनीषिणः ॥४
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः।
ततो नारायणः साक्षाद्धृदये सुप्रतिष्ठितः ॥५

पैंगल ऋषि ने फिर याज्ञवल्क्यजी से पूछा कि ''ज्ञानियों के कर्म और उनकी स्थिति कैसी होती है ? ।१। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—जो मुमुक्षजन अमानित्वादि साधन सम्पन्न होते हैं वे अपनी इक्कीस पीढ़ियों को तार देते हैं। ब्रह्म को जान लेने से एकसौ पीढ़ी तर जाती हैं।२। यह आत्मा ही रथी है और शरीर रथ है, बुद्धि सारथी और मन लगाम है ।३। इन्द्रियां घोड़े हैं जो विषय रूप मार्ग पर चलते हैं। पर बुद्धिमान का हृदय इन सब से हट कर विमान के समान उठता है ।४। महान् ऋषियों के कथनानुसार यह आत्मा इन्द्रिय और मव से युक्त होकर भोक्ता बनता है और हृदय में साक्षाद् नारायण निवास करते हैं ॥५॥

प्रारब्धकर्मपर्यन्तमहिनिर्मोकवद्व्यवहरति।
चन्द्रवच्चरते देही स मुक्ताश्चानिकेतनः ॥६
तीर्थे श्वपचगृहे वा तनुं विहाय याति कैवल्यम्।
प्राणानवकीर्य याति कैवल्यम् ॥७

तं पश्चाद्दिग्बलिं कुर्यादथवा खननं चरेत् ।
पुंसः प्रव्रजनं प्रोक्तं नेतराय कदाचन ॥८

नाशौचं नाग्निकार्यं च न पिण्डं नौदक क्रिया ।
न कुर्यात् पार्वणादीनि ब्रह्मभूताय भिक्षवे ॥९

दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ॥१०

जब तक प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं हो जाता तब तक जीव साँप के कैंचुली बदलने के समान अन्य देह धारण करता रहता है। पर जो चन्द्रमा के समान क्रमशः कर्म क्षय की ओर बढ़ते हैं वे मुक्त हो जाते हैं।६। ऐसा योगी चाहे तीर्थ स्थान में और चाहे चाण्डाल के घर में प्राण-त्याग करे, वह सदैव कैवल्य को हीं प्राप्त होता है। उसकी देह को चाहे जंगल में डाल रखा जाय, चाहे गाढ़ दिया जाय, सब समान ही है। यह विधि संन्यासी के लिये ही है किसी अन्य के लिए नहीं।८। जो संन्यासी ब्रह्मभूत हो चुका है उसके लिए सूतक नहीं रहता।६। जिस प्रकार जले हुए को फिर नहीं जलाया जाता और पके हुए का फिर पकाना अनावश्यक है, इसी प्रकार जो ज्ञानरूपी अग्नि से दग्ध हो चुके हैं उनके लिए श्राद्ध और क्रिया कर्म की कोई आवश्यकता नहीं।१०।

यावच्चोपाधिपर्यन्त तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम् ।
गुरुवद्गुरुभार्यायां तत्पुत्रेषु च वर्तनम् ॥११

शुद्धमानसः शुद्धचिद्रूपः सहिष्णुः सोऽहमस्मि सहिष्णुः सोऽहमस्मीति प्राप्ते ज्ञानेन विज्ञाने ज्ञेये परमात्मनि हृदि संस्थिते देहे लब्धशान्तिपदं गते तदा प्रभामनोबुद्धिशून्यं भवति ॥१२

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम् ? एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति ? ज्ञानामृततृप्तयोगिनो न

किंचित् कर्तव्यमस्ति । तदस्ति चेन्न स तत्वविद्भवति । दूरस्थोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जितः पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति ॥१३॥

हृदयं निर्मलं कृत्वा चिन्तयित्वाऽप्यनामयम् ।
अहमेव परं सर्वमिति पश्येत् परं सुखम् ॥१४

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥१५

जब तक सांसारिक उपाधि का नाश न हो तब तक गुरु की सेवा करनी चाहिए और उनके समान ही गुरुपत्नी तथा गुरुपुत्र से भी व्यवहार करना चाहिए ।११। 'मैं ही शुद्ध मत वाला, शुद्ध चैतन्य रूप, सहिष्णु हूँ—मैं ही सहिष्णु हूं' इस प्रकार के ज्ञान का जब उदय हो जाय, ज्ञान के अनुभव से ज्ञेय रूप परमात्मा हृदय में भली प्रकार आरूढ़ हो जाय, देह शान्तियुक्त पद को प्राप्त हो जाय, तब साधक मन और बुद्धि से रहित चैतन्य रूप हो जाता है ।१२। जो व्यक्ति अमृतपान करके तृप्त हो चुका उसे दूध से क्या प्रयोजन ? इसी प्रकार जो आत्मज्ञान प्राप्त कर चुके हैं उनको वेदों से क्या प्रयोजन हो सकता है ? जो योगी ज्ञानामृत से तृप्त हो चुका उसके लिए कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता और यदि शेष रहे तो वह पूर्णज्ञानी नहीं है । वह दूर होने पर भी समीप ही हैं और पिण्ड में रहते हुए भी पिण्ड से पृथक सर्वव्यापी प्रत्यगात्मा है ।१३। हृदय को निर्मल करके और अनामय ब्रह्म का चिन्तन करके यह जान लेना चाहिए कि 'मैं ही सर्व-रूप ब्रह्म हूं, मैं ही परम सुख-रूप हूँ' ।१४। जल में जल डालने से दूध में दूध मिला देने से, घी में घी मिलाने से वे एक रूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के मिल जाने पर उनमें भी कोई अन्तर नहीं रहता है ।१५।

देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकाररूपा यदा भवति तदा विद्वान् ब्रह्मज्ञानाग्निना कर्मबन्ध निर्दहेत् ॥१६

ततः पवित्रं परमेश्वराख्यमद्वैतरूपं विमलाम्बराभम् ।
यथोदके तोयमनुप्रविष्टं तथाऽऽत्मरूपो निरुपाधिसंस्थितः ॥१७
आकाशवत् सूक्ष्मशरीर आत्मा
न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा ।
स बाह्यमभ्यन्तरनिश्चलात्मा
ज्ञानोल्कया पश्यति चान्तरात्मा ॥१८

यत्रयत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना ।
यथा सर्वगतं व्योम तत्रतत्र लयं गतः ॥१९

घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्वतः ।
स गच्छति निरालम्बं ज्ञानालोकं समन्ततः ॥२०

जब ज्ञान द्वारा देहाभिमान नष्ट हो जाता है और बुद्धि अखण्डाकार हो जाती है तब बुद्धिमान पुरुष ज्ञानरूपी अग्नि से कर्म-बन्धनों को भस्मसात कर देता है ।१६। फिर वह विमल वस्त्र के समान होकर पवित्र और अद्वैत ब्रह्म को प्राप्त करके उसी प्रकार अपने सत्य स्वरूप में स्थित हो जाता है जैसे जल दूसरे जल में मिल कर अभिन्न हो जाता है ।१७। आत्मा आकाशवत् सूक्ष्म और वायु के समान दिखाई न पड़ने वाली है। वह भीतर और बाहर से भी निश्चल है केवल ज्ञान रूपी मशाल से ही वह देखी जा सकती है ।१८। ज्ञानी कहीं भी और कैसे भी देह-त्याग करे, वह ब्रह्म में ही मिल जाता है क्योंकि जैसे आकाश सर्वत्र है वैसे ही ब्रह्म भी सर्वव्यापी है ।१९। जैसे घटाकाश आकाश में समाया रहता है उसी प्रकार जो योगी अपने वास्तविक तत्त्व को जान लेता है वह सब ओर से निरालम्ब और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश को प्राप्त कर लेता है ।२०।

तपेद्वर्षसहस्राणि एकपादस्थितो नरः ।
एतस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥२१
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत् सर्वं ज्ञातुमिच्छति ।
अपि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधिगच्छति ॥२२
विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वाऽपि चञ्चलम् ।
विहाय शास्त्रजालानि यत् सत्यं तदुपास्यताम् ॥२३
अनन्तकर्म शौचं च जपो यज्ञस्तथैव च ।
तीर्थयात्राभिगमनं यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥२४
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम् ।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ॥२५

चाहे कोई एक पैर पर खड़े रह कर एक सहस्र वर्ष तक तप करे तो भी वह ध्यान योग की सोलह में से एक कला की समता भी नहीं कर सकता ।२१। यदि कोई समस्त ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहे तो एक हजार वर्ष तक शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी उसका अन्त नहीं मिल सकेगा ।२२। इसलिये मनुष्य को यही जान लेना चाहिये कि केवल एक अक्षर ब्रह्म ही सत्य है । मनुष्य का जीवन चचल है इसलिये शास्त्रों के जाल में न पड़ कर, जो सत्य है उसकी उपासना ही कर्तव्य है ।२३। तरह-तरह के कर्म शौच, जप, यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि तभी तक हैं जब तक तत्व की प्राप्ति नहीं होती ।२४। महात्मा पुरुषों की मोक्ष का आधार यह भाव ही होता है कि 'मैं ब्रह्म हूं' । बन्धन और मोक्ष के कारण दो ही पद हैं एक 'मेरा है' और दूसरा 'मेरा नहीं है' ।२५।

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।
मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥२६
यदा यात्युन्मनोभावस्तदा तत् परमं पदम् ।
यत्रतत्र मनो याति तत्रतत्र परं पदम् ॥२७

तत्रतत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ।
हन्यान्मुष्टिभिराकाशं क्षुधाऽऽर्तः खण्डयेत्तुषम् ।
नाहं ब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते ॥२८

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । स आदित्यपूतो भवति । स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपुतो भवति । स रुद्रपूतो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्ववेदव्रत-चर्यासु चरितो भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसह-स्राणि जप्तानि जलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। दश पूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति। प्र पङ्क्तिपावनो भवति। स महान् भवति। ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुतल्पगमनतत्संयो-गिपातकेभ्यः पूतो भवति ॥२६॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥३०
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥३१
ॐसत्यमित्युपनिषत् ॥

'मेरा' कहने से ही बन्धन होता है और 'मेरा नहीं है' कहने से मोक्ष प्राप्त होती है । जब मन उन्मनी भाव को प्राप्त हो जाता है तब द्वैत-भाव मिट जाता है ।२६। जब उन्मनी भाव प्राप्त होता है से परमपद की प्राप्ति हो जाती है । उस अवस्था में मन जहां रहता है वही परमपद है ।२७। परब्रह्म ही जहां-तहां स्थिर है। जिस प्रकार कोई आकाश में घूँसा मारे अथवा चावल प्राप्त करने के लिए भूसी को कूटे उसी प्रकार जो व्यक्ति ब्रह्म को नहीं जानता उसका मुक्ति के लिए प्रयत्न निष्फल होता है ।२८। जो इस उपनिषद् को नित्य पढ़ता है वह अग्नि, वायु, सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र के समान पवित्र होता है ।

वह सब तीर्थों में स्नान किये हुए के समान होता है। वह सब वेदों का ज्ञाता होता है। उसको समस्त वेदानुकूल व्रतों का फल प्राप्त हो जाता है। उसको इतिहास, पुराण आदि के पढ़ने तथा रुद्र के लाखों जप करने का फल प्राप्त हो जाता है। उसे दस हजार प्रणव के जप का फल प्राप्त होता है। उसकी दश पिछली और दश आगामी पीढ़ी पवित्र हो जाती हैं। उसके साथ बैठने वाले भी पवित्र हो जाते हैं। वह महान् होता है। ब्रह्म हत्या, सुरापान, स्वर्ण की चोरी, गुरु-स्त्री गमन आदि जैसे महापाप करने वालों की संगत के पाप से भी वह छूट जाता है ।२९। जिस प्रकार नेत्रों से समस्त आकाश दिखाई देता है उसी तरह वह विप्र ( विद्वान ) विष्णु पद को स्पष्ट देखता है ।३०। वे जाग्रत रह कर उस विष्णु पद की स्तुति कर उसको प्रकाशित करते हैं ।३१। ॐ सत्य हैं, यह उपनिषद् है।

॥ पैङ्गलोपनिषद् समाप्त ॥

---

# महावाक्योपनिषत्

ॐभद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैःस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ।। स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।।स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।

शान्तिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आंखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अङ्गों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान् कीर्त्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़ देव हमारा कल्याण करें और वृहस्पति हमारा कल्याण करें । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ॥

अथ होवाच भगवान्ब्रह्माऽपरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्यास्यामः ।।१।। गुह्याद्गुह्यतरमेषा न प्राकृतायोपदेष्टव्या । सात्विकायान्तर्मुखाय परिशुश्रूषवे ।।२।।

अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याऽविद्ये चक्षुषी उपसंहृत्य विज्ञायाविद्या लोकाण्डस्तमोदृक् ।।३।। तम हि शारीरप्रपञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम् । निखिलनिगमोदितसकामकर्मव्यवहारो लोकः ।।४।।

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा । विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम् ।।५।। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम् । प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां

समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माऽऽविर्भवति ॥६॥

किसी समय भगवान् ब्रह्मा ने कहा कि अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभवपरक उपनिषद् की व्याख्या करते हैं ।१। यह उपनिषद् साधारण पुरुषों को उपदिष्ट नही करना चाहिये क्योंकि यह अत्यन्त ही गोपनीय है किन्तु सात्विक वृत्ति वाले अन्तर्मुखी तथा अपने गुरुओं की सेवादि में रत मनुष्य को इसका उपदेश करना चाहिए ।२। अतः संसार की ( प्रवृत्तियों की ) बन्धन तथा मोक्ष की कारणभूत जो विद्या एवं अविद्या ( ज्ञान व अज्ञान ) रूप नेत्र हैं उन्हें उपसंहृत करके भली भांति समझकर अविद्या रूपी जो नेत्र अर्थात् जिससे संसार की सत्यता का ज्ञान ( प्रकाश, आलोक ) होता है उसे अन्धकारमय चक्षु समझना चाहिए । अर्थात् इसके द्वारा जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब असत्य है मिथ्या भ्रम मात्र है ।३। यह आत्मतत्व का ढकने वाला जो तम है अविद्या है, यही चराचर विश्व का शरीर से लेकर ब्रह्म पर्यन्त अखण्ड मण्डल का कारणभूत है । इसी से इन सब वस्तुओं की ब्रह्म भिन्न सत्ता का ज्ञान होता है । वेदों में जो समान कर्तव्यों का निर्देश है उसका प्रकाशक कारणभून भी यही तम (अविद्या) है ।३। जब तक आत्मा के विषय में यह ज्ञान न हो जाय कि यह आत्मा अन्धकारमय नहीं अपितु स्वयंप्रकाश से ( उस ब्रह्म से ) होने के कारण स्वयं भी प्रकाश स्वरूप है, तब तक मनुष्य को विद्या का अभ्यास करना चाहिए । विद्या ही अविद्या से भिन्न चिदादित्य स्वरूप स्वयं प्रकाश ज्योति स्वरूप है, उसका मण्डल परमज्योति से युक्त है वही ग्रहण करने योग्य है क्योंकि वह ब्रह्ममात्र पर आधारित है, ब्रह्मस्वरूप ही है, अन्य कुछ भी नहीं ।५। यह आदित्य स्वरूप ब्रह्म (नाड़ियों द्वारा श्वास-निश्वास रूप से) प्रत्येक शरीर में स्थित है । यह बिना ही अधिक प्रयत्न के, बिना ही जपादि कष्ट साधनों द्वारा प्राप्त किये जा सकने

वाला 'हंस' नामक है। इसी का अंश अपने को मान कर तथा प्राण, अपान, श्वास-प्रश्वास द्वारा इसका ज्ञान कर चिरकाल तक साधन करने से इस विद्या द्वारा त्रिस्वरूप ( समष्टि, व्यष्टि, तदैक्य रूप ) आत्म ब्रह्म में ध्यान करने पर सत्, चिद, आनन्द स्वरूप परमात्मा का आभिर्भाव होता है।६।

सहस्रभानुमच्छुरिता पूरितत्वादलीया पारावारपूर इव । नैषा समाधिः । नैषा योगसिद्धिः नैषा मनोलयः । ब्रह्मैक्यं तत् ॥७॥ आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे । सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः । नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते ॥८॥ धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार । शक्रः प्रविद्वान्प्रदिशश्चतस्रः । तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था अयनाय विद्यते ॥९॥ यज्ञेन यज्ञमयजत देवाः । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्ते । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१०

साऽहमर्कः परं ज्योतिरर्कज्योतिरहं शिवः ।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वं ज्योतिरसावहोम् ॥११

एतदथर्वशिरोऽधीते । प्रातरधीयानो रात्रिकृत पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । तत्सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति । माध्यन्दिनमदित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपातकात्प्रमुच्येते । सर्व वेदपारायणपुण्यं लभते । श्रीमहाविष्णुसायुज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥१२

वह तत्वज्ञान वृत्ति हजारों सूर्यों के प्रकाश से युक्त, निस्तरंग समुद्र की जलराशि के समान ब्रह्ममात्र रस से परिपूर्ण तथा सर्वदा रहने वाली अर्थात् लय से हीन है। यह वृत्ति न तो समाधि है और न योगसिद्धि है, नहीं मनोलय है किन्तु यह प्रत्यक्ष ब्रह्म का एकात्म प्राणि समुदाय किंवा चराचर को मिथ्या विचार कर अपने तन्मात्र

स्वरूप को समझता है वह ही ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करता है ।८। ब्रह्म ने भी यह पहले कहा है तथा दिशा उपदिशाओं तथा ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ इन्द्र ने भी ऐसा ही कहा है । उस ब्रह्म को इस प्रकार समझने वाला विद्वान् परमात्मस्वरूप ( अमृतस्वरूप ) हो जाता है । अन्य कोई भी मार्ग अपने अर्थात् मोक्ष के लिए नहीं है ।९। इन्द्रादि देवताओं ने भी ज्ञान यज्ञ द्वारा यज्ञ किया और जीवन्मुक्त कहलाये । वही जीवन्मुक्त धर्म रूप कार्य प्रथम हुए । जहाँ पहले साध्य मात्र रहते थे वहाँ पहुंच कर प्रकाशमान हो रहे हैं ।१०। मैं वही चिदादित्य हूं, वहीं पर ज्योति हूँ, वही शिव तत्व हूं, मैं वही आत्म ज्योति हूँ, सब का प्रकाशक उस ब्रह्म का ही स्वरूप एवं उससे सर्वथा अभिन्न हूं ।११। यह उपनिषद् अथर्ववेद प्रविभक्त है । प्रातः इसे पढ़ने वाला रात्रि कृत पापों से मुक्त हो जाता है, सायं इसका अध्ययन करने वाला दिन में किये पापों से छूट जाता है । प्रातः सायं पढ़ने से बड़ा पापी भी निष्पाप हो जाता है । मध्याह्न में सूर्य के सम्मुख पढ़ने वाला पांच महापातक ( ब्रह्म हत्या सुरापान आदि ) तथा उन पापों से भी छूट जाता है । तथा सभी वेदों के परायण का पुण्य प्राप्त करता है एवं महाविष्णु के स्वरूप को प्राप्त करता है ।१२।

॥ महावाक्योपनिषद् समाप्त ॥

———

# आत्मबोधोपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम् । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।।

शान्तिपाठ—ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ । हे वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूं । मैं श्रुत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

प्रत्यगानन्दं ब्रह्म पुरुषं प्रणवस्वरूपं अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात् ॐ नमो नारायणाव शंखचक्रगदाधराय । तस्मात् ॐ नो नारायणायेति गन्त्रोपासको वैकुण्ठभवनं गमिष्यति ।।१।।

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्तटिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम् ।।२।।

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्य पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरज्युतः ।।३

सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम् ।। ।।४

शोकमोहविनिर्मुक्तं विष्णुं ध्यानन् न सीदति द्वैताद्वैत-मभयं भवति मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥५

हृत्पद्ममध्ये सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रे प्रज्ञानेत्रे प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥६॥ स एतेन प्रज्ञेनात्मना-ऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामनाप्त्वाऽमृतः समभवदमृतः समभवत् ॥ ७ ॥ यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोकेऽभ्यर्हितं तस्मिन् मा देही स्वमानमृते लोके अक्षते अच्युते लोके अक्षते अमृतत्वं च गच्छन्त्यो नमः ॥८

ॐ। प्रत्येक में व्याप्त आनन्द रूप ब्रह्म पुरुष है और 'अकार-उकार-मकार'—यह तीन अक्षर वाला प्रणव का स्वरूप है। यही प्रणव ॐ है। उसका जप करने से योगी सांसारिक बन्धनों से छूट जाते हैं। शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाले नारायण को नमस्कार। इससे 'ॐ नमो नारायणाय'—इस मंत्र का उपासक वैकुण्ठधाम को पाता है।

अब जो यह हृदय कमल है, वह ब्रह्मपुर है। केवल वही बिजली अथवा दीपक के समान प्रकाशमान होता है। देवकी पुत्र ब्राह्मणों के हितैषी हैं, मधुसूदन ब्राह्मणों के लिये हितकारी हैं, कमल के समान नेत्र वाले विष्णु ब्राह्मणों के हितचिन्तक हैं और वे अविनाशी परमात्मा ब्राह्मण-प्रिय हैं। सर्व भूतों में निवास करने वाले एक नारायण ही कारण पुरुष हैं, वे स्वयं कारण-रहित हैं, परब्रह्म हैं। वे ॐकार रूप हैं। इन विष्णु का ध्यान करने वाला शोक तथा मोह से मुक्त होकर दुःखी नहीं होता। द्वैत भी अद्वैत ही है और यही उभय रूप होता है। जो मनुष्य इस ब्रह्म में भेद देखता है, वह मृत्यु के पश्चात् मृत्यु को ही प्राप्त होता है। हृदय कमल के मध्य में जो सर्वस्वरूप ब्रह्म-है, वही प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हुआ है। लोक प्रज्ञारूप नेत्र वाला है, प्रज्ञा ने प्रतिष्ठा पाई है और ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। वह ज्ञानी इस उत्कृष्ट

ज्ञानयुक्त आत्मा के रूप में इस लोक से उत्क्रमण करके-ऊँचे पर जाकर स्वर्गलोक में सर्व कामनाओं को पा.कर अमर हो गया, अमर हो गया। जहां नित्य ज्योति है, जिस लोक में सब तरफ से पूजा होती है, उस अमरलोक में तू मुझे स्वमान दे। इस अविनाशी लोक में—क्षर धर्म रहित लोक में और उस अक्षयलोक में वह जाता है। ॐ नमः ।१-८।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

----

प्रगलितनिजमायोऽहं निस्तुलदृशिरूपवस्तुमात्रोऽहम् ।
अस्तिमिताहंतोऽहं प्रगलितजगदीशजीवभेदोऽहम् ॥१
प्रत्यगभिन्नपरोऽहं विध्वस्ताशेषविधिनिषेधोऽहम् ।
समुदस्ताश्रमितोऽहं प्रविततसुखपूर्णसंविदेवाहम् ॥२
साक्ष्यहमनपेक्षोऽहं निजमहिम्नि सस्थितोऽहमचलोऽहम् ।
अजरोऽहमव्ययोऽहं पक्षविपक्षादिभेदविधुरोऽहम् ॥३
अवबोधैकरसोऽह मोक्षन देकसि धुरेवाहम् ।
सक्ष्मोऽहमक्षरोऽह विगलितगुणजालकेवलात्माऽहम् ॥४
निस्त्रैगुण्यपदोऽहं कुक्षिस्थानेकलोककलनोऽहम् ।
कूटस्थचेतनोऽहं निष्क्रियधामाहमप्रतर्क्योऽहम् ॥५

मेरी अपनी माया अत्यन्त गलित हो गई है, मैं अतुल दर्शन स्वरूप वस्तु मात्र हूँ, मेरी अहन्ता अस्त हो चुकी है और जगत, ईश्वर तथा जीव जैसे भेद मुझ में से नष्ट हो गये हैं।१। मैं प्रत्यागात्मा से अभिन्न परमात्मा हूँ, मेरे लिए समस्त विधि निषेध नष्ट हो चुके हैं मैंने आश्रम-धर्म को फेंक दिया है और मैं विशाल-सुख से पूर्ण तथा ज्ञान स्वरूप हूं।२। मैं साक्षी हूं, किसी भी अपेक्षा से रहित हूं, अपनी महिमा में रहता हूँ, मैं अचल हूँ, मैं अजर हूं, मैं अमर हूँ और मैं पक्ष-विपक्ष आदि भेद से रहित हूं।३। मैं एक ज्ञानरूप रस वाला हूं, मोक्ष के आनन्द का एक समुद्र ही हूँ, मैं सूक्ष्म हूँ, मैं अक्षर हूँ, मेरे

में से गुणों का जाल गल कर गिर गया है और मैं केवल आत्मा रूप हूं ।४। मैं तीनों लोकों से रहित परम-पद हूं, मेरे उदर में अनेकों लोकों की संख्या है, मैं कूटस्थ चेतन हूँ, क्रिया रहित धाम हूँ और अवितर्क्य हूँ ।५।

एकोऽहमविकलोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्ति रेवाहम् ।
निरवयवोऽहमजोहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम् ।।६
निरवधिनिजबोधोऽहं शुभतरभावोऽहमप्रभेद्योऽहम् ।
विभुरहमनवद्योऽहं निरवधिनिःसीमसत्त्वमात्रोऽहम् ।।७
वेद्योऽहमागमान्तैराराध्योऽहं सकलभुवनहृद्योऽहम् ।
परमानन्दघनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहम् ।।८
शुद्धोऽहमद्वयोऽहं सन्ततभातोऽहमादिशून्योऽसम् ।
शमितान्तत्रितयोऽहं बुद्धो मुक्तो मुक्तोऽहमद्भुतात्माऽहम् ।।९
शुद्धोऽहमान्तरोऽहं शाश्वतविज्ञानसमरसात्माऽहम् ।
शोधितपरतत्त्वोऽह बोधानन्दैकमूर्ति रेवाहम् ।।१०

मैं एक हूँ, मैं परिपूर्ण हूं, निर्मल और निर्वाण मूर्ति हूँ, मैं अवयवों से रहित हूं, मैं अजन्मा हूँ और केवल मात्र सतस्वरूप में सर्व का साररूप हूँ ।६। मैं अवधि रहित ज्ञान वाला हूँ, अत्यन्त शुभ भाव वाला हूँ, भेद पाने के लिए अतिशय अशक्य हूँ, मैं व्यापक हूं, मैं निर्दोष हूँ और अवधि तथा सीमा से रहित केवल तत्वरूप हूं ।७। मैं वेदान्त द्वारा जानने योग्य हूँ, आराधना करने योग्य हूं, सब भुवनों में सुन्दर हूँ, मैं परमानन्द से व्याप्त हूँ और मैं परमानन्द रूप एक भूमास्वरूप हूं ।८। मैं शुद्ध हूँ, अद्वैत हूं, निरन्तर भाव रूप हूँ, मैं बद्ध, मुक्त और अद्भुतस्वरूप हू ।९। मैं शुद्ध हूं, मैं अन्तरात्मा हूं, मैं सनातन विज्ञान का सम्पूर्ण रस आत्मा हूं । मैंने परमतत्व को शोधा है और ज्ञान तथा आनन्द की एक मूर्ति ही मैं हूं ।१०।

विवेकयुक्तिबुद्धयाऽहं जानाम्यात्मानमद्वयम् ।
तथाऽपि बन्धमोक्षादिव्यवहारः प्रतीयते ।।११
निवृत्तोऽपि प्रवञ्चो मे सत्यवद्भाति सर्वदा ।
सर्पादौ रज्जुसत्तैव ब्रह्मसत्तैव केवलम् ।।१२
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्नहि ।
यथेक्षुरससंव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा ।।१३
अद्वयानन्दरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत् त्रयम् ।
ब्रह्मादिकीटपर्यन्ता प्राणिनो मयि कल्पिताः ।।१४
बुद्बुदादिविकारान्तरङ्गः सागरे यथा ।
तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा ।।१५

मैं विवेक बुद्धि में आत्मा को अद्वैत जानता हूँ, तो भी बन्ध-मोक्ष आदि व्यवहार जान पड़ते हैं ।११। मेरी दृष्टि से प्रपञ्च दूर हो गया है, तो भी सर्वकाल में वह सत्य जैसा जान पड़ता है । वास्तव में सर्प आदि में जैसे रस्सी का अस्तित्व है, वैसा ही प्रपंच का अस्तित्व है, केवल ब्रह्म-सत्ता ही प्रपंच के आधाररूप बर्तती है, जगत है ही नहीं ।१२। जिस प्रकार शक्कर गन्ने के रस से व्याप्त है, वैसे ही अद्वैत ब्रह्म के रूप में तीनों लोकों में व्याप्त हूं ।१३। जैसे समुद्र में बुलबुले से लेकर तरंगें तक कल्पित हैं, उसी प्रकार मेरे अन्दर ब्रह्मा से लेकर कीड़ा तक प्राणीमात्र कल्पित है ।१४। जिस प्रकार समुद्र तरंगों में रहने वाले जल की इच्छा नहीं करता, वैसे ही केवल आनन्द स्वरूप होने से मुझे विषयों के आनन्द की इच्छा नहीं होती ।१५।

विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्द रूपतः ।
दारिद्र्याशा यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम ।।१६
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत् ।
विष दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान् ।।१७

आत्मानमपि दृष्ट्वाऽहमनात्मानं त्यजाम्यहम् ।
घटनावभासको भानुघटनाशे न नश्यति ।।१८

देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ।
न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः ।।१९

मायामात्रविकासत्वन्मायातीतोऽहमद्वयः ।
प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामैर्वा हन्यतां मनः ।।२०

जसे सम्पत्तिशाली को दारिद्रय की सम्भावना नहीं होती, वैसे ही ब्रह्मानन्द में मग्न मुझको विषयों की सम्भावना नहीं है ।१६। बुद्धिमान मनुष्य विष और अमृत को देखकर जिस प्रकार विष का त्याग करता है, वैसे ही मैं आत्मा को देखकर अनात्मा का त्याग करता हूँ ।१७। जिस प्रकार घोड़ा को प्रकाशित करने वाला सूर्य घड़े का नाश होने से नष्ट नहीं हो जाता, वैसे ही शरीर का प्रकाशक साक्षी, देह का नाश होने पर भी नष्ट नहीं हो सकता ।१८। मुझे बन्धन नहीं है, मुझे मोक्ष नहीं है, मेरे लिए शास्त्र नहीं है और मेरा गुरु नहीं है, क्योंकि ये तो माया के विकास मात्र हैं और मैं माया से परे अद्वैत स्वरूप हूं ।१९। प्राण भले ही चले जाँय और मन चाहै अपने धर्मों तथा कामनाओं के साथ नाश को प्राप्त हो, पर आनन्द और ज्ञान से पूर्ण होने के कारण मुझे किस प्रकार दुःख हो सकता है ? ।२०।

आनन्दबुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत् ।
आत्मानमञ्जसा वेद्मि क्वाप्यज्ञानं पलायितम् ।।२१

कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्त्तव्यं वाऽपि न क्वचित् ।
ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः ।।२२

स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे न हि ।
क्षुत्पिपासाऽऽन्ध्यबाधिर्यकामक्रोधादयोऽखिलाः ।।२३

लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न विद्यते।
जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः ॥२४
न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणाः।
उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते ॥२५

आत्मा को अनायास ही जानता हूं, मेरा अज्ञान न जाने कहां पलायन कर गया है। अब मेरा कर्त्तापन भी नष्ट हो गया और मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है।२१। ब्राह्मणपन, कुल, गोत्र, नाम, सुन्दरता और जाति का अस्तित्व स्थूल देह में होता है, मैं तो स्थूल रूप से भिन्न हूं, इसलिए उनमें से किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है।२२। भूख, प्यास अन्धापन, बहरापन, काम, क्रोध आदि समस्त धर्म लिंग-देह में रहते है, मैं तो लिंग-देह से रहित हूं, मुझमें इनमें से कुछ भी नहीं है।२३। जड़ता, प्रियता और आनन्द मानना आदि कारण देह के धर्म हैं और मैं तो नित्य तथा निर्विकार स्वरूप वाला हूं, इसलिए ये धर्म मेरे नहीं है।२४। जिस प्रकार उल्लू को सूर्य अन्धकारमय दिखाई देता है, वैसे ही अज्ञानी को स्वयं-प्रकाश—परमानन्द में अज्ञान दिखाई देता है ॥२५॥

स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते।
चक्षुर्दृष्टिनिरोधऽभ्रैः सूर्यो नास्तीति मन्यते ॥२६
तथाऽज्ञानावृतो देही ब्रह्म दास्तीति मन्यते।
यथाऽमृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते ॥२७
न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जडदोषान् प्रकाशतः।
स्वल्पाऽपि दीपकणिका बहुलं नाशयेत्तमः ॥२८
स्वल्पोऽपि बोधो महतीमविद्यां नाशयेत्तमा।
कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि ॥२९
अहंकारादिदेहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वया।
चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम ॥३०
आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत्।

आत्मप्रवोधोपनिषदं मुहूर्तमुपासित्वा न च पुनरावर्तंते न च पुनरावर्तंत ।।इत्युपनिषत् ।।३१

जिस प्रकार बादलों के कारण चारों तरह से दृष्टि रुक जाने के कारण लोग समझने लगते हैं कि सूर्य नहीं है, उसी प्रकार अज्ञान से घिरा हुआ प्राणी मानता है कि ब्रह्म है ही नहीं ।२६। जिस प्रकार अमृत विष से पृथक् है, इसलिये विष के दोषों से वह दूषित नहीं होता वैसे ही मैं जड़ से पृथक हूं, इसलिए जड़ के दोषों का मुझसे स्पर्श नहीं होता ।।२७।। जैसे दीपक की छोटी-सी ज्योति भी बहुत से अन्धकार का नाश कर देती है, वैसे ही थोड़ासा ज्ञान भी गाढ़ अन्धकार रूप अज्ञान का नाश करता है ।२८। जिस प्रकार रस्सी में तीनों काल सर्प नहीं है, वैसे ही अन्धकार से लेकर देह तक का जगत मेरे भीतर तीनों काल में नहीं हैं । मैं तो केवल अद्वैत हूं ।२६। मैं चैतन्य रूप हूं, इससे मुझ में जड़ता नहीं है, मैं सत्यरूप हूं, इससे मुझ में असत्य नहीं है और मैं आनन्द रूप में हूं, इससे मुझे दुःख नहीं हैं, ये सब केवल अज्ञान से ही जान पड़ते हैं ।३०। इस "आत्म प्रबोध" उपनिषद् को जो मनुष्य दो घड़ी भी सेवन करता है वह फिर संसार में नहीं आता है–संसार में नहीं आता है, ऐसा यह रहस्य है ।।३१।।

।। आत्मप्रबोध उपनिषद् ।।

———

# कैवल्योपनिषत्

ॐसहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषा वहै । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे, हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शान्ति, शांति, शान्ति ।

अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनं परिसमेत्योवाच—
अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां
सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम् ।
ययाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य
परात् परं पुरुषुमुपैति विद्वान् ॥१
तस्मै स होवाच पितामहश्च
श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि ॥२
न कर्मणा न प्रजया
धनेनत्यागेनैके अमृतत्वमानशुः
परेण नाकं निहितं गुहायां
विभ्राजते यद्यततो विशन्ति ॥३
वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृतात् परिमूच्यन्ति सर्वे ॥४
विविक्तदेशे च सुखासनस्थः
शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः ।

आत्माश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि
निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ।
हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं
विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ॥५

ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा से महर्षि आश्वलायन ब्रह्माजी के पास शिष्य भाव से समिधा लेकर गए और नम्रतापूर्वक कहा "भगवन् ! कृपया मुझे ब्रह्मविद्या का गोपनीय व अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग बतलाइए जिस पर संतजन सदैव से चलते आए हैं और जिसके माध्यम से विद्वान् लोग अपने पूर्वकृत दोषों को निवृत्त करके उस ब्रह्म को पा जाते हैं" ।१। ब्रह्माजी ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया— "आश्वलायन ! उस परमतत्व को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, शक्ति, ध्यान और योग का आश्रय लेना पड़ता है, तुम भी उसी मार्ग पर चलो ।२। उस परमतत्व को धन, सन्तान अथवा कर्म के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता । त्याग ही एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञानियों ने परम अमृतत्व को प्राप्त किया है । स्वर्गलोक से ऊपर ब्रह्मलोक को पहुंचने की स्थिति संयमी और योगी लोग ही प्राप्त कर सकते हैं ।३। कल्प के अन्त में वे ही योगी लोग अमृतत्व के प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं जो वेदान्त का गम्भीर अध्ययन करके परमज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, श्रवण मनन व योगाभ्यास से परमतत्व की प्राप्ति को नित्य करके अन्तःकरणों को शुद्ध करके ब्रह्मलोक में जाने का प्रयत्न करते हैं ।४। योगी लोग संन्यास आश्रम में स्थित, स्नानादि से अपने शरीर को शुद्ध करके एकान्त स्थान में अपना आसन लगाकर, सिर गले व शरीर को एक सीध में रखकर समस्त इन्द्रियों को एकाग्र करके श्रद्धाभक्ति से अपने गुरु का पूजन करके अपने हृदय से रजोगुण को निकाल कर दुःख व शोक से परे उस विशुद्ध भक्ति तत्व का मनन करते हैं ॥५॥

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ।
तदादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥६

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥७

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥८

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥९

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥१०

इस प्रकार से मुनि लोग ध्यान के द्वारा उस चिन्तन की सीमा में नाश, व्यय न होने वाले जिसके अनन्त स्वरूप हैं, जो कल्याण करने वाला है, अद्वैत है, जो ब्रह्म का मूल कारण है, जिसका कोई आदि मध्य और अन्त ही नहीं है, जो अद्वितीय सर्वव्यापक और चैतन्य तथा आनन्दमय है, जिसका कोई रूप नहीं है, जो विलक्षण है, जिसे नीलकंठ और त्रिलोचन के नामों से पुकारा जाता है, जो समस्त चराचर का स्वामी और शान्तिस्वरूप है, जो समस्त भूतों का मूल कारण और साक्षी है, जो अविद्या से दूर है, उसको प्राप्त करते हैं।६-७। उसी को चन्द्रदेव, अग्निदेव, काल, प्राण, उदर, भगवत, अक्षर ब्रह्म, इन्द्रदेव, शिव और ब्रह्मा कहते हैं। जो व्याधि जन्म मृत्यु के चक्कर से छूट जाता है, जो इस तत्व को समझ लेता है कि जो पहिले हो चुका

है अथवा आगे होगा, वह सब वही है। इसको छोड़कर मोक्ष का अन्य कोई रास्ता नहीं है। वह मनुष्य परमात्मा को प्राप्त कर लेता है जो आत्मा को समस्त भूतों में और समस्त भूतों को आत्मा में व्याप्त देखता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है ।८-१०।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात् पापं दहति पण्डितः ॥११
स एव मायापरिमोहितात्मा
शरीरमास्थाय करोति सर्वम् ।
स्त्र्यन्नपानादिविचित्रभोगैः
स एव जाग्रत् परितृप्तिमेति ॥१२
स्वप्ने तु जीवः सुखदुःखभोक्ता
स्वमायया कल्पित विश्वलोके ।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥१३
पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्
स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्त-
मस्तु जातं सकलं विचित्रम् ॥
आधारमानन्दमखण्डबोधं
यस्मिन् लयं याति पुरत्रयं च ॥१४
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥१५

ज्ञानी लोग अन्तःकरण को नीचे की अरणि बनाते हैं और प्रणव को ऊपर की ओर इन दोनों के मन्थन का अभ्यास करते हैं। इससे जो ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है, उसमें अपने समस्त दोषों को जलाकर संसार बन्धन से छूट जाते हैं ।११। वही मनुष्य

माया के वशीभूत होकर शरीर को ही सब कुछ समझ लेता है और सब तरह के कर्मों को करता है। वही मनुष्य विषय-वासना और मद्यपान आदि भोगों को भोगकर जाग्रत अवस्था में तृप्त होता है। माया से जो कल्पित जीवलोक है, उसी में वही मनुष्य स्वप्नावस्था में शरीर के सुखों और दुःखों को भोगता है और सुषुप्तावस्था में जब समस्त माया का प्रपञ्च समाप्त हो जाता है, तमोगुण से पराजित होकर सुख का अनुभव करता है जो पिछले जन्मों के कार्यों के बल से प्रेरित हैं। पर वह मनुष्य सुषुप्तावस्था से स्वप्न–जाग्रतावस्था में आ जाता है। इस तरह से ज्ञात हुआ कि जीव जो तीन प्रकार के, शरीरों–स्थूल,सूक्ष्म और कारण में रमण करता है, उसी से इस सारे मायिक प्रपञ्च की सृष्टि होती है। जब तीनों प्रकार के शरीरों–स्थूल, सूक्ष्म और कारण का लय हो जाता है तभी यह जीव मायिक प्रपंच से निवृत्त होकर अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। इसी से प्राण, मन और समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसी से पृथ्वी की सृष्टि होती है जो आकाश, वायु, अग्नि, जल और सारे संसार को धारण करती है।१२-१५।

यत् परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत् ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत् ॥१६

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत् प्रकाशते ।
तद्ब्रह्महमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥१७

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥१८

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥१९

जिस परब्रह्म का कभी नाश नहीं होता, जिसे सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्रों से देखा नहीं जा सकता, जो इस संसार के इन समस्त कार्य और कारण का आधारभूत है, जो सब भूतों का आत्मा है, वही तुम हो, तुम वही हो। जीव जब यह जान जाता है कि जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थाओं में जो मायिक प्रपञ्च दिखाई देते हैं, वह मैं ही हूं और वह ब्रह्म का ही स्वरूप है तब वह सब प्रकार के बन्धनों से निवृत्त हो जाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोज्य और भोक्ता के रूप में है, वह सदाशिव चेतनायुक्त और अद्भुत साक्षी रूम मैं ही हूँ। मैं ही वह ब्रह्मरूप हूं जिसमें सब कुछ उत्पन्न प्रतिष्ठित और लय होता है।१६-१९।

अणोरणीयानहमेव तद्वन्
महानहं विश्वमिदं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो
हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥२०

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः
पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो
न चास्ति वेत्ता मम चित् सदाहम् ॥२१

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥२२

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो
न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो मम वह्निरस्ति
न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ॥२३

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्।

समस्तसाक्षि सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ।।२४

यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति सुरापानात् पूतो भवति ब्रह्महत्यात् पूतो भवति कृत्याकृत्यात् पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्यत्यश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत् ।।२५

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम् ।

तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं फलमश्नुते कैवल्य फलमश्नुते इति ।।२६

मैं छोटे से भी छोटा और बड़े से बड़ा हूं। इस अद्भुत संसार को मेरा ही स्वरूप मानना चाहिए । मैं ही शिव और ब्रह्मा का स्वरूप हूं । मैं ही परमात्मा और विराट पुरुष हूँ। वह शक्ति जिसके न हाथ पैर हैं और न जिसके सम्बन्ध में चिन्तन किया जा सकता है, वह परब्रह्म मैं ही हूं। मैं सर्वदा चित्त स्वरूप रहता हूं । मुझे कोई जान और समझ नहीं सकता, मैं बुद्धि के बिना ही सब कुछ जानने, स्थूल कानों के बिना सब कुछ सुनने और स्थूल आँखों के बिना सब कुछ देखने की सामर्थ्य रखता हूं । मैं ही वेद का उपदेश करता हूं, मैंने ही वेदान्त की रचना की है और सारे वेद मेरे ही सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। मैं जन्म और नाम से परे हूं । पाप और पुण्य मुझे छू नहीं सकते। मैं शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से रहित हूं। मेरे लिए भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश कुछ नहीं हैं।२०-२३। वही मनुष्य मेरे शुद्ध परमात्म स्वरूप का साक्षात्कार करता है जो इस तरह से मायिक प्रपञ्चों से परे, सब के साक्षी, अद्वितीय, हाथ-पैर रहित, गुप्त बुद्धि के कोने में स्थित परमात्म स्वरूप को जान जाता है ।२४। शतरुद्रिय का पाठ करने से वह अग्नि, वायु और आत्मा जैसे पवित्र हो जाता

है। शराब पीने के पाप से उसका छुटकारा हो जाता है। ब्रह्महत्या के पाप से निवृति हो जाती है, वह सोने की चोरी के दोष से छुटकारा पा जाता है, वह अच्छे-बुरे सभी कर्मों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। भगवान सदाशिव की कृपा का अधिकारी होकर मुक्तरूप हो जाता है। इसलिए जो जीव ऊँचे उठ गये हैं, उन पर तपस्वियों को हमेशा या एक सौ एक बार तो इसका पाठ अवश्य करना चाहिये। इससे संसार-सागर से मुक्त और पार होने के ज्ञान की उपलब्धि होती है ॥२५॥ इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ॥२६॥

॥ कैवल्योपनिषद् समाप्त ॥

———

# ब्रह्मबिन्दूपनिषत्

ॐ सह नाववतु। सहनौभुनक्तु। सहवीर्यं करवावहै तेजस्वि नावधीतमस्तु। माविद्विषावहै। ॐ शान्तिः. शान्तिः. शान्तिः।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करे, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

ॐ मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥१
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥२
यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥३
निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥४
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्।
एतज्ज्ञान च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रंथविस्तरः ॥५

शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का मन होता है। अशुद्ध मन उसे कहते हैं जिसमें विषयों और इच्छाओं से संकल्पों की उत्पत्ति होती हो। शुद्ध मन वह है जिसमें इच्छाएं न उठती हों। बन्धन और मोक्ष का कारण मन को ही बताया गया है। जो मन विषयों में आसक्त रहता है, उससे बन्धन और जिससे विषयों का अभाव रहता है, उससे मोक्ष मिलता है। क्योंकि मन का लय तभी हो पाता है जब

वह विषय-संकल्पों से रहित हो जाता है। इसलिए जिस साधक को मोक्ष की इच्छा हो, वह अपने मन को विषय भोगों से शून्य रखे। परमपद उसी को कहते हैं जब मन में विषयों का अभाव हो जाता है और हृदय से संकल्प-विकल्प उठने बन्द हो जाते हैं। हृदय में विलीन होने तक ही मन को काबू में करने की चेष्टा करनी चाहिए, इसके पश्चात् नहीं। मन के हृदय में विलीन हो जाने को ही मोक्ष और ज्ञान कहते हैं, इसके अतिरिक्त ग्रन्थ का विस्तारमात्र ही समझना चाहिए ॥१-५॥

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च ।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥६
स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम् ।
अस्वरेण हि भावेन भावो नाभाव इष्यते ॥७
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम् ॥८
निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम् ॥९
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न वन्धो न च शासनम् ।
न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता ॥१०

साधक की ब्रह्मप्राप्ति का समय तब आता है जब चिन्तनीय और अचिन्तनीय का उसके सामने कोई अन्तर न रहे और दोनों में से किसी की ओर भी विशेष झुकाव न हो। साधक को प्रणव के माध्यम से परमेश्वर से ऐक्य उत्पन्न करना चाहिए और उसी से परमतत्व की भावना का चिन्तन करना चाहिए। प्रणव से ओत-प्रोत भावना से ही भावस्वरूप परमात्मा को प्राप्त किया जाता है, अभाव को नहीं। भावना के अभाव में समाधि शून्यरूप ही मानी जाती है। उसी

मायारूप मन शून्न, विकल्प व अवयव रहित व निरञ्जन को ही ब्रह्म कहते हैं। जो व्यक्ति यह भावना करता है कि "वह ब्रह्म मैं ही हूँ" वह उस भावना के द्वारा ब्रह्म ही हो जाता है। वह मनुष्य नियमपूर्वक ब्रह्मरूप हो जाता है जो उस विकल्प व दृष्टान्त से शून्य, अनादि और अनन्त, अप्रपंच परम कल्याण रूप ब्रह्म को जान जाता है। वास्तविक ज्ञान यह है कि जो इस प्रकार समझे कि न सृष्टि है न माया, न बन्धन है न मोक्ष की अभिलाषा है न मोक्ष ॥६-१०॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयाद्व्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥११
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१२
घटसभृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा ।
घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो घटोपमः ॥१३
घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः ।
तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥१४
शब्दमायावृतो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्करे ।
भिन्ने मोमसि चेकत्वमेकमेवानुपश्यति ॥१५

तीनों अवस्थाओं—जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति—से अतीत हो जाने वाले का, एक ही आत्मा का सम्बन्ध मानने वाले का फिर जन्म नहीं होता। संसार के सभी प्राणियों के अन्दर वही आत्मा व्याप्त है। जिस प्रकार से चन्द्रमा एक होते हुए भी जल में उसके अलग-अलग प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से वह भी एक होते हुए अनेक रूपों में दिखाई देता है। घड़े में आकाश होता है अवश्य परन्तु जब वह फूट जाता है तब उसी की समाप्ति समझी जाती है, आकाश की नहीं। इसी प्रकार से शरीर में स्थित जीव को भी आकाश की तरह की समझना चाहिए। शरीर के नाश होने पर आत्मा का कदापि नाश नहीं होता।

अलग-अलग, शरीरों का बार-बार फूटना और नष्ट होना घड़े के फूटने और नष्ट होने के समान है। परमात्मा सभी शरीरों का ज्ञान रखता है, परन्तु यह शरीर अपने अन्दर स्थित परमात्मा को नहीं जानता। जीवात्मा तभी बन्धन में रहता है जब तक वह माया से जरा-सा भी सम्बन्धित है। अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर और ज्ञानरूपी प्रकाश को प्राप्त करके ही मनुष्य जीवात्मा और परमात्मा को एकता का अनुभव करता है ॥११-१५॥

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म यस्मिन्क्षीणे यदक्षरम् ।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥१६
द्वे विद्यदतेदितिव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छतिः ॥१७
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानेविज्ञानतत्त्वतः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥१८
गवामनेकर्णानां क्षीरस्गाप्येकवर्णता ।
क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गमस्तु गवां यथा ॥१९
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥२०
ज्ञाननेत्रं समादाय चरेद्वह्निमतः परम् ।
निष्कलं निर्मल शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥२१
सर्वभूयाधिवासं च यद्भभूतेषु वसत्यधि ।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः तदस्म्यहं वासुदेव इति ॥२२॥

शब्द-और परब्रह्म दोनों अक्षर हैं। इन दोनों में से जिस एक के क्षय होने पर दूसरा अक्षय की स्थिति में रहता है, वही परब्रह्म वास्तविक अक्षर है। शान्ति की इच्छा वाले मनुष्य को उसी अक्षर परब्रह्म का ही ध्यान करना चाहिए। 'शब्द ब्रह्म" और "परब्रह्म"

दो प्रकार की विद्याओं को जानना चाहिए। जब मनुष्य शब्द-ब्रह्म अर्थात् वेदशास्त्रों के ज्ञान में दक्ष हो जाता है तब परब्रह्म को समझ जाता है। जिस तरह से अन्न की प्राप्ति की इच्छा करने वाले मनुष्य पुआल को तो खलिहान में ही छोड देता है और अन्न को लेता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष को चाहिये कि वह ग्रन्थों को अवलोकन व अभ्यास द्वारा उनमें धरे ज्ञान-विज्ञान के तत्वों को लेकर ग्रन्थों को छोड़ दे। जिस तरह से अलग-अलग रूप और रंग वाली गौओं का भी दूध एक रंग का सफेद होता है, उसी तरह से विद्वान पुरुष को अलग-अलग सम्प्रदाय वालों के अलग-अलग विचारों को ग्रहण करने वाले पुरुषों की विचार-धारा गौओं के दूध की तरह एक जैसी ही लगती है। उनकी विचार-धारा में उनके बाहर के अलग-अलग निशानों से कुछ अन्तर नहीं दिखाई देता। जिस तरह से दूध में घी निहित होता है, उसी तरह से हर एक प्राणी के अन्दर चिन्मय ब्रह्म स्थित रहता है। जिस तरह से दूध को मंथने से घी प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार मन की मथानी से—चिन्तन, मनन और विचार से, विज्ञानमय ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए। जब ज्ञान का प्रकाश मिल जाए तो अग्नि के समान तेजयुक्त ब्रह्म की भावना करनी चाचिए कि "वह कलारहित, निर्मल और शान्त परब्रह्म मैं ही हूं। इसी को विज्ञान कहते हैं। सम्पूर्ण भूत जिसमें निवास करते हैं और जो स्वयं समस्त भूतों में व्याप्त रहता है और सब पर परम दया करने के कारण विख्यात है, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं ही हूं, वह सर्वात्मा वसुदेव मैं ही हूँ, इस प्रकार इस उपनिषद् की समाप्ति है।१६-२२।

॥ ब्रह्मबिन्दू उपनिषद् समाप्त ॥

———

# आत्मोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

शान्तिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें । सुदृढ़ अंगों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें । महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति, शांति, शांति ॥

अथाङ्गिरास्त्रिविधः पुरुषोऽजायातात्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति ॥ १ ॥

त्वक्चर्ममांसरोमांगुष्ठांगुल्यः पृष्ठवंशनखगुल्फोदरनाभिमेढ्रकट्यूरुकपोलश्रोत्रभ्रूललाटबाहुपार्श्वशिरोऽक्षीणि भवन्ति जायते म्रियत इत्येष आत्मा ॥ २ ॥

अथान्तरात्मा नाम पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिच्छाद्वेषसुखदुःखकाममोहविकल्पनादिस्मृति लिङ्ग उदात्तानुदात्तह्रस्वदीर्घ प्लुतः स्खलितगर्जितस्फुटितमुदितनृत्तगीतवादित्र प्रलयाविजृंभितादिभिः श्रोता घ्राता रसयिता नेता कर्ता विज्ञानात्मा

पुरुषः पुराणः न्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणीति श्रवणघ्राणाकर्षणकर्म विशेषणं करोत्येषोऽन्तरात्मा ॥३॥

अथ परमात्मा नाम यथाऽक्षर उपासनीयः स च प्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यान समाधियोगानुमानात्मचिन्तकवटकणिका वा श्यामाकतण्डुलो वा वालाग्रशतसहस्रविकल्पनादिभिः स लभ्यते नोपलभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यते न कम्पते न भिद्यते न स्विद्यते निर्गुणः साक्षिभूतः शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निर्ममो निरञ्जनो निर्विकारः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकांक्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्योऽनिर्वर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि निष्क्रियस्तस्य संसारो नास्ति ॥४॥

अङ्गिरा परमात्मा 'आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा' इस भेद से तीन प्रकार का उत्पन्न हुआ।१। अपनी अज्ञ दृष्टि से आत्मा का स्वरूप यही है कि शरीर में जो त्वचा, चर्म, माँस, बाल, अँगूठा, अँगुलियाँ, रीढ़ की हड्डी, नाखून, गुल्फ, पेट, नाभि, मूत्रेन्द्रिय, कमर, जंघा, गाल, कान, भौं, ललाट, करवट, शिर और आंखें उत्पन्न होती हैं वही आत्मा है तथा उनके उत्पन्न तथा मरण से ही आत्मा भी उत्पन्न होने वाला तथा मरने वाला समझ लिया जाता है।२। इसी प्रकार अन्तरात्मा भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदि ( द्रव्य ), इच्छा-द्वेष सुख-दुःख आदि ( गुण ) काम, मोह, तर्क-वितर्क स्मृति, लिंग, उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि ( अच् भेद ) स्खलित गर्जित ( मेघशब्द ) स्फुटित, मुदित, नृत्य, गीत, वादित्र ( आदि ध्वनिस्वरूप ) प्रलय विजृम्भण आदि द्वारा सुनने वाला, सूँघने वाला, चाटने वाला, ले जाने वाला, करने वाला, विज्ञानात्मा पुराण पुरुष न्याय,मीमांसा आदि जो धर्मशास्त्र हैं, उन सब में अन्तर्यामी होता हुआ, सुनना, सूँघना व आकर्षण एवं कर्म विशेषों को करता

है यही अन्तरात्मा का स्वरूप समझा जाता है ।३। वह परमात्मा जैसे करोड़ों जीवों द्वारा ईश्वर रूप में आराध्य होने से उपलब्ध होता है उसी प्रकार यह परमाक्षर परमात्मा भी प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, योग, अनुमाम, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म बाल के अग्रभाग के सैकड़ों हजारों हिस्सों से भी सूक्ष्म "सोऽहम्" इस प्रकार विचारा जाता हुआ उपलब्ध होता है अथवा नहीं भी होता । वह न कभी उत्पन्न होता रहता है और न मरता ही है, न सूखता है न गीला होता है, न चलता है न काँपता है न टूटता हैं, न स्थित रहता है, वह तो गुणों से रहित, सर्व प्रमाणभूत, शुद्ध स्वरूप, अवयव रहित आत्मा-केवल, सूक्ष्म, निर्मल, निरञ्जन, विकारहीन, शब्द, रूपरसहीन, ज्ञान से हीन ( इनसे रहित ) निर्विकल्प, आङ्काक्षाहीन सर्वव्यापी, अचिन्त्य तथा इस प्रकार का है कि जिसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं किया जा सकता । वह अशुद्ध अपवित्र को शुद्ध पवित्र करता है, वह निष्क्रिय है, उसका कोई संसार नहीं है ।४।

आत्मसंज्ञः शिवः शुद्धः एक एवाद्वयः सदा ।
ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते ।।१

जगद्रूपतयाऽप्येतब्रद्ब्रह्मैव प्रतिभासते ।
विद्याऽविद्यादिभेदेन भावाभावादिभेदतः ।।२

गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते ।
ब्रह्मैव केवलं शुद्धं तत्त्वदर्शने ।।३

न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम् ।
सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्तकम् ।।४

असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्तकम् ।
घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्षते ।।५

वह ब्रह्म, शिव, शुद्ध, एकमात्र, द्वैतहीन, ब्रह्मरूप होने के

कारण केवल ब्रह्मरूप से प्रतिभासित होता है ।१। इस संसार के रूप में भी ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है । विद्या, अविद्या, भाव, अभाव आदि भेद से ( जो भी भासित होता है वह ब्रह्म ही है ) ।२। गुरु शिष्य आदि भेद से भी ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है । वस्तुतः देखा जाय तो सर्वत्र शुद्ध स्वरूप ब्रह्म ही है ।३। वस्तुतः न तो विद्या है न अविद्या, न जगद् न अन्य कोई वस्तु ही सत्य है किन्तु सत्य रूप से संसार का भान होना ही इसका प्रवर्तक है ।४। असत्य रूप से संसार का भान ही इसका निवर्तक है, जैसे सामने रखे घड़े के ज्ञान के लिए कोई नियम अपेक्षित नहीं है ।५।

विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन् सति पदार्थधीः ।
अयमात्मा वित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते ।।६

न देशं नापि कालं वा न शुद्धि याऽप्ययेक्षते ।
देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम् ।।७

तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ।
भानुनेव जगत् सर्वं भास्यते यस्य तेजसा ।।८

अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम् ।
वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि ।।९

येनाऽर्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ।
क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।।१०

वैसे ही प्रत्येक सामने स्थित पदार्थ का ज्ञान बिना ही प्रमाण के हो जाता है । ठीक ऐसे ही नित्यसिद्ध यह आत्मा प्रमाण ( प्रत्यक्ष होने पर भासित होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का ब्रह्मस्वरूप होने के कारण ब्रह्म के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है ।६। जैसे देवदत्त आदि नाम का ज्ञान निरपेक्ष अपने को (अपने लिए) हो जाता है वह देश, काल किंवा किसी प्रकार की शुद्धि ( सफाई ) की आवश्यकता

( अपेक्षा ) नहीं रखता ।७। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी का ब्रह्मऽहम्' मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार का समझना ही ब्रह्म का साक्षात् प्रत्यक्ष है जैसे सूर्य से संसार प्रकाशित होता है वैसे ही अखण्ड ब्रह्माण्ड जिसके तेज से प्रकाशित होता है ।८। उसके प्रत्यक्ष सिद्धत्व में कोई अन्य प्रमाण देना अनात्मक, असार एवं तुच्छ है उसका अवभासक ज्ञान कराने वाला भला क्या हो सकता है ? वेदशास्त्र पुराण एवं सारे प्राणि समूह जिसके कारण अर्थवान् हैं, सार्थक हैं अर्थात् जिसकी कृपा के कारण हैं, उत्पन्न स्थित विनष्ट होते हैं, उस विज्ञाता ब्रह्म को कोई प्रमाण क्या प्रमाणित कर सकता है ? ।९। जैसे खिलौना के साथ बालक भूख किंवा शरीर की किसी प्रकार की पीड़ा को छोड़कर ( भूलकर ) खेलता रहता है ।१०।

वतथैविद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ।
कामान्निष्कामरूपी संचरत्येकारो मुनिः ॥११

स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ।
निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ॥१२

नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्मसमः समदर्शनः ।
कुर्वन्नपि न कुर्वाणश्चाभोक्ता भलभोग्यपि ॥१३

शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ।
अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित् ॥१४

प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ।
तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनै ॥१५

वैसे ही विद्वान् पुरुष ममताहीन, अहंकारहीन सुखी रहता हुआ रमण किया करता है (ब्रह्म में), सभी इच्छाओं से मुक्त एकान्तवासी मुनिरूप होकर विचरण करता है ।११। स्वयं अपनी ही आत्मा से

सन्तुष्ट तथा अपने को सर्वत्र स्थित मानता हुआ, धनहीन भी हमेशा परमतृप्त, निःसहाय भी अपने को बहुत सामर्थ्ययुक्त समझता है ।१२। कुछ आहार न लेता हुआ भी नित्यतृप्त, असम होता हुआ भी ( तुलनाहीन ) सबको बराबर देखने वाला, काम करता हुआ भी कार्य न करता हुआ-सा फल का भोग करता हुआ भी भोगहीन माना जाता है ।१३। वह शरीर भी शरीरहीन, वह परिच्छिन्न ( पृथक् ) होता हुआ भी सर्वत्र जाने वाला ( व्याप्त ) होता है । इस प्रकार शरीर हीन इस ब्रह्मज्ञानी को कहीं भी ।।१४। प्रिय तथा अप्रियज्ञान स्पर्श भी नहीं करते ( अर्थात् वह किसी को प्रिय या अप्रिय नहीं समझता ) तथा शुभ-अशुभ भी उसे नहीं छू सकते । उसकी दृष्टि में सब समान हैं जैसे कि मनुष्य अन्धकार से ( राहू से ) ग्रसित-से दीखने वाले सूर्य को, जो कि वस्तुतः ग्रसित नहीं है ।१५।

ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ।
तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम् ।।१६

पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ।
अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति ।।१७

इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ।
स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम् ।।१८

दैवेन नीयते देहो यथा कालोप भुक्तिषु ।
लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत् केवलात्मना ।।१९

शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ।
जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः ।।२०

भ्रान्त से ग्रसित कहते हैं क्योंकि उनको वस्तु स्थिति का पता नहीं होता । ठीक उसी प्रकार देह आदि के बन्धनों से मुक्त ब्रह्मज्ञानी को ( आत्मा को ) शरीर के आभास से मूर्ख आदमी देही ( शरीरवान् )

समझा करते हैं, वस्तुत, वह सांप की केंचुली की तरह देह से सर्वथा मुक्त है ।१६-१७। जैसे झरने आदि के द्वारा लकड़ियों को नीचे इधर-उधर ले जाया जाता है ।१८। जैसे दैव ( भाग्य ) के द्वारा देहकाल उपभोगों में ले जाई जाती है ऐसे होते हुए भी जो केवल अपनी आत्मा से लक्ष्य-अलक्ष्य गति को छोड़ कर स्थित हो जाता है ( केवल स्वात्मा से ) ।१९। वह ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ साक्षात् शिव ही है। शिव स्वरूप है । वह कृतार्थ ब्रह्मज्ञानी जीवित भी मुक्त ही है ।२०।

उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सत् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ।
शैशूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ।।२१
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ।
घटे नष्टे तथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ।।२२
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम् ।
क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।।२३
संयुक्तमेकतां याति तथाऽऽत्मन्यात्मविन्मुनिः ।
एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।।२४
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः ।
सदात्मकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ।।२५

वह स्थान के ( आधार के ) ( शरीरादि के ) नष्ट होने पर ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्ममलीन हो जाता है जो कि द्वैतहीन है । जैसे विविध वेष धारण करने पर मनुष्य नट आदि समझा जाता है तथा पूर्व रूप में आने पर वही पुरुष समझा जाता है ।२१। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी भी ब्रह्म ही है केवल शरीरादि वेष के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है । वस्तुतः वह ब्रह्म ही है भिन्न अन्य कुछ

नहीं है। जैसे घड़े के फूट जाने पर घट के अन्दर का आकाश-आकाश रूप ही हो जाता है ।२२। वैसे ही उपाधि ( शरीरादि ) के विलीन हो जाने पर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है । जैसे दूध में दूध, तेल में तेल डालने पर ( मिला देने पर ) एक हो जाते हैं ठीक वैसे ही आत्मज्ञानी मुनि तथा आत्मा की स्थिति है ।२३। इस प्रकार विदेह रूप कैवल्य प्राप्ति के अनन्तर सन्मात्र अखण्डित विग्रहवान् ब्रह्मभाव को प्राप्त कर यति पुनः संसारावर्तन में नहीं आता-जाता । क्योंकि सदात्मकत्व विज्ञान से उसकी विद्या-अविद्या सभी दग्ध हो जाती हैं ।२४-२५।

अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः ।
मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ॥२६
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ।
आवृतेः सदासत्त्वाख्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ॥२७
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम् ।
अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनिः ॥२८
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ।
अतस्तौ मायया कलृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ॥२९
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने ।
अद्वितीये परेतत्वे व्योमवत् कल्पना कुतः ॥३०
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥३१
इत्युपनिषत् ॥३१

इस यति के ब्रह्मस्वरूप हो जाने पर यह कैसे हो सकता है कि ब्रह्म का पुनः उद्भव ( उपत्ति ) हो । माया से निर्मित बन्धन और मोक्ष उस ब्रह्म को वस्तुतः नहीं हुआ करते ।२६। जैसे क्रियाहीन रस्सी में सर्प का ज्ञान होकर यदि वह पुनः समाप्त हो जाता है तो फिर

केवल रस्सी का ही ज्ञान होने लगता है ऐसे ही सत् तथा असत् से आत्मा (ब्रह्म) में बन्ध तथा मोक्ष का ज्ञान हुआ करता है (तथा दूर भी हो जाता है) ।२७। वस्तुतः ब्रह्म की कोई भी आवृत्ति नहीं होती वह अन्य के अभाव से ( तदतिरिक्त आपके अभाव से ) अनावृत है अथवा आवृत्त है यह जो विश्वास किया जाता है, यह तो वस्तुतः बुद्धि के गुण हैं, उस नित्य वस्तु ( ब्रह्म ) के नहीं । इस कारण वह माया से उत्पन्न होने वाले बन्ध तथा मोक्ष आत्मा म नहीं हुआ करते ।२८। उस कलाहीन, क्रियारहित, शान्त, निष्पाप, निरजन, एकमात्र ( अद्वितीय ) परमतत्व में आकाश के भेदों की तरह ( घटाकाश मठाकाश आदि ) कल्पना कहाँ से हो सकती है ? वस्तुतः सत्य तो यह है कि वह परब्रह्म न तो अजन्मा है न जन्मा है, न बद्ध है न साधक है न मुमुक्षु ( मोक्ष की इच्छा वाला ) है और न मुक्त ही है ।२६-३१।

॥ आत्मोपनिषत् समाप्त ॥

# पञ्चब्रह्मोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सहनौभुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषा वहै । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ब्रह्म हम दोनों की रक्षा करें, वह दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।।

अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनं परिसमेत्योवाच—

अथ पैप्पलादो भगवन् भो किमादौ किं जातमिति सद्यो-जातमिति । किं भगव इति । अघोर इति । कि भगव इति । वामदेव इति । किं वा पुनरिमे भगव इति । तत्पुरुष इति । किं वा पुनरिमे भगव इति । सर्वेषां दिव्यानां प्रेरयिता ईशान इति । ईशानो भूतभव्यस्य सर्वेषां देवयोनिनाम् ।।१।।

कति वर्णाः । कति भेदाः । कति शक्तयः । यत् सर्वं तद्गुह्यम् ।।२।।

तस्मै नमो महादेवाय महारुद्राय ।।३

प्रोवाच तस्मै भगवान् महेशः ।।४

गोप्यादगोप्यतरं लोके यद्यस्ति शृणु शाकल ।

सद्योजातं मही पूषा रमा ब्रह्मा त्रिवृत् स्वरः ।।५

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा ।

वर्णं पीतं क्रिया शक्तिः सर्वाभीष्टफलप्रदम् ।।६

किसी समय शाकल के पूछने पर कि 'प्रारम्भ में क्या उत्पन्न हुआ ?' पैप्पलाद ने उत्तर दिया—'सद्योजात' नामक ब्रह्म उत्पन्न

हुआ। शाकल—कोई अन्य भी भेद हैं ? पैप्पलाद—हाँ 'अघोर'। शाकल—अन्य कोई ? पैप्पलाद—'वामदेव'—शाकल—क्या यही भेद है ? पैप्पलाद—'नहीं' तत्पुरुष नामक भी है।' शाकल—'अच्छा तो यही चार हैं न ?' पैप्पलाद—'नहीं' सभी देवताओं का प्रेरक 'ईशान' नामक एक भेद और है। यही सभी भूत तथा भविष्य का एवं सभी देव-योनियों का शासक है ।१। इसके कितने वर्ण हैं ? कितने भेद हैं ? कितनी शक्तियाँ हैं ? ये सभी वस्तुएं अनधिकारियों से परम छिपाने लायक हैं ।२। महारुद्र संज्ञा ( नाम ) वाले इन महादेव को नमस्कार है, उन्होंने ( महेश ने ) पैप्पलाद को यह सब उपदेश दिया है ।३-४। हे शाकल ! संसार में अत्यन्त गुप्त वस्तुओं में भी जो गुप्त है उसे सुन—वह है 'सद्योजात' जिसके सभी प्रकार की अभीष्ट सिद्धियों को देने वाले मही, पूषा, रमा, ब्रह्मा, त्रिवृत्, अकारादि स्वर ऋग्वेद, गार्हपत्य ( अग्नि ) पंचाक्षर ( नमः शिवाय ) मन्त्र एवं स, रि, ग, म आदि सात स्वर, पीला वर्ण, क्रिया नामक शक्ति आदि अनेक स्वरूप हैं ।५-६।

अघोर सलिलं चन्द्रं गौरी वेदद्वितीयकम् ।
नीरदाभं स्वरं सान्द्रं दक्षिणाग्निरुदाहृतम् ॥७
पञ्चाशद्वर्णसंयुक्तं स्थितिरिच्छाक्रियाऽन्वितम् ।
शक्तिरक्षणसंयुक्तं सर्वाघौघविनाशनम् ॥८
सर्वदुष्टप्रशमनं सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ॥९

अघोर, जल, चन्द्र, गौरी, सामवेद, नीरदाभ स्वर अर्थात् उपकार, स्निग्ध दक्षिणाग्नि ये अघोर के स्वरूप कहे गये हैं। ये तथा पचास ( अ से लेकर ज्ञ पर्यन्त जो वर्ण हैं ) उनसे युक्त स्थिति ( परिपालन ) इच्छा तथा क्रियाशक्ति से युक्त, अपनी विकल्पित शक्ति के रक्षण से युक्त जो अघोर का स्वरूप है वह सभी प्रकार के पापों के

समूह को नष्ट करने वाला, सभी दुष्टों का दमन करने वाला एवं सभी प्रकार के ऐश्वर्य के फल देने वाला है।७-९।

वामदेवं महाबोधदायकं पावकात्मकम् ।
विद्यालोकसमायुक्तं भानुकोटिसमप्रभम् ।।१०
प्रसन्नं सामवेदाख्यं गानाष्टकसमन्वितम् ।
धीरस्वरमधीनं चाहवनीयमनुत्तमम् ।।११
ज्ञानसंहारसंयुक्तं शक्तिद्वयसमन्वितम् ।
वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं पूर्णबोधकरं स्वयम् ।।१२
धामत्रयनियन्तारं धामत्रयसमन्वितम् ।
सर्वसौभाग्यदं नृणां सर्वकर्मफलप्रदम् ।।१३
अष्टाक्षरसमायुक्तमष्टपत्रान्तरीस्थतम् ।।१४

वामदेव, महान् बोध के दाता तथा तेजस्वी अग्नि के स्वरूप, विद्या के प्रकाश से युक्त, करोड़ों सूर्य के समान तेजस्वी, सर्वदा प्रसन्न हैं। सामवेद, अष्टस्वर ( सामवेद के कथित सात स्वर तथा भरतशास्त्र निष्पन्न गीति ) युक्त धीरे स्वर ( आं, आं, आमू यह ) के आधीन तथा सर्वोत्तम आहवनीय ( होम करने योग्य वस्तु ) ज्ञान तथा संहार शक्ति से समन्वित, उनका स्वरूप है । वह शुक्लवर्ण, तमोगुण से युक्त तथा स्वयं ही पूर्ण ज्ञान के कर्त्ता, जाग्रद् आदि तीनों धामों के नियामक, तीनों धामों से समन्वित ( युक्त ) सब के सौभाग्यदायक, मनुष्यों के सभी कर्मों के फल के दाता तथा ( अ, क, च, ट, त, प, य, श, ) इन आठ अक्षरों से युक्त तथा जो कि अष्टदल कमल अर्थात् हृदय स्थित कमल में निवास करने वाले हैं।१०-१४।

यत्तत् तत्पुरुषं प्रोक्तं वायुमण्डल संवृतम् ।
पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम् ।।१५
पञ्चाशत्स्वरणाख्यमथर्ववेदस्वरूपकम् ।

कोटिकोटि गणाध्यक्षं ब्रह्माण्डाखण्डविग्रहम् ॥१६
वर्णं रक्तं कामदं च सर्वाधिव्याधिभेषजम् ।
सृष्टिस्थितिलयादीनां कारणं सर्वशक्तिधृक् ॥१७
अवस्थात्रितयातीतं तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम् ।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सेव्यं सर्वेषां जनकं परम् ॥१८

और जो 'तत्पुरुष' हमने कहा है वह वायुमण्डल से परीत (आवृत्त) पाँच अग्नियों से वेष्टित, मन्त्रशक्ति ( अथवा मन्त्र तथा शक्तियों के ) नियामक-नियम करने वाला है ।१५। साथ ही पचास संख्यक जो स्वर व्यञ्जन बताये गए हैं तन्मय, अथर्ववेद के स्वरूप, अनन्तकोटि गणों के अध्यक्ष हैं तथा अखण्ड ( सारा ब्रह्माण्ड ही उनका शरीर है ।१६। उनका वर्ण लाल है तथा वह सभी इच्छाओं के देने वाले तथा सभी प्रकार की आधि ( मानसिक-रोग ) तथा व्याधियों ( शारीरिक रोगों ) की सुन्दर औषधि हैं । तथा वही ब्रह्माण्ड की उन्नति, पालन तथा संहार के एकमात्र कारण हैं और सभी शक्तियों को धारण करने वाले हैं ।१७। साथ ही वह तीनों अवस्था से परे तुरीय ( चौथी अवस्था ) स्वरूप है तथा ब्रह्म संज्ञक हैं और वही सबके उत्पन्न करने वाले तथा ब्रह्मा और विष्णु आदि से सेवा करने योग्य हैं, सेवित किये जाते हैं ।१८।

ईशानं परमं विद्यात् प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम् ।
आकाशात्मकमव्यक्तमोंकारस्वरभूषितम् ॥१९
सर्वदेवमयं शान्तं शान्त्यतीतं स्वराद्बहिः ।
अकारादिस्वराध्यक्षमाकाशमयविग्रहम् ॥२०
पञ्चकृत्यनियन्तारं पंचब्रह्मात्मकं बृहत् ॥२१
पञ्चब्रह्मोपसंहारं कृत्वा स्वात्मनि संस्थितम् ।
स्वमायावैभवान् सर्वान् संहृत्य स्वात्मनि स्थितः ॥२२

पंचब्रह्मात्मकातीतो भासते स्वस्वतेजसा।
आदावन्ते च मध्ये ज भासते नान्यहेतुना ।।२३

ईशान सब के परम शासक तथा प्रेरणा करने वाले, बुद्धि के साक्षी, आकाशस्वरूप ( सर्वव्यापक ) और अव्यक्त हैं एवं ॐकार के स्वर से, ध्वनि से ( अथवा ॐकार और स्वरों से ) भूषित हैं।१९। वह सर्व देवमय, शान्त, शान्ति से भी परे अर्थात् अत्यन्त शान्ति से युक्त स्वरों से बाहर ( अर्थात् स्वरों से जिनका ज्ञान सम्भव नहीं ) अकार आदि स्वरों के जो अधिष्ठातृ रूप हैं तथा जो कि आकाशमय शरीर वाले हैं।२०। और वह सृष्टि आदि पाँच कृत्यों के नियामक तथा विशाल ( सर्वव्यापक ) और पञ्च ब्रह्मस्वरूप हैं।२१। और वह पंचब्रह्म का उपसंहार ( निर्वाण ) करके अपनी आत्मा में स्थित हो अपनी माया के वैभव ( अर्थात् अपनी माया द्वारा उत्पन्न किए हुए ) सभी का संहार करके अपनी आत्मा में स्थित हैं।२२। और वह आदि मध्य किंवा अन्त में भी किसी अन्य कारण भासित नहीं होते अपितु स्वयंप्रकाश और स्वयम्भू हैं।२३।

मायया मोहिताः शंभोर्महो देवं जगद्गुरुम्।
न जानन्ति सुराः सर्वकारणकाणम् ।
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य परात् परं पुरुषं विश्वधाम ।।२४
येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते ।
तद्ब्रह्मा परमं शान्तं तद्ब्रह्मास्मि परं पदम् ।।२५
पंचब्रह्ममिदं विद्यात् सद्योजातादिपूर्वकम् ।
दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम् ।।२६
पञ्चधा वर्तमानं तं ब्रह्मकार्यमिति स्मृतम् ।
ब्रह्मकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते ।।२७
पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वं स्वात्मनि प्रविलाप्य च ।

सोऽहमस्मीति जानीयाद्विद्वान् ब्रह्मामृतो भवेत् ।।२८
इत्येतद्ब्रह्म जानीयाद्यः स मुक्तो न संशय ।।२९
पचाक्षरमूयं शंभुं परब्रह्मास्वरूपिणम् ।
नकारादियकारान्तं ज्ञात्वा पंचाक्षरं जपेत् ।।३०

भगवान् शङ्कर की माया से मोहित देवता सब से बड़े देव, संसार के गुरु तथा सभी कारणों के कारण उन महादेव को नहीं जानते। संसार को प्रकाशित करने वाले उन परात्पर पुरुष का रूप दृष्टि से (आँखों के सामने) नहीं देखा जा सकता है ।२४। जिनके कारण यह विश्व प्रकाशित होता है तथा जहाँ विलीन भी हो जाता है वह ब्रह्म परम शान्त है। वही परमपद स्वरूप मैं हूँ ।२५। सद्योजात आदि यही पंच-ब्रह्म हैं और जो कुछ संसार में दीखता है अथवा सुनाई पड़ता है वह भी पंचब्रह्मात्मक ही है ।२६। पाँच स्वरूपों में स्थित देह ब्रह्मकार्य कहा गया है तथा इसे ब्रह्मकार्य जान कर ईशान को प्राप्त किया जाता है ।२७। यदि पंडित आदमी उन पंच ब्रह्मात्मक को अपनी आत्मा में विलय करके ( मान कर ) 'सोऽहमस्मि' "मैं वही पञ्च ब्रह्म हूं उनका ही स्वरूप हूं" ऐसा समझलें तो ब्रह्मामृत का आस्वादन करने वाला हो जाता है ।२८। इस प्रकार जो ब्रह्मस्वरूप को पहिचानता है वह मुक्त हो जाता है इसमें सन्देह नहीं ।२९। पंचाक्षरमय ( पाँच अक्षरों से युक्त ) उस परब्रह्म स्वरूप शम्भु को समझकर 'न' है शुरू में तथा 'य' है अन्त में जिसके, ऐसे पंचाक्षरमन्त्र ( नमः शिवाय ) को जपना चाहिए ।३०।

सर्वं पंचात्मकं विद्यात् पंचब्रह्मात्मतत्त्वतः ।।३१
पंचब्रह्मात्मिकीं विद्यां योऽधीते भक्तिभावितः ।
स पंचात्मकतामेत्य भासते पंचधा स्वयम् ।।३२
एवमुक्त्वा महादेवो गालवस्य महात्मनः ।
कृपां चकार तत्रैव स्वान्तर्धिमगमत् स्वयम् ।।३३

यस्य श्रवणमात्रेणाश्रुतमेव श्रुतं भवेत् ।
अमतं च मतं ज्ञातमविज्ञातं च शाकल ॥३४
एकेनैव तु पिण्डेन मृत्तिकायाश्च गौतम ।
विज्ञातं मृण्मयं सर्वं मृदभिन्नं हि कार्यकम् ॥३५

सभी वस्तुओं को पंचब्रह्मात्मक मानकर सर्वत्र पंचब्रह्म तत्व को देखना चाहिए ।३१। जो मनुष्य भक्तिभाव से पंचब्रह्मात्मक विद्या को पढ़ता है वह स्वयं पंचब्रह्म का स्वरूप बन कर, पंचब्रह्म के सामीप्य को भी प्राप्त करता है ।३२। इसे स्वयं महादेव ने गालव महात्मा को कह कर उनके ऊपर कृपा कर आत्मलीन हो गये ।३३। जिसको ( जिसके स्वरूप माहात्म्य को ) सुनने मात्र से अश्रुत ( जो वस्तु सुनी भी न हो ) श्रुत ( ज्ञात ) हो जाती है । जाना हुआ, न जाना हुआ सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिन सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं वह भी स्वयं ज्ञात हो जाते हैं ।३४। जिस प्रकार की मिट्टी के एक ही पिण्ड से मृत्तिका से अभिन्न ( जो भिन्न न हों ) ऐसी सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि कार्य कारण से अभिन्न होता है, वैसे ही पंचब्रह्म के ज्ञान से सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है ।३५।

एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं यथा ।
विज्ञातं स्यादथैकेन नखानां कृन्तनेन च ॥३६
सर्वं कार्ष्णायसं ज्ञातं तदभिन्नं स्वभावतः ।
कारणाभिन्नरूपेण कार्यं कारणमेव हि ॥३७
तद्रूपेण सदा सत्यं भेदेनोक्तिमृषा खलु ।
तच्च कारणमेकं हि न भिन्नं नोभयात्मकम् ॥३८
भेदः सर्वत्र मिथ्यैव धर्मादिरनिरूपणात् ।
अतश्च कारणं नित्यमेकमेवाद्वयं खलु ।
अत्र कारणमद्वैतं शुद्धचैतन्यमेव हि ॥३९

अस्मिन् ब्रह्मपुरे वेश्म दहरं यदिदं मुने ।
पुण्डरीकं तु तन्मध्ये काकाशो दहरोऽस्ति तत् ।
स शिवः सच्चिदानन्दः सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः ।।४०
अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः ।
तेनायं हृदयं प्रोक्तः शिवः संसारमोचकः ।।
इत्युपनिषत् ।।४१

एक लौहमणि से जैसे सभी लौह ज्ञात हो जाता है तथा एक नख को काटने से छुरी ( नख काटने के औजार आदि ) का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि यह स्वाभाविक वस्तु है कि उससे अभिन्न जितनी भी वस्तुएं होंगी सब वैसी होंगी । क्योंकि कारण से अभिन्न जो कार्य है वह वस्तुतः कारण रूप होता है ।३६-३७। वस्तु को ( कार्य को, तद्रूप ( उसी का रूप धारण का ही रूप ) यदि माना जाय तो वह असत्य है। क्योंकि कारण तो एक ही है ( सभी कार्यों का ) वह न तो भिन्न है और नहीं वह उभयात्मक है कि कहीं एक मान लिया जाय और कहीं अनेक ।३८। यह जो सभी स्थानों पर भेद की प्रतीति होती है, उसका कारण धर्म के निरूपण का अभाव ही है । इसलिये कारण तो वस्तुतः एक ही है वह द्वितीय ( दूसरा भिन्न ) नहीं है । अतः इस चराचर विश्व का कारण शुद्ध चैतन्यस्वरूप अद्वैत ही है ।३९। इस ब्रह्म के निवास स्थल शरीर में जो दहर नामक घर है, ( हृदय में ) जिसे कमल भी कहते है उसमें दहराकाश है उसी के मोक्ष के इच्छुक साधकों को सत्, चिद् एवं आनन्द स्वरूप उस शिव को ढूंढ़ना चाहिए ।४०। यह शिव सर्वदा हृदय में स्थित है तथा निर्विशेष (सामान्य) ( एकदृष्टि ) रूप से सभी का साक्षिभूत है । इसी कारण हृदय को ही शिवस्वरूप कहकर "मान एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो" आदि कहकर इस हृदय को ही संसार को मोचक (छुड़ाने वाला ) भी कहा गया है ।४१।

।। पंच ब्रह्मोपनिषद् समाप्त ।।

# शारीरकोपनिषत्

ॐ सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ।।

ब्रह्म, हम दोनों का रक्षण करे, वह हम दोनों का पालन करे, हम दोनों एक साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर द्वेष न करें । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।।

अथातः पृथिव्यादिमहाभूतानां समवायं शरीरम् । यत् कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजो यत् संवरति स वायुर्यत् सुषिरं तदाकाशम् ।।१।।

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि । श्रोत्रमाकाशे वायौ त्वगग्नो चक्षुरप्सु जिह्वा पृथिव्यां घ्राणमिति । एवमिन्द्रियाणां यथा-क्रमेण शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः ।।२।।

वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि । तेषाँ क्रमेण वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्चैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः ।।३।।

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तः करणचतुष्टयम् । तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्चते विषयाः । मनःस्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदतनहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति ।।४।।

अस्थिचर्मनाडीरोममांसाश्चेति पृथिव्यंशाः । मूत्रश्लेष्मः रक्तशुक्रस्वेदा अबंशा । क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यमोहमैथुना न्यग्ने-प्रचारणविलेखनस्थूलाक्ष्युन्मेषनिमेषादि वायोः । कामक्रोधलोभ-मोहभयान्याकाशस्य ।।५।।

ॐ पृथ्वी आदि पंचभूतों का समुदाय यह शरीर है। इसमें जो कड़ापन है वह पृथ्वी है जो द्रव है वह जल है जो गर्मी है वह तेज है जो चलता है वह वायु है जो पोला है वह आकाश है। श्रोत आदि पंचेन्द्रिय हैं। आकाश में श्रोत्र, वायु में त्वचा, तेज में चक्षु जल में जिह्वा और पृथिवी में घ्राण है। इन इन्द्रियों के विषय क्रम से शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध है जो पृथिवी आदि महाभूतों से उत्पन्न होते हैं। वाणी हाथ पैर गुदा और लिंग कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। इन इन्द्रियों के विषयक्रम से वचन ग्रहण करना, गमन विसर्जन और आनन्द हैं जो पृथ्वी आदि महाभूतों से ही क्रमशः उत्पन्न होते हैं। मन बुद्धि अहङ्कार और चित्त इन चारों को अन्तःकरण कहा जाता है। इनके विषयक्रम से सङ्कल्प-विकल्प निश्चय अभिमान और अवधारणा है। मन का स्थान गले का अन्त बुद्धि का मुख अहंकार का हृदय और चित्त का नाभि कहा गया है। अस्थि चर्म नाड़ी रोम मांस—ये पृथ्वी के अंश हैं। मूत्र कफ रक्त शुक्र स्वेद - ये जल के अंश हैं। क्षुधा, तृष्णा आलस्य मोह मैथुन अग्नि के अंश हैं। फैलाना, दौड़ना चलना मुड़ना पलकों को चलाना आदि वायु के अंश हैं। काम क्रोध लोभ मोह भय आदि आकाश के अंश हैं।१-५।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवीगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसाश्चापां गुणाः। शब्दस्पर्शरूपाण्यग्निगुणाः। शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ। शब्द एक आकाशस्य ।।६।।

सात्त्विकराजसतामसलक्षानि त्रयोः गुणाः ।।७
अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं संतोष आर्जवम् ।।८
अमानित्वमदम्भित्वमास्तिकत्वमहिंसता।
एते सर्वे गुणा ज्ञेयाः सात्विकस्य विशेषतः ।।९
अहं कर्ताऽस्म्यहं भोक्ताऽस्म्यहं वक्ताऽभिमानवान्।
एते गुणा राजस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवित्तमैः ।।१०

शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध पृथिवी के गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप रस—ये जल के गुण हैं। शब्द, स्पर्श, रूप—ये अग्नि के गुण हैं। शब्द और स्पर्श वायु के गुण हैं और आकाश का एकमात्र गुण शब्द ही है। सात्विक, राजस और तामस तीन गुण हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध, गुरु-सेवा, शोच, संतोष, आर्जव, अमानता का भाव, अदम्भ का भाव, आस्तिकता, अहिंसकपन —ये सब गुण विशेष रूप से सात्विक स्वभाव वालों के हैं ।६-९। मैं कर्ता हूं, मैं भोग करता हूँ, मैं वक्ता हूं, इस प्रकार का अभिमान राजस स्वभाव वालों की विशेषता है ।१०।

निद्राऽऽलस्ये मोहरागौ मैथुनं चौर्यमेव च ।
एते गुणास्तामसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।।११
ऊर्ध्वे सात्विको मध्ये राजसोऽधस्तामस इति ।।१२
सम्यज्ज्ञानं सात्त्विकम् । धर्मज्ञानं राजसम् । तिमिरान्धं तामसमिति ।।१३।।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयमिति चतुर्विधा अवस्थाः । ज्ञानेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत् । अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः चित्तैककरणा सुषुप्तिः । केवलजीवसंयुक्तमेव तुरीयमिति ।।१४।।

उन्मीलितनिमीलितमध्यस्थजीवपरमात्मनोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते ।।१५।।

निद्र, आलस्य, मोह, रोग, मैथुन, चोरी—ये गुण तामस स्वभाव वालों के कहे गये हैं ।११। सबसे श्रेष्ठपद सात्विकता है, राजसको मध्यम और तामस को अधम माना गया है। सत्य-ज्ञान सात्विक है, धर्मज्ञान राजस है, तिमिरांध (अधर्म मूढ़ता, तामस है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय—ये चार अवस्थाऐं हैं। जाग्रत अवस्था में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और चार अन्तःकरण मिलकर चौदह रहते हैं। स्वप्न में चार अन्तः

करण रहते हैं। सुषुप्ति में केवल एक चित्त ही रहता है और तुरीय में केवल जीव ही रह जाता है। खुले हुए और बन्द पलकों के बीच में ठहरा हुआ जीव परमात्मा के मध्य क्षेत्रज्ञ जीवात्मा होता है ।१२-१५।

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥१६
मनो बुद्धिरहंकारः खानिलाग्निजलानि भूः।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः शोडशापरे ॥१७
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पञ्चमम्।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक्चैव दशमी मता ॥१८
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानि प्रकृतानि तु ॥१९
चतुर्विंशतिरव्यक्तं प्रधानं पुरुषः परः।
इत्युपनिषत ॥२०॥

इस प्रकार जानना चाहिए कि ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि इन सत्रह का सूक्ष्म स्वरूप 'लिङ्ग' कहलाता है। मन, बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—ये प्रकृति के आठ विकार हैं, इनके अतिरिक्त सोलह और हैं! श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा घ्राण—ये पाँच, गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर, वाणी—ये पाँच, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच, सब मिलाकर प्रकृति के तेईस तत्व हैं। चौबीसवाँ अव्यक्त प्रधान है, पुरुष उससे परे हैं ।१६-२०। ऐसा यह उपनिषद् है। ॐ तत्सत् ॥

॥ शारीरकोपनिषद् समाप्त ॥

———

# शाट्यायनीयोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्तिः पाठ--यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण को लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यैः निर्विषयं स्मृतम् ॥१
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥२
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ॥३
नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं
नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धामं ।
विष्णुं क्रान्तं वासुदेवं विजानन्
विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी ॥४
अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं
ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः ।
शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्योऽनूचानो
ह्यभिजज्ञौ समानः ।
त्यक्तैषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा
मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥५

मन ही मनुष्यों के बंधन तथा मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों से आसक्त होगा वह बन्धन का तथा जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा ।१। जिस प्रकार मन इन सांसारिक विषयों में आसक्त रहता है ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाय तो कौन से बन्धन (सांसारिक जन्म, मृत्यु) से न छुटा जाय ।२। प्रत्येक मनुष्य को अभ्यास द्वारा चित्त को शोधन करना चाहिए। जिसका चित्त लगाया जायेगा तो मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है, यह सत्य सदा रहने वाली तथा परम गुप्त बात है ।३। वेदतत्व को न जानने वाले के लिये तो वह विराड् है ही नहीं, वह उसे मानता ही नहीं है तथा ब्रह्मज्ञानहीन उस परम स्वयं प्रकाशित धाम को प्राप्त नहीं होता। किन्तु तत्वदर्शी विवेकी ब्राह्मण तो व्यापक, सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी उस वासुदेव को अपने स्वरूप में ही (अहं ब्रह्मास्मि) जानता हुआ विप्रत्व को, जीवन्मुक्तत्व को प्राप्त कर लेता है ।४। जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) अकामहत (सभी प्रकार की इच्छाओं से हीन सनकादिक की भाँति उस परब्रह्म सत्य सनातन का स्वरूप जानते हैं वे सब भी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं। ऐसा पुरुष शान्त दान्त (इन्द्रियजित् सभी विषयों से तृप्त पराङ्मुख; सहनशक्तिशील वेदज्ञ मुमुक्षुओं के समान, होता हुआ उस परब्रह्म को जान लेता है। वह सभी इच्छा से विरत, तीनों (पितृ देव गुरु) ऋणों से मुक्त उस ब्रह्म को जानकर मौनयुक्त जहाँ कहीं भी आश्रम में बस जाय ।५।

अथाश्रमं चरम संप्रविश्य

यथोपपत्ति पञ्चमात्रां दधानः ॥६

त्रिदण्डमुपवीत च वासः कौपीनवेष्टनम् ।

शिक्यं पवित्रमित्येतद्बिभृयाद्यावदायुषम् ॥७

पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः ।
न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥८
विस्फुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च ।
तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥९
त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ।
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥१०

अब अन्तिम सन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होकर यथावल त्रिदण्ड आदि पंचमात्रा धारण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे ।६। आयु-पर्यन्त त्रिदण्ड, उपवीत, कौपीन, शिक्य पवित्र को धारण करे ।७। ये पांच यति की मात्रायें ब्रह्ममात्रायें हैं। इसका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। देह त्याग होने पर शरीर के साथ ही गाड़ देने चाहिए ।८। वे विस्फुलिंग व्यक्त तथा अव्यक्त स्वरूप से दो प्रकार का कहा गया है। इन दोनों में से एक को छोड़ देने पर संन्यासी पतित हो जाता है इसमें सन्देह नहीं । ९ । त्रिदण्ड जो वैष्णवलिंग ( विष्णु सम्बन्धी चिह्न ) समझा जाता है, यह ब्राह्मणों के लिए मुक्तिदायक है। यह वेद का अनुशासनरूप तथा सभी धर्मों का निर्वाण स्वरूप है ।१०।

अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति। सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिनोपवीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्धचिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका भवन्ति तदेतदृचाभ्युक्तम् ।

कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः
परमहंस इति वृत्त्या च भिन्नाः ।
सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना
व्यक्ताव्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ॥११

पञ्चयज्ञा वेदशिरः प्रविष्टाः
क्रियावन्तोऽमी ब्रह्मविद्यां (श्रयन्तः) ।
त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः
संन्यस्तपुष्पा रसमेवाश्नुवानाः ।
विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता
विष्ण्वात्मका विष्णुमेवापियन्ति ॥१२
त्रिसंधि शक्तिः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा ।
उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिकम् ॥१३
दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतीभिश्चतुष्पदा ।
गायत्री जपयज्ञश्च त्रिसंधि शिरसा सह ॥१४
योगयज्ञः सदैकाग्रयभक्त्या सेवा हरेर्गुरोः ।
अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनः कायकर्मभिः ॥१५

हे सौम्य ! संन्यासी कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस भेद से चार प्रकार के होते हैं । ये सभी विष्णु के चिह्न को धारण करने वाले शिखा तथा यज्ञोपवीत वाले ( ज्ञान शिखिनः ज्ञान निष्ठा ज्ञान यज्ञोपवीतिनः शुद्धचित्त, स्वयं ही अपने में ब्रह्म भावना करते हुए शुद्ध चिद्रूप की उपासना में रत, जप तथा यम ( इन्द्रियदमन ) करने वाले, नियमशील, सुन्दर स्वभाव वाले, विशालकीर्ति वाले होते हैं । इस सम्बन्ध में यह ऋचा है—कुटीचक, बहूदक, हंस तथा परमहंस ये अपनी-अपनी पृथक् वृत्तियों से भिन्न-भिन्न ४ प्रकार के हैं । ये सब व्यक्त-अव्यक्त, बाह्य-आभ्यन्तर रूप विष्णु चिह्न को धारण करने वाले होते हैं । ये सभी पाँच यज्ञ वाले (जप, योग, तप, स्वाध्याय, ज्ञान) वेदः-शिर अर्थात् उपनिषदों के अर्थ श्रवण आदि में प्रविष्ट हैं तथा स्वस्व-धर्मानुकूल कर्म करने वाले एवं ब्रह्मविद्या का आश्रय करने वाले हैं । ये सभी संसार रूपी वृक्ष को छोड़कर इस वृक्ष के मूलभाग ( ब्रह्म ) का आश्रय लेने वाले तथा सभी कर्मकाण्ड आदि को छोड़ सारभूत

वस्तु ( तत्व ) के रस का आनन्द लेने वाले हैं। तथा ये ब्राह्म क्रीड़ाओं को छोड़ विष्णु के साथ ही क्रीड़ा ( प्रेम ) करने वाले जीवन्मुक्त संन्यासी विष्णु ही हैं। आत्मा जिनकी इत्थंभूत होकर विष्णु का ही ध्यान कर कृतकृत्य होते हैं।११-१२। मृत्युपर्यन्त प्रातः मध्याह्न तथा सायंकाल शक्तिपूर्वक स्नान, तर्पण, मार्जन, उपस्थान तथा पंचयज्ञ (पूर्वोक्त) अवश्य करे।१३। दश ॐकार सात व्याहृतियों (ॐ भू, भुवः आदि) सहित चारपाद गायत्री का जपयज्ञ ( जप ) करना चाहिए।१४। सदा एकाग्रचित्त तथा भक्तिभाव से योगयज्ञ, भगवान् तथा गुरु की सेवा एवं वाणी मन तथा कर्म द्वारा भी अहिंसा रूपी तपोयज्ञ को करना चाहिए।१५।

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः।
ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति तत्
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः।
ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥१७
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ॥१८

अथ खलु सोम्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा भवन्ति। कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाममत्वाहंकारदीस्तितीर्यं मानावमानौनिन्दा स्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव तिष्ठासेच्छिद्यमानो न ब्रूयात् तदेवविद्वांस इहैवामृता भवन्ति। तदे तदृचाभ्युक्तम्। वन्धुपुत्रमनुमोदयित्वानवेक्षमाणोद्वन्द्व सहः प्रशान्तः। प्राचीमुदीचीं व निवर्त्तयंश्चरेत् ॥१९॥

पात्री दण्डी गुगमात्रावलोकी
शिखी मुण्डी चोपवीतो कुटुम्बी।
यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्या·
दया चितंयाचितं वाथ भक्षम् ॥२०

सभी उपनिषदों का अभ्यास स्वाध्याय यज्ञ कहा गया है। "ॐ" ऐसा उच्चारण करता हुआ ब्रह्मरूपी अग्नि,वही आत्मा की आहुति दी जाती है (आत्मा ब्रह्म में लीन किया जाता है)।१६। वह सभी उत्तम यज्ञों से उत्तम ज्ञानयज्ञ कहा गया है। इनका ज्ञान ही दण्ड है ज्ञान ही शिखा ( चोटी ) है तथा ज्ञान ही इनका यज्ञोपवीत है।१७। जिसकी ज्ञानमयी शिखा तथा ज्ञानमय यज्ञोपवीत होता है उसकी सभी वस्तुएँ ब्रह्मरूप हैं ऐसा वेद का अनुशासन है ( आज्ञा है )।१८। हाँ तो हे प्रिय ! ये संन्यासी जैसे-जैसे होते हैं बतला दिए गये हैं। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प ( घमण्ड ,असूया ( दूसरे के गुणों में दोष कल्पना करना ) ममता अहंकार आदि को पार करके ( छोड़कर ) मान, अपमान, निन्दा, प्रशंसा को छोड़ कर वृक्ष के समान स्थित रहते हैं ( काटने पर, छोड़ने आदि पर भी ) कुछ नहीं बोला करते। इत्थंभूत विद्वान् इस लोक में ही जीवन्मुक्त विदेह कहे जाते हैं। इनके सम्बन्ध में ये ऋचा है—ये भाई पुत्र आदि को लालन-पालन करके फिर कभी भी उनकी ओर देखते नहीं हैं तथा सुख-दुःख आदि सहते हुए शान्त होकर पूर्व, उत्तर दिशाओं में अपने-अपने स्वरूप का अनुसंधान करते हुए विचरण करें।१९। पात्र, दण्ड, धारण करता हुआ युगमात्र के दर्शन करने वाले, जटा वाले, अथवा मुण्डित मस्तक,उपवीत (ज्ञान) युक्त, स्वदेहमात्र जिनका कुटुम्ब है इस प्रकार विचरण करते है। तथा मनुष्यों से केवल प्राणयात्रा के लिए माँगकर अथवा बिना माँगे ही भिक्षा ग्रहण करे।२०।

मृद्दार्वलाबूफलं तन्तुपर्ण-
पात्रं तत्तथा यथा तु लब्धम्।
क्षाणं क्षामं तृणं कन्थाजिनौ च पर्णं
आच्छादनं स्यादहतं व विमुक्तम् ॥२१
ऋतुसंधौ मुण्डयेन्मुण्डमात्रं
नाधोनाक्ष जातु शिखां न वापयेत्।

चतुरो मासान् ध्रुवशोलतः स्यात्
स यावत्सुऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः ॥२२
अन्यानथाष्ट पुनरुत्थितेऽस्मिन्
स्वकर्मलिप्सुर्विहरेद्वा वसेत ।
देवाग्न्यगारे तरुमूले गुहायां
वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः ।
निरिन्धनज्योतिरिवोपशान्तो
न चोद्विजेदुद्वेजयेद्यत्र कुत्र ॥२३
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥२४
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहून्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥२५

मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी, श्रीफल, तन्तु ग्रथित अथवा पत्तों से बना पात्र जैसा भी मिल जाय ग्रहण करना चाहिए। चटाई, पेड़ों की छाल अथवा तिनकों से बनी कन्था तथा जो खाई न हो ऐसी पत्तों से बनी ओढ़नी धारण करनी चाहिए।२१। हंसों से अन्यों को ऋतुसन्धि के समय क्षौर कराना चाहिए। किन्तु कुटीचक कभी भी शिखा ( जटा ) को न कटाये। जब विश्वरूप पुरुष नारायण शयन करते हैं तब तक चार मास ( चौमासा ) एक ही स्थान पर स्थिर चित्त रहे।२२। विष्णु के उठ जाने पर पुनः कर्म करता हुआ वहीं रह जाय अथवा अन्यत्र आश्रय कर ले। साथ ही निवास किसी देवालय (मन्दिर) में वृक्ष की जड़ अथवा गुफा में करले तथा वहाँ निःसंग एवं सर्वथा अलक्षित ( जन संसर्ग से दूर ) होकर बिना लकड़ी की अग्नि के समान शान्त चित्त होकर किसी को देखकर भी न चिढ़े (क्षुभित न हो) सब में आत्म-बुद्धि करले।२३। यदि पुरुष अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप जान जाय तो फिर वह क्या चाहता हुआ किस इच्छा से

शरीर-पोषण अथवा शोषण करे ? अर्थात् नहीं करना चाहिए ।२४। धैर्यशाली ब्राह्मण उस ब्रह्म को पहचान कर उसी में बुद्धि को एकाग्र करे। अधिक शब्दाडम्बर में न पड़े क्योंकि यह सब वाणीमात्र के विग्लापन (व्यर्थ की बकझक) है ।२५।

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम् ।
ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥२६
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥२७

अथ खलु सोम्येदं पारिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति स ब्रह्महा भवति स भ्रूणहा भवति स महापातकी भवति । य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति स स्तेनो भवति स गुरुतल्पगो भवति स मित्रध्रुग्भवति स कृतघ्नो भवति स सर्वाँल्लोकान् प्रच्युतो भवति । तदेतदृचाभ्युक्तम् ।

स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी
मित्रध्रुगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम् ।
व्यक्तमव्यक्तं वा विधृत विष्णुलिङ्गं
त्यजन्न शुध्येदखिलैरात्मभासा ॥२८
त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा
यः स्वाश्रम सेवतेऽनाश्रमं वा ।
प्रात्यापत्ति भजते वातिमूढो
नैषां गतिः कल्पकोट्यापपि दृष्टा ॥२९
त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम् ।
मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥३०

वैराग्ययुक्त होकर ही स्थिर रहने की इच्छा करनी चाहिए। ब्रह्म के अलावा अन्य कुछ नहीं है ऐसा निश्चय कर ब्रह्म को पहिचान वैराग्य को भलीभांति समझ कर आत्माराम होकर आत्ममात्रतया शेष

रह जाय ( सर्वत्र आत्मदर्शन करे ) ।२६। जब इसके हृदय में रहने वाली सभी वासनायें शान्त हो जाती हैं तो यह मरणधर्मा होता हुआ भी मृत्युहीन होकर ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है ।२७। जो संन्यासी हे प्रिय ! इस नैष्ठिक अपने संन्यासियों के धर्म को छोड़ता है वह पुरुषत्वनाशक, ब्रह्मघाती, गर्भपातकी तथा महापातकी के समान होता है । जो इस वैष्णवी निष्ठा को छोड़ता है वह चोर होता है, वह गुरुतल्पगामी, मित्रद्रोही, कृतघ्न हो जाता है तथा सभी लोकों से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है । इसके सम्बन्ध में ये ऋचाऐं हैं— चोर, शराबी, गुरुपत्नी गामी, मित्रद्रोही ये प्रायश्चित से शुद्धि को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु व्यक्ताव्यक्त स्वरूप विष्णुलिङ्ग ( त्रिपुण्डादि ) को छोड़ने पर संन्यासी कैसे भी शुद्ध नहीं हो सकता है । २८ । आभ्यन्तर का बाह्य विष्णुलिङ्ग को छोड़ कर जो अपने आश्रम में रहता है अथवा आश्रम का भी परित्याग करदे वह अनुक्षण विपत्तियों से घिरा रहता है । ऐसों की अच्छी गति अनन्तकाल तक भी देखने में नहीं आई ।२६। सभी आश्रमों का परित्याग कर धैर्यशील पुरुष मोक्ष आश्रम में चिरकाल तक निवास करे । यदि मोक्ष आश्रम से भी भ्रष्ट हो जाय तो उसका कहीं ठौर नहीं है ॥३०॥

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।
तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम् ॥३१

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति स पुण्यश्लोको भवति स लोकज्ञो भवति स वेदान्तज्ञो भवति स ब्रह्मज्ञो भवति स सर्वज्ञो भवति स स्वराड् भवति स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति स पितृन्संबन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति ।३२। शत कुलानां प्रथमं वभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् । एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले सन्यसतीह विद्वान् ।६१।

त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिंशच्च परतः परान् ।
उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडति वै श्रुतिः ।।३४

सन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि ।
तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम् ।।३५

जो संन्यास ग्रहणकर अपने धर्म में स्थित नहीं रहता वेद की आज्ञा है कि ऐसे को आरूढ़च्युत ( पातकी ) समझना चाहिए क्योंकि वह संन्यास में आकर भी च्युत हो चुका है ।३१। हे प्रिय ! जो इस सनातन आत्मधर्म, विष्णु सम्बन्धी निष्ठा को प्राप्त कर उसको दूषित न करता हुआ स्थित रहता है वह इन्द्रियजित्, विशालकीर्त्ति लोकतत्व ज्ञाता, वेदान्त का पण्डित, ब्रह्मवेत्ता, सर्वज्ञ, स्वयंप्रकाश होता है तथा परब्रह्म को प्राप्त करता है । वह अपने पितरों, सम्बन्धियों बन्धुजों, मित्रों तथा सभी प्रेमी सम्बन्धियों को संसार से तार देता है ।३२। जिस कुल का विद्वान् संन्यास ग्रहण करता है उसके उस संन्यासी से पूर्व सौ तथा बाद के तीन सौ कुल कृतार्थ हो जाया करते हैं ।३३। संन्यासी तीस पर, तीस अपर तथा तीस अपरों से भी अपरों ( वंशजों ) को तार देता है, ये निश्चित बेदान्त है ।३४। प्राणों के कण्ठगत (मृत्युकाल में) होने पर भी जो ऐसा कह दे कि "मैंने संन्यास ले लिया" उसने पितरों को तार लिया है, इस प्रकार की वेदाज्ञा है ।।३५।।

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां नासमाप्य प्रब्रूयान्नानूचानाय नानात्मविदे नाविदेनावीतरागयानाविशुद्धाय नानुपसन्नाय नाप्रतमानसायेति ह स्माहुः । तदेतदृचाभ्युक्तम् ।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मां शेषधिष्टेऽहमस्मि ।

असूयकायानृजवे शठाय
मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥३६
यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं
मेधाविन ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
अस्मा उमामुपसन्नाय सम्यक्
परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥३७
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते
विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा ।
यथैव तेन न गुरुर्भोजनीय-
स्तथैव तदन्नन्नभुनक्ति श्रुतं तत् ॥३८
गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः ।
एकाक्षरप्रदातारं नाभिनन्दति ।
तस्य श्रुत तपो ज्ञान स्रवत्यामघटाम्बुयत् ॥३९
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
सब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् ॥४०
इत्युपनिषत् ॥

प्रिय ! इस सनातन आत्मधर्म ( आत्मव निरूपक धर्म ) की जोकि विष्णु सम्बन्धी निष्ठा है, उसको भली-भाँति निर्वाह किये ( स्वयं आचरण किए ) बिना उपदिष्ट न करे । साथ ही जो वेदतत्व का ज्ञानी न हो, आत्मबोधयुक्त न हो, वीतराग न हो, शुद्धचित्त, विनीत, जिज्ञासु न हो, उसे इसका उपदेश नहीं करना चाहिए । इस बात का पोषण करने वाकी ऋचायें हैं—विद्या ब्राह्मण के पास आई और बोली कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि ( खजाना ) हूँ, मुझे दूसरे के गुणों में दोष देखने वाले कुटिल, धूर्त, मूर्ख, पुरुष को उपदिष्ट मत करो । ऐसा करने पर ही मैं प्रभावशालिनी रह सकूँगी ।३६। जिसे पवित्र, अभिमानशून्य ( मदहीन ) सावधान, मेधावी, ( बुद्धिशाली ), ब्रह्मचारी समझे, उस जिज्ञासु के पास में आये हुए को

भली-भाँति परीक्षा करके इस आत्मतत्व बोधिका वैष्णवी विद्या का उपदेश करना चाहिए । ३७ । जो कि शिक्षा प्राप्त करके भी वाणी, मन, तथा कर्म से अपने गुरुजनों का आदर नहीं करते, कल्याणेच्छुक उनके अन्न को ग्रहण नहीं करते एवं गुरु भी उसके अन्न को नहीं खाता, ठीक वैसे ही यति भी उस कृतघ्नी घर का अन्न ग्रहण नहीं करने । इस प्रकार श्रुति ( प्रसिद्ध ) ( प्रभाववान् गुरु ऐसा होता है जैसे आगे बताया है ।३८। गुरु ही परमधर्म है गुरु ही परमगति है । एक अक्षर के ज्ञानदाता गुरु को भी जो आद्रित नहीं करता ( उसका सम्मान नहीं करता ) उनका पढ़ा हुआ, उनकी तपस्या, उनका ज्ञान धीरे-धीरे ऐसे ही क्षीण होकर समाप्त हो जाता है जैसे कच्चे घड़े से जल ।३९। जिसकी देवताओं में परमभक्ति होती है तथा जैसे देवताओं में वैसे ही गुरु में होती है; वह ब्रह्मज्ञानी परमपद की प्राप्ति करता है ऐसा वेदानुशासन है; वेद की आज्ञा है ।४०।

॥ शाट्यायनीयोपनिषद् समाप्त ॥

———

# याज्ञवल्क्योपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णं मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।।

शांति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच। भगवन् संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृहात् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहदेव विरजेत्तदहतेव प्रव्रजेत् ।।१।।

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यान्त् । आग्नेयामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः। प्राणमेवैतया करोति। त्रैधातवीयामेव कुर्यात। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो आरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो बर्धया रयिम् ।।

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवंतदाह ।।२।।

किसी समय विदेहराज जनक याज्ञवल्क्य के पास जाकर बोले—हे प्रभो ! हमें संन्यास-धर्म समझाइये। तब उन याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मचर्याश्रम को विधिवत् पूर्ण कर गृहस्थी होना चाहिए। तब घर से

(पुत्र कलत्रादि का सुख भोगकर) वन में रहने वाला होकर (वानप्रस्थ होकर) सन्यास लेना चाहिए । अथवा अत्यन्त (जितेन्द्रिय यदि हो जाय तो) ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले, अथवा स्वेच्छानुसार गृह से (गृहस्थ के बाद अथवा वानप्रस्थ से ही अथवा जिस दिन वस्तुतः संसार से सर्वथा वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यास लेले । चाहे व्रती हो या नहीं, स्नातक हो या नहीं, अग्नि की सेवा कर चुका हो अथवा नहीं ।१। इसके बाद कुछ प्राजापत्य यज्ञ करते हैं। अथवा इसे न कर आग्नेय यज्ञ ही करले क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस यज्ञ द्वारा प्राण का ही पोषण होता है किंवा त्रैधातवीय (तीनधातु, (सत्व, रज तम) सम्बन्धी यज्ञ करे सो अधोलिखित मन्त्र से अग्नि का आघ्राण करे:—हे अग्निदेव ! जिस मूल कारण से तुम उत्पन्न होकर प्रकाशित हो रहे हो वह यह है। उसको पहचानते हुए आप खूब प्रज्वलित हों तथा हमारे ऐश्वर्य को, सम्पदा को बढ़ावें । यही अग्नि का मूलकारण है—योनि है, सो हे अग्ने ! तुम अपनी योनि रूप प्राण में प्रविष्ट हो जाओ ।२।

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रैस्त्रय्येवं विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । शिखां यज्ञोपवीतं छित्वा सन्यस्त मयेति त्रिवारमुच्चरेत् एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥३॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा प्राश्याम्य अयं विधिः ॥४॥

अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवतिः । एष पन्थाः परिव्राजकानाम् ।

वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महास्थाने वा। एष पथा ब्रह्मणा ह्यानुवित्तस्तेनेति संन्यासी ब्रह्मविदिति। एवमेवष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥५॥

गाँव से ही आग लाकर पहले की ही तरह आग का आघ्राण करे। यदि आग प्राप्त न हो तो जल में होम करे। क्योंकि जल सर्वदेवमय कहा जाता है। "मैं सब देवताओं के प्रति होम करता हूँ 'स्वाहा' यह उन्हें प्राप्त हो।" इस प्रकार होम करके उससे निकालकर उसका प्राशन करे (उसे खाले) वह रोग नाशक घृतयुक्त हवि है। मोक्ष मन्त्रों के द्वारा इस प्रकार वेद की प्राप्ति करे। वह ही ब्रह्म है, उसकी उपासना करनी चाहिए। चोटी यज्ञोपवीत को तोड़ कर "मैंने संन्यास ले लिया" इस प्रकार तीन बार उच्चारण करे। हे जनकजी ! यह विधि इस प्रकार है ।३। इन याज्ञवल्क्य से अत्रि ने पूछा—ब्राह्मण बिना जनेऊ के कैसे रह सकता है ? तो याज्ञवल्क्य बोले—यह ॐकार ही उस संन्यासी का यज्ञोपवीत है जो कि पूर्वोक्त प्रकार होम कर उसका प्राशन कर आचमन कर लेता है। उसके लिए केवल यही विधि है ।४। सो इस प्रकार का गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला सन्यासी ब्रह्मपद होता है (ब्रह्मस्वरूप है—ब्रह्म की प्राप्ति के लिए समर्थ है) सन्यासियों के लिए यही रास्ता है, विधि है। जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरगति, महाप्रस्थान (मृत्यु मोक्ष) अन्य में भी रास्ता उस ब्रह्म ने निर्दिष्ट किया है। इसी कारण तो सन्यासी ब्रह्म का ज्ञाता होता है इसी प्रकार की यह विधि है महाराज ! यही अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा ।५।

तत्र परमहंसा नाम संवतकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः ॥६॥

परस्त्रीपुरपराङ्मुखाः त्रिदण्ड कमण्डलुं भुक्तमात्रं जलपवित्रं शिखा यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येयत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥७॥

यथाजातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः तत्त्वब्रह्ममार्गं सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलकमण्डलुः अबाधकरहस्यस्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहरकोटकन्दरनिझरस्थण्डिलेष्वनिकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ॥८॥

इन सन्यासियों में श्रेष्ठ परमहंस में संज्ञक में से अव्यक्त लिंग (चिह्न) धारण करने वाले, अव्यक्त आचरण वाले, सर्वदा सावधान जागरूक होते हुए भी पागलों की तरह का-सा आचरण करने वाले अर्थात् दीखने वाले हैं—(इनके नाम हैं) संवर्तक आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक आदि-आदि ।६। सो इस प्रकार दुःख के अनुभव से रहित, स्त्री आदि हीन होकर ब्रह्मरूपतत्व की प्राप्ति के मार्ग में भलीभाँति लगे हुए शुद्ध हृदय होकर केवल जीवन यात्रा (प्राण धारण मात्र) के लिए ठीक समय पर स्वच्छन्दतया जहाँ कहीं से भी लाभ हानि की चिन्ता न करता हुआ मिले, न मिले की चिन्ता न करता हुआ करपात्री होकर (हाथ पात्र में माँग कर) अथवा खप्पर में माँगकर कमण्डलु का जल पीकर आनन्द से विचरण करे। भोजन केवल इतना ही माँगे जिससे उदरपूर्ति हो जाय, बचाकर अन्य पात्रों में रखने की आवश्यकता नहीं। अपने रहने के लिए कोई एकान्त गुप्तस्थल चुने। खाली खण्डहर, देवमन्दिर

तिनकों की झोंपड़ी, वल्मीक, पेड़ की जड़ ( नीचे ), कुम्हारों की झोंपड़ी, यज्ञशाला, नदी का तट, गुफा, खोह अथवा झरनों के बड़े-बड़े पत्थरों पर हमेशा के लिए घर न बनाते हुए भी निवास करता हुआ अपने अच्छे-बुरे सभी कर्मों को निर्मूल करता हुआ जो संन्यास-धर्म से देहत्याग करता है वह परमहंस संज्ञक होता है ।६-८।

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्य-निर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति । अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥९

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥१०
प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥११
नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये ।
प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥१२

दिगम्बर अर्थात् नग्न, साथ ही जो किसी को नमस्कार न करे ( अर्थात् सब में एक ब्रह्म देखता हुआ किसी को नमस्कार योग्य न समझे ) स्त्री-पुत्रादिकों की आसक्ति से हीन लक्ष्य (लक्षणादि से ज्ञात) तथा अलक्ष्य समाहित व असमाहित अवस्थाओं द्वारा दोनों का निवर्तक, सब कुछ छोड़ देने वाला संन्यासी परमेश्वर होता है । इस सम्बन्ध में ये श्लोक हैं ।९। जो अपने से पहले संन्यासी हुआ हो अथवा धर्म से तुल्य हो ( आचार-विचार सम्प्रदाय ) उसे प्रणाम करना चाहिए अन्य को नहीं ।१०। प्रमादी, विषयासक्त तन वाले, नीच, झगड़ालू तथा वेदान्त ने जिनके आशयों को दूषित प्रतिपादित किया है ऐसे संन्यासी भी देखने में आते हैं ।११। नाम, धाम, काम, अवस्था आदि से परे ऊँचे स्थान अद्वय रूपी साम्राज्य में ( जिसमें अपने से भिन्न कुछ भी संसार में नहीं दीखता ) स्थित यति संन्यासी जो कि इस जटिल आत्म

तत्व का ज्ञाता है, वह भला कैसे किसी को प्रणाम करे, क्योंकि वह तो सभी को अपना ही स्वरूप देखता है। क्योंकि उसके लिए तो कोई काम भी संसार में शेष नहीं रहता है।१२।

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।
प्रणयेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डालगोखरम् ॥१३
मांसपाञ्चालिकायास्तु मन्त्रलोलेऽङ्गपंजरे।
स्नाय्वस्थि ग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥१४
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥१५

आत्म तत्वज्ञानी तो किसी को भी प्रणाम नहीं करता अथवा ईश्वर को यह समझकर कि वह जीव रूप संसार के सभी प्राणियों में प्रविष्ट है, घोड़े, चाण्डाल, गौ तथा गधे आदि सभी को दण्डवत्—पृथ्वी में गिरकर प्रणाम करता है।१३। माँस की बनी इस चलते-फिरने वाली पिटारी रूप स्त्री के शरीर में जिसमें कि नसें, हड्डी, ग्रन्थियाँ ही हैं क्या वस्तु सुन्दर है।१४। जरा इसकी चमड़ी, माँस, खून, आँसू और आंखें अलग-अलग करके ( अर्थात् काट छांट करके ) तो देखो क्या वह सुन्दर लगता है ? यदि नहीं तो फिर क्यों इस पर इतने मुग्ध हुए जाते हो ?।१५।

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिनः ॥१६
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥१७
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥१८

ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारुदारुणम् ॥१९
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥२०

जिसके स्तनों पर लटकने वाले हार को मेरु ( पर्वत ) के शिखरों के मध्य से गिरने वाली गंगाधर की उपमा दी जाती है तथा वैसी दीखती है ।१६। श्मशान तथा इधर-उधर अन्यत्र काट कर गिरा हुआ वही स्त्री का स्तन समय आने पर कुत्तों के द्वारा इसी प्रकार खाया जाता हुआ दीखता है जैसे एक साधारण अन्न का टुकड़ा ।१७। ये सुन्दर काढ़े हुए बालों तथा ( बड़ी-बड़ी आंखों में ) कज्जल को लगाने वाली, खराब स्पर्श वाली, आँखों को अच्छी लगने वाली, भयानक आग की शिखा के समान जो स्त्रियां हैं, वे पुरुष को तिनके के समान क्षणभर में दग्ध कर देती हैं, जला देती हैं ।१८। ये स्त्रियां बहुत ही दूर से भी जला देने वाली अत्यन्त रसीली लगती हुई भी नीरस रसहीन कर देने वाली स्त्रियाँ, नरक की आग की लकड़ियाँ है जो कि चारुदारुण ( सुन्दर होने पर भी भयानक ) हैं ।१९। कामदेवरूपी बहेलिये ने मनुष्यरूपी पक्षियों को फँसाने के लिये स्त्री-रूपी हृदय को मोहित कर देने वालीबन्धन वागुरा (जालपाश) बिछा रखी है ॥२०॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिता ॥२१
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥२२
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥२३

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥२४
जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥२५

जन्मरूपी तलैया में रहने वाले मछली स्वरूप हृदयरूपी (कलुषित हृदयरूपी) कीचड़ में चलने वाले मनुष्यरूपी मछियों के लिये दुर्वासना रूपी रस्सी में बंधी ये स्त्रियाँ मछली पकड़ने के कांटे की तरफ हैं ।२१। सभी प्रकार के बड़े-बड़े दोषों की पिटारी स्वरूप इस दुःखों की जञ्जीरमय स्त्री से तो भगवान् बचाये ।२२। जिसकी स्त्री ही नहीं वह कहाँ भोगें ? यदि कोई स्त्री को छोड़ दे तो समझो उसने संसार को ही छोड़ दिया तथा संसार छोड़ देने पर तो हरेक सुखी हो ही जाता हैं ।२३। इसी प्रकार पुत्र भी कष्टदायक ही है क्योंकि यदि पुत्र नहीं होता तो माता-पिता को बड़ा क्लेश रहता है । यदि कदाचित् हो भी जाय तो गर्भपात हो जाता है अथवा प्रसव वेदना से कष्ट देता है ।२४। किसी तरह यदि हो भी जाय तो ग्रह, रोग हो जाते है अथवा लड़का ही नालायक हो जाता है । यज्ञोपवीत कर देने पर भी मूर्ख रह जाता है अथवा पढ़-लिख जाय तो विवाह होना कठिन होता है ॥२५॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥२६
न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।
न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥२७
रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥२८

अपकारिणि कोपश्चेत्कोप कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥२९
नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।
कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥३०

साथ ही जवान लड़के से 'कहीं दूसरे की स्त्रियों से बुरा सम्पर्क न बनाले' आदि भय रहता है। अथवा विवाह हो जाय तो लड़कों की इतनी संख्या हो जाती है कि कुटुम्ब का भरण-पोषण कठिन है। इस प्रकार पुत्र से होने वाले दुःखों की कोई गणना ही नहीं। साथ ही यह भी देखने में आता है कि सेठ आदमियों के लड़के नहीं होते, होते हैं तो मर जाते हैं आदि-आदि। अतः इन सबका कारणभूत स्त्री को त्याग देना चाहिए ( विवाह ही न करे ) अथवा इस ओर आसक्ति सर्वथा छोड़ दे।२६। यति को हाथ-पाँव, आँखें, वाणी का संयमी होना चाहिए अर्थात् पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिए, तभी वह ब्रह्ममय हो सकता है।२७। शत्रु तथा सांसारिक बन्धनयुक्त शरीर में जो एक भाव देखने वाला ज्ञानशील यति होता है उसे किसी पर भी क्रोध नहीं आता, जैसे कि मनुष्य को अपने अवयवों पर, हाथ-पांव आदि पर क्रोध नहीं आता।२८। यदि निरपराध पर कोई क्रोध करता है तो उस भले आदमी से पूछना चाहिए कि क्रोध पर ही तुम क्रोध क्यों नहीं करते जो सभी वस्तुओं का मूलकारण है, साथ ही जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का जबरदस्त बैरी है।२९। अपने आधार को ही भस्म कर देने वाले क्रोध को मेरा नमस्कार है। मुझे वैराग्य देने वाले तथा दोषों का ज्ञान कराने वाले को बार-बार नमस्कार है ॥३०॥

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी ।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥३१
चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥३२

यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम् ।
नातः परतरं किंचिद्विद्यते मुनिपुङ्गवः ।।३३
इत्युपनिषत ।।

जब साधारण मनुष्य सोते हैं तब संयमी पुरुष जागता है (अर्थात् विषयासक्ति के समय संयमी पूर्ण सावधान रहता है ) और जब अन्य जनसाधारण जागते हैं तब योगीराज सुषुप्ति का आश्रय ले लेता है ( उनके सम्पर्क से विषय कहीं मुझे भी न दबा डाले आदि विचार कर ) ।।३१।। यति को चाहिए कि वह यही भावना करे कि संसार में चिद्स्वरूप ही है, अखण्ड ब्रह्माण्ड चिन्मय है, चिद्रूप ही सब कुछ है, मैं भी चिद् ही हूँ तया सारी सृष्टि (आदमी व ब्रह्माण्ड ) चिद्रूप ही हैं ।३२। हे मुनिश्रेष्ठ ! परमहंस का परमपद मोक्ष ही यतियों के लिये उपादेय है ( आवश्यक वस्तु है ) इससे बढ़ कर कुछ भी नहीं ।।३३।।

।। याज्ञवल्क्योपनिषद् समाप्त ।।

———

# जाबालोपनिषत्

ॐपूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शान्ति पाठ—यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यम् । यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां ब्रह्मसदनम् । अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येतेति । इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् । अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति । तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत्ताविमुक्तं न विमुञ्चेत् । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य एवमेवैतद्भगवन् इतिवै याज्ञवल्क्येति ।।१।।

बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य जी से कहा—प्राणों का क्षेत्र ( स्थान ) कौन-सा है ? इन्द्रियों के देवयजन का क्या आशय है ? और समस्त भूतों का ब्रह्मसदन क्या है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"अविमुक्त ही प्राणों का क्षेत्र है, वही इन्द्रियों का देवयजन स्वरूप है और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है । इसलिये कोई किसी भी स्थान पर जाय, उसे यही समझ लेना चाहिए कि यही कुरुक्षेत्र ( प्राणों का स्थान ), इन्द्रियों का देवयजन और सब भूतों का ब्रह्म का स्थान है । जब संसार में से प्राणी के प्राण का उत्क्रमण होता है तब रुद्रदेवता तारक ब्रह्म के विषय में उपदेश करते हैं, जिससे वह

अमृतत्व को पाकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए प्राणी को अविमुक्त की उपासना सदैव करते रहना चाहिए उसका त्याग कभी उचित नहीं ॥१॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥१॥

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां ज मध्ये प्रतिष्ठित इति । वै वरणा का च नांसीति । सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषावारयतीति तेन वरणा भवति । सर्वानिन्द्रयकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नासी भवतीति । कतमच्चास्य स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सधिर्भवतीति । एतद्वै सन्धि सन्ध्यां ब्रह्मविद उपासत इति । सोऽविमुक्त उपास्य इति । सोऽतिमुक्तं ज्ञानमाचेष्टयो वै तदेवं वेदेति ॥२॥

इसके पश्चात् अत्रि मुनि ने पूछा—"इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा का ज्ञान हम किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"इसके लिए अविमुक्त की उपासना ही करनी चाहिए क्योंकि ऐसा अनन्त और अव्यक्त आत्मा अव्यक्त में प्रतिष्ठित है।१। यदि यह प्रश्न किया जाय कि यह अविमुक्त किस में रहता है ? तो कहा जायगा कि यह वरण और नाशी के मध्य में प्रतिष्ठित है। फिर प्रश्न किया जाय कि वरण और नाशी का क्या आशय है ? तो कहा जायगा कि वरण वह शक्ति है जो सर्व इन्द्रियों के दोषों को निवारण करती और नाशी उसे कहते जो समस्त इन्द्रियों के किये हुए पापों को नष्ट कर देती है। फिर प्रश्न किया जाय कि इसका

स्थान कौनसा है ? भ्रकुटी और नासिका का जो सन्धिस्थान है, वही इस लोक और परलोक के मिलन का स्थल भी है। ब्रह्मविद् व्यक्ति इसी संधि स्थान की दोनों समय संध्या द्वारा उपासना करते हैं और यह अविमुक्त उपासना करने के योग्य भी है। इस प्रकार अविमुक्त की उपासना करने से जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है वही आत्मा के संबन्ध में दूसरों को उपदेश कर सकता है ॥२॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः । किंजप्येनामृतत्वं ब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । शतरुद्रीयेणेति । एतान्येव ह वा अमृतस्य नामधेयानि । एतर्ह वा अमृतो भवतीति ॥१॥

ब्रह्मचारी शिष्यों ने प्रश्न किया—"किस जप करने से अमृत्व प्राप्त होता है सो बतलाइये ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—शतरुद्र का जप करने से अमृतत्व की प्राप्ति होती है और प्राणी मृत्यु को जीत सकता है ॥ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

अथ जनको ह वैदेही याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन्संन्यासमनुब्रूहीतिः । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वा स्नातको व उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥१॥

तद्वै के प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेयीमेव कुर्यात् । अग्निर्हि वै प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एययैव त्रयो धातवो यदुय सत्वं रजस्तम इति ।

अय ते योनिर्ऋत्वितो यतो जातो अरोचथाः ।
त जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥
इत्यनेन मात्रेणग्निमाजिघ्रेत् । एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः । प्राण गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥२॥

ग्रामदग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्नि न विन्देदप्सु जुहयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । मोत्रमन्त्र य्येवं विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । एवमेवै-तद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥३॥

एक समय विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य के पास जाकर विनयपूर्वक कहा—हे भगवन् ! मुझे संन्यास के सम्बन्ध में उपदेश कीजिये ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—पहले ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करके गृहस्थ बनना चाहिए, गृहस्थ आश्रम को पूर्ण करके वानप्रस्थ में प्रवेश करना चाहिए और तब परिव्राजक या सन्यास की दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए । पर अन्य प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम अथवा वानप्रस्थ आश्रम किसी से भी संन्यास लिया जा सकता है । चाहे व्रती हो या अव्रती ( व्रत से रहित ) स्नातक ( विद्वान् ) हो या न हो, चाहे अग्नि ग्रहण करके स्त्री के मरने से त्याग किया हो अथवा अग्नि ग्रहण कर संस्कार न किया गया हो, किसी भी अवस्था में जब मन में वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी समय संन्यास ग्रहण किया जा सकता है ।१। कुछ व्यक्ति प्रजापति का इष्ट करके कार्य करते हैं, पर वैसा न करके अग्नि का ही इष्ट करना श्रेयस्कर है, क्योंकि अग्नि ही प्राण स्वरूप है और उसका इष्ट करने से प्राणों की वृद्धि होती है । इसके पश्चात् त्रयधातव का इष्ट करना चाहिए, सत्व, रज, तम ये तीन धातु हैं । निम्न मन्त्र से अग्नि को सूँघना—"यह प्राण सामान्य कारण रूप है, क्योंकि तुम्हारी उत्पत्ति इसी प्राण से हुई है ।

हे प्राण को जलाने वाले अग्नि ! तुम प्रकाश को प्राप्त हो, वृद्धि को प्राप्त हो और हमारी वृद्धि करो ॥२॥ जो अग्नि का कारण (उत्पन्न करने वाला) है, हे अग्निदेव ! उस प्राण में तुम प्रविष्ट होओ। यह कहकर आहुति दी जाय। जो अग्निहोत्र न हो तो गाँव में से अग्नि लाकर उपरोक्त मन्त्र द्वारा उसे सूँघना। यदि वहां भी अग्नि प्राप्त न हो सके तो जल में आहुति देना चाहिए, क्योंकि जल सब देवताओं का रूप है। "मैं सब देवताओं को यह आहुति देता हूँ" इस प्रकार जल में आहुति देकर घृतयुक्त उस हवि को भक्षण करना। मोक्ष-मन्त्र वेद-स्वरूप है, इस ब्रह्म स्वरूप की उपासना करना, हे भगवन् ! यह इस प्रकार है ॥३॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्यायज्ञोपकथं वीती ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। इवमेवास्य यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्नम्य । अय विधिः प्रव्राजिनाम् ॥१॥

वीराध्वाने वनादके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। अय परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षणाणो ब्रह्मभूयाय भवति। यद्यतुरः स्यान्मनसा वाचा सन्यसेत्। एष पन्था ब्राह्मणा हानुवित्तस्तेनै संन्यासी ब्रह्मविदित। एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥२॥

फिर अत्रि मुनि ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! मैं जानना चाहता हूं कि जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है उसे किस प्रकार ब्राह्मण कहा जा सकता है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—उसकी आत्मा ही उसका यज्ञोपवीत होता है ? ।१। वीरमार्ग में, अनशन में, जल-प्रवेश (स्नान) में, अग्नि-प्रवेश में, महाप्रस्थान में संन्यासी के लिये यही विहित मार्ग है। वह भगवा वस्त्र पहिन, मुंडित होकर, परिग्रह त्यागकर

शुचिता पूर्वक रहकर, द्वेषभाव त्यागकर भिक्षावृत्ति करता है और इस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है। आतुर-संन्यास ग्रहण करने वाले को मन और वचन से सबका त्याग करना चाहिए। यह वेद प्रसिद्ध मार्ग है और ब्रह्मज्ञानी संन्यासी के सर्वथा उपयुक्त है। ऐसा भगवान् याज्ञवल्क्य का मत है ॥२॥

॥ पञ्चम खण्ड समाप्त ॥

तत्र परमहंसा नाम सम्वर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्ता त्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्त उन्मत्तावदाचरन्तः ॥१॥

त्रिदण्ड कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥२॥

यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः तत्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरि–कुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थाण्डिलेष्वनिकेतवाष्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्टः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सन्यासेन देहत्याग करोति स परमहंसो नाम। इत्युपनिषत् ॥३॥

जो परहंस संन्यासी हैं, जैसे सम्वर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय और रैवतक आदि वे संन्यास के सब चिह्नों से पृथक् थे। उनके आचार का भी पता नहीं लगता था। वे यद्यपि उन्मत्त नहीं थे पर बाहर से उन्मत्त के समान ही रहते थे ।१। ऐसे संन्यासियों को दण्ड, कमण्डलु, शिक्य (छींका), जल द्वारा पवित्र पात्र, शिखा, यज्ञोपवीत आदि चिह्नों को "भूः स्वाहाः" कहकर जल में त्याग देना चाहिए और केवलमात्र

भावना का अनुसंधान करना चाहिए ॥२॥ संन्यासी प्राकृतिक रूप में ( नग्न ) निर्द्वन्द्व, परिग्रह रहित और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त रहता है। वह शुद्ध मन वाला होता है, ब्रह्म मार्ग में निरन्तर बढ़ते रहने का ध्यान रहता है। यद्यपि वह जीवन्मुक्त होता है पर प्राणों की रक्षा के लिए उपयुक्त समय पर आहार को उदानरूपी पात्र में डाल देता है, पर उसे किसी प्रकार के लाभ या अलाभ की चिन्ता नहीं होती। वह शून्य स्थान, देवगृह, तृण-समूह, साँप का विल, वृक्षमूल, कुम्हार का स्थान, अग्निहोत्र का स्थान, नदी का तट, पहाड़ का खड्ड या गुफा, खोह, झरना आदि जहां भी हो, घर का ध्यान न रख कर रहता है। उसमें अपनेपन ( ममता ) की प्रवृत्ति नहीं होती, शुक्ल (सात्विक) ध्यान में लगा रहता है। अध्यात्म भावना में निष्ठा रखता है और अशुभ कर्मों को निर्मूल करता रहता है। इस प्रकार संन्यास-धर्म का पालन करता हुआ जो देहत्याग करता है वही परमहंस है, उसी का नाम परमहंस है ॥३॥

॥ षष्ठ खण्ड समाप्त ॥

॥ जाबाल उपनिषद् समाप्त ॥

———

# परमहंसोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शान्ति पाठ — यह पूर्ण है, वह पूर्ण है, पूर्ण से ही पूर्ण बनता है। पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति ।

ॐ। अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरित नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच । तं भगवानाह । योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखायज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि सन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत् । तच्च न मुख्योऽस्ति । को मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥१॥

हरी ॐ। नारद मुनि ने ब्रह्माजी के पास जाकर कहा— "योगियों में जिसने परमहंस की दीक्षा ली है उसका मार्ग कौन-सा है और उसकी स्थिति कैसी होती है ?" यह सुनकर भगवान् ब्रह्मा बोले— "परमहंस मार्ग संसार में अत्यन्त दुर्लभ और कठिन है और इसलिए वे अधिक संख्या में नहीं होते । परमहंस सन्यासी एकाध ही मिलता है और वह सदैव कूटस्थ भाव में स्थित रहता है । ऐसा परमहंस ही वेद

पुरुष है, यह विद्वानों की मान्यता है। इस प्रकार के महापुरुष का चित्त (ध्यान) सदैव मुझमें रहता है और मैं उसमें स्थित रहता हूं। संन्यास ग्रहण करने वाला, मित्र, पत्नी बान्धव आदि का तथा शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय, सब प्रकार के नैष्ठिक कर्म का तथा समस्त ब्रह्माण्ड का त्याग करके, कौपीन, दण्ड और चद्दर अपने शरीर की रक्षा और लोक-कल्याण के लिए धारण करता है। पर यह दीक्षा भी मुख्य नहीं है। तब मुख्य दीक्षा कौनसी है? ॥१॥

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमानं इति। षडूर्मिवर्जितो निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहङ्कारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते, यतस्तद्वपुरपध्वस्तसंशयमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्यबोधस्तत्स्वमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलमद्वयानन्दचिद्घन एवास्मि, तदेव मम परमं धाम तदेव शिखा तदेवोपवीतं च, परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सध्या ॥२॥

परमहंस की मुख्य दीक्षा यह है कि न वह दण्ड रखे, न शिखा, न यज्ञोपवीत, न किसी प्रकार का वस्त्र रखे, वह शीत-उष्ण, सुख-दुःख मान-अपमान, इन छै प्रकार की उर्मियों से रहित होता है। उसे निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, काम, क्रोध, लोभ मोह, हर्ष, असूया, अहङ्कार आदि से तनिक भी लगाव नहीं रहता और वह अपनी देह को मृतक समान समझता है। उसका संशय और मिथ्या भाव पूर्णतः नष्ट हो जाता है। वह सत्यज्ञान स्वरूप होता है और संसार में किसी भी पदार्थ का आश्रय न रखते हुए एकमात्र

अपने रूप में स्थित होता है। वह ऐसा मानता है कि मैं स्वयं शान्त, अचल, अद्वयानन्द, विज्ञानघन स्वरूप हूं, यही स्वरूप मेरा परमाश्रम, शिख, यज्ञोपवीत सब कुछ है। वह परमात्मा और आत्मा में समभाव रखता है, इनको एक दृष्टि से देखता है और यही उसकी संध्या है ॥२॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ॥
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
तितिक्षा ज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः।
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ॥
स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञकान् ॥
इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥३

वह सर्व कल्पनाओं को त्यागकर अद्वैत परब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहता है। वह ज्ञानरूपी दण्ड की धारणा किये रहता है इसलिए उसको दण्डी भी कहते हैं। पर जो लकड़ी का ही दण्ड ग्रहण करता है, जिसके मन में सब प्रकार की आशाएं भरी हैं, जिसमें ज्ञान का अभाव है, जो क्षमा, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों से शून्य है और भिक्षा मांगकर जीना ही जिसका उद्देश्य है, वह पापी यती-वृत्ति ( संन्यास ) का नाश करने वाला है। ऐसा पापी संन्यासी नामधारी महा रौरव नर्क में जाता है ॥३॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्भिक्षोः नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्र न ध्यान नोपासनं च। न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथ-गहनं सर्वं च अनिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुस्सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च न च बाधकः क इति चेद्बाध-

कोऽस्त्येव । यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत् । यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत् स पौल्कसो भवेत् । यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत् स आत्महा भवेत् । तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च सर्वे कामाः मनोगता व्यावर्तन्ते । दुःखे नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहः त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदं च । सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते । तत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति । कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥४॥

जो इस अन्तर को भली प्रकार समझता है, उसके लिए आकाश ही वस्त्ररूप होता है, वह नमस्कार—स्वाहाकार, निन्दा-स्तुति की ओर ध्यान नहीं देता और स्वेच्छापूर्वक विचरण करता हुआ भिक्षु बनता है। उसको आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य कुछ भी नहीं होता और वह भिन्न-भाव, समान-भाव सत्यभाव या सर्वभाव किसी को भी ग्रहण नहीं करता। उसके रहने का कोई नियत घर आदि नहीं, पर उसकी बुद्धि अवश्य स्थिर होती है। इस प्रकार के परमहंस को सुवर्ण आदि के संग्रह करने से कोई प्रयोजन नहीं होता। कोई वस्तु उसे दर्शनीय अथवा आकर्षक नहीं जान पड़ती है। उसके लिए कौनसी वस्तु बाधा स्वरूप है? परमहंस होकर यदि वह सुवर्ण से प्रीति करे तो ब्रह्महत्या के समान पाप का भागी होता है। जो भिक्षु स्वर्ण (सम्पत्ति) से प्रीति रखता है वह चाण्डाल से अधिक अधम मानने योग्य है। जो भिक्षु यती सुवर्ण के प्रति आकर्षित होता है वह आत्मघाती है। इसलिए परमहंस को न तो सुवर्ण (धन सम्पत्ति) को प्रीति के भाव से देखना चाहिए और न उसका स्पर्श करना चाहिए, न उसे ग्रहण करना चाहिए। ऐसे यती की मनकी सब कामनायें समाप्त हो जाती हैं। न वह दुःख से उद्विग्न

होता है और न उसे सुख की आकांक्षा होती है, वह राग ( प्रीति ) को त्याग देता है, शुभ और अशुभ के प्रति वह स्नेहरहित बन जाता है, न किसी से द्वेषभाव रखता है और न हर्ष से उछल पड़ता है। उसकी सब इन्द्रियाँ शान्तभाव को प्राप्त हो जाती हैं और वह अपनी आत्मा में ही स्थित रहता है। वह सदा यही भावना रखता है कि मैं पूर्ण आनन्दरूप और अद्वितीय ब्रह्म ही हूँ और ऐसा मानने से वह कृतकृत्य हो जाता है ॥४॥

॥ परमहंस उपनिषद् समाप्त ॥

———

# निर्वाणोपनिषत्

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरा:वोर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे माप्रहासीरनेनाधीनेनाहोरात्रात्संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतुमाम् । अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ॥

शान्तिपाठ—ॐ । मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, हे स्वयंप्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ । ह वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो । इस वेदाभ्यास में ही मैं रात्रि-दिन व्यतीत करता हूं । मैं ऋत भाषण करूंगा, सत्य भाषण करूंगा, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, वक्ता की रक्षा करो, ॐ शान्ति शान्ति, शान्ति ।

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः । परमहंसः सोऽहम् । परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः । मन्मथक्षेत्रपालाः । गगनसिद्धान्तः अमृतकल्लोलनदी । अक्षयं निरञ्जनम् । निःसंशय ऋषिः । निर्वाणो देवता । निष्कुलप्रवृत्तिः । निष्केवलज्ञानम् । ऊर्ध्वाम्नायः । निरालम्बपीठः । संयोगदीक्षा । वियोगोपदेशः । दीक्षासंतोषपावनं च । द्वादशादित्यावलोकनम् । विवेकरक्षा । करुणैव केलिः । आनन्दमाला । एकासनगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी । अकल्पितभिक्षाशी । हंसाचारः । सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम् । धैर्यकन्था । उतासीनकौपीनम् । विचार दण्डः । ब्रह्मावलोकयोगपट्टः । श्रियां पादुका । परेच्छाचरणम् ।

कुण्डलिनीबन्धः । परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः । शिवयोगनिद्रा च खेचरीमुद्रा च परमानन्दी ॥

अब निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान करते हैं। मैं परमहंस हूं। संन्यासी अन्तिम स्थिति रूप चिह्न वाले होते हैं। कामदेव को ( रोकने में ) क्षेत्रफल जैसे होते हैं। उनका सिद्धान्त आकाश के समान निर्लेप होता है। अमृत की तरङ्गों से युक्त ( आत्मारूप ) उनकी नदी होती है। अक्षय और निर्लेप उनका स्वरूप होता है। निःसंशय (आत्मा) ही उनका मान्य ऋषि (वेद) है, निर्वाण (मोक्ष) ही उनका ज्ञान सर्व उपाधियों से मुक्त है, उच्च स्थिति के लिए उनका अभ्यास होता है। आश्रय रहित बनना उनका आसन है। परमात्मा के साथ संयोग ही उनकी दीक्षा है। संसार से छूटना यही उपदेश है। दीक्षा लेकर संतोष रखना ही पीना है, बारह सूर्यों का वे दर्शन करते हैं। विवेक की रक्षा करते हैं। दया ही उनकी क्रीड़ा—खेल है, आनन्द की माला है। एकान्त में आसन लगाकर सुख से रहना उनकी गोष्ठी है। अपने लिए नहीं बनाई गई भिक्षा उनका भोजन है। हंस जैसा उनका आचार होता है, सर्व प्राणियों के भीतर रहने वाला आत्मा ही अंश है—इसी को वह सिद्ध करते हैं। धैर्य उनकी गुदड़ी है—उदासीन वृत्ति लंगोटी है विचार दण्ड है, ब्रह्मदर्शन योगपट्ट है, सम्पत्ति उनकी पादुका है। ( अर्थात् सम्पत्ति को वे पैर के नीचे रहने वाली जूती के समान घटिया वस्तु समझते हैं )। परमात्मा की इच्छा यही उनका आचरण है। कुण्डलिनी उनकी बन्ध है। दूसरों की निन्दा से रहित (ऐसा त्यागी) जीवन्मुक्त हो सकता है मङ्गल स्वरूप परमात्मा के साथ योग उनकी निद्रा होती है। खेचरीमुद्रा को वे धारण करते हैं, परम आनन्द युक्त रहते हैं।

निर्गुणगुणत्रयम् । विवेकलभ्यं मनोवागगोचरम् । अनित्यज्जगद्यज्जनित स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्, तथा देहादिसंघातं मोहगणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् । विष्णुविध्यादिशताभिधा-

नलक्ष्यम् । अङ्कुशा मार्गः । शून्यं न सकतः । परमेश्वरसत्ता । सत्यसिद्धयोगो मठः । अमरपदं न तत्स्वरूपम् । आदिब्रह्म स्वसंवित् । अजपा गायत्रीविकारदण्डो ध्येयः मनोनिरोधिनी कन्था । योगेनसदानन्दस्वरूपदर्शनम् । आनन्दभिक्षाशी । महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वासः । एकान्तस्थानमठम् । उमन्यवस्था शारदा चेष्टा । उन्मनी गतिः । निर्मलगात्र निरालम्बपीठम् । अमृतकल्लोलानदक्रिया । पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः शमदमादिमिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता परावरसयोगः तारकोपदेशः । अद्वैतसदानन्दो देवता नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः । भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः । परावरैक्यरसास्वादनम् । अनियामकत्वानिमलशक्तिः । स्वप्रकाश ब्रह्मतत्वे शिवशक्तिसपुटितप्रपञ्चच्छेदनम्, तथा पत्राक्षाक्षकमण्डलभावाभावदहनम् । बिभ्रत्याकाशाधारम् । शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्, तन्मया शिखा । चिन्मयं चो सृष्टिरण्ड सततक्षिकमण्डलम् । कर्मनिर्मूलन कथा । मायाममताहकारदहनं श्मशाने । अनाहतांगी ॥

ब्रह्म तीनों गुणों से रहित है और विवेक द्वारा वह प्राप्त किया जाता है । वह मन और वाणी का अविषय है । जगत अनित्य है उसमें जिसने जन्म लिया है वह स्वप्न के ससार जैसा और आकाश के हाथी जैसा मिथ्या है । वैसे ही यह देह आदि समुदाय मोह गुणों से युक्त है, यह सब रस्सी में भ्रांति स कल्पित किए गये सर्प के समान मिथ्या है । विष्णु, ब्रह्म आदि सैकड़ों नाम वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है, इन्द्रिय आदि पर अंकुश रखना यह मार्ग है । शून्य —यह सकेत नहीं हैं, परमेश्वर की सत्ता है । सच्चा और सिद्ध हुआ योग (संन्यासी का) मठ है । अमरपद यह स्वरूप है । मै स्वयं ही आदि-ब्रह्म हूँ, यही ज्ञान है । अजपा (हंस मन्त्र) गायत्री है । विकारों के ऊपर नियन्त्रण ही ध्येय है । मनको रोकने वाली वृत्ति ही कथा है । योग द्वारा वे सदैव आनन्द स्वरूप का

दर्शन करते हैं। आनन्द रूप भिक्षा का भोजन करते हैं। महाश्मशान में भी आनन्द दायक वन के समान निवास करते हैं। एकान्त ही उनका स्थान है, आनन्द ही मठ होता है। उनकी स्थिति मनरहित होती है और उज्ज्वल चेष्टा होती है। मन रहित स्थिति ही उनकी गति है। उनका शरीर निर्मल है, निराश्रय स्थिति आसन है। अमृत की तरंगों वाली आनन्दयुक्त क्रिया है। शुद्ध परमात्मा उनका आकाश है। महान आत्मा ही सिद्धान्त है। शम-दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का अनुसरण करना ही चतुराई है। परात्पर—ब्रह्म के साथ सयोग होता है। वे तारक ब्रह्म के उपदेश का कथन करते हैं। अद्वैत सदानन्द ही उनका देव है। अपने अन्तर की इन्द्रियों का निग्रह ही उनका नियम है। भय, मोह, शोक और क्रोध का छोड़ना, यही उनका त्याग है। परम-ब्रह्म के साथ एकता के रस का स्वाद ही वे लेते हैं। अनियामकपन (अर्थात्—किसी को अपने वश में न करना और न किसी का तिरस्कार करना) ही उनकी निर्मल शक्ति है। स्वयं प्रकाश ब्रह्मतत्व में शिवशक्ति से संपुटित प्रपंच का छेदन करते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म पत्र (पत्रा)जैसी इन्द्रियों से दर्शन ही कमण्डलु है। भान और अभाव को भस्म कर डालने के लिए आकाश रूप आधार को धारण करते हैं। तुरीय ब्रह्म उनका यज्ञोपवीत है और वही शिखा है। चैतन्यमय होकर संसार त्याग ही दण्ड है, ब्रह्म का नित्य दर्शन कमण्डलु है और कर्मों को निर्मूल कर डालना कथा है। माया-ममता-अहंकार को भस्म करने के लिए श्मशान में खुले हुए अंग से रहना ही उनका नियम है।

निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसंधानं समयं भ्रान्तिहननम्। कामादिवृत्तिदहनम्। काठिन्यदृढकौपीनम्। चिराजिनवासः। अनाहतमन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम्। स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः। इति स्मृतेः॥

परंब्रह्मप्लववदाचरणम्। ब्रह्मचर्यंशान्तिसंग्रहणम्। ब्रह्म-

वर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वंविन्न्यासं संन्यासम् । अन्ते ब्रह्माखण्डाकारं नित्यं सर्वदेहनाशनम् ।

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं विना पुत्रं विना न देयम् । इत्युपनिषत् ।।

त्रयगुण रहित स्वरूप के अनुसन्धान करने में समय व्यतीत करना, चिथड़ा और मृगचर्म रूप वस्त्र पहिनना, अनाहत नादरूप मन्त्र जपना, अक्रिय का ही सेवन करना, स्वेच्छाचार रूप आत्मस्वभाव रखना यही मोक्ष और परब्रह्म है । नौका जैसा आचरण, ब्रह्मचर्य द्वारा शाँति प्राप्त करना, ब्रह्मचर्य में अध्ययन करके, फिर वानप्रस्थ आश्रम में भी अध्ययन करके ज्ञानयुक्त होकर संन्यास-ग्रहण करना – यही संन्यास है । अन्त में ब्रह्मरूप अखण्ड आकार में रहना, साथ ही नित्य सर्व संदेहों को नाश करना, यही निर्वाण दर्शन है । शिष्य या पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को इसका उपदेश नहीं करना, ऐसा यह रहस्य है ।

।। निर्वाण उपनिषद् समाप्त ।।

———

# परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिः नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

शान्तिपाठ—हे पूज्य देवो ! हम कानों से कल्याण सुनें, आँखों से कल्याण को देखें। सुदृढ़ अंगों तथा देह के द्वारा तुम्हारी स्तुति करते रहें और देवताओं ने हमारे लिए जो आयुष्य नियत कर दिया है उसे भोगें। महान कीर्ति वाला इन्द्र हमारा कल्याण करे, सब को जानने वाले पूषा देव हमारा कल्याण करें, जिसकी गति रोकी न जा सके ऐसे गरुड़ देव हमारा कल्याण करें और बृहस्पति हमारा कल्याण करें ! ॐ शांति शांति शांति ॥

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ। भगवन् त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मक्रमं सर्वं श्रुतं विदितमवगतम्। इदानीं परमहंसपरिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि । कः परिव्रजनाधिकारी कीदृशं परिव्राजकलक्षणं कः परमहंसः परिव्राजकत्वं कथं तत्सर्वं मे ब्रूहीत। स होवाच भगवानादिनारायणः ॥१॥

हरि ॐ। पितामह ब्रह्मा ने आदि पिता नारायण को प्रणाम करके पूछा—'भगवन् ! वर्णाश्रम के धर्म तो मैंने आप से सुनकर पूर्णतः जान लिए। अब मैं परमहंस परिव्राजकों के लक्षण जानना चाहता हूँ। परिव्राजक होने का अधिकारी कौन है ? परिव्राजक के लक्षण क्या हैं ? परमहंस किसको कहते हैं ? परिव्राजक तत्व क्या है ? ये सब मुझसे कहिये। तब भगवान आदि नारायण ने कहा ॥१॥

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिकामुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवसनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव हेयमुपगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वाप्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वा स्नातको वोत्सन्नाग्निरग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् इति सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं कलत्रमाप्तबन्धुवर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वानुमोदयित्वा तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव कुर्यात् । अग्निर्हि । प्राणः प्राणमेवैनया करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तमं इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ।

ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत् । यद्यातुरो वाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । एष विधिर्वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेत् । एष एष पन्थाः ॥२॥

सद्गुरु से समस्त विद्याओं को परिश्रमपूर्वक पढ़ कर विद्वान् व्यक्ति इहलोक और परलोक के सुखों को श्रम रूप समझ कर तीनों ऐषणा, तीनों वासना, तीनों ममता, अहंकार आदि को वमन किये अन्न

के समान हेय समझ कर, मोक्ष के एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ बने। गृहस्थ को पूर्ण करके वानप्रस्थी हो। अथवा अन्य प्रकार ब्रह्मचर्य से या गृह से या वन से ही चला जाय। इसलिए व्रत वाला हो या व्रत रहित, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्र करने वाला हो या उससे रहित हो, जब कभी वैराग्य हो जाय उसी समय संन्यास ग्रहण करे। जिसको इस प्रकार ज्ञान हो जाय वह ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी कोई भी क्यों न हो, संसार से विरक्त होकर पिता, माता, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी, बन्धुओं से, उनके अभाव में साथ रहने वालों या शिष्यों से सम्मति लेकर प्रजापति सम्बन्धी यज्ञादि जो नित्य करता हो, उसे न करे। केवल 'आग्नेयी' ही करे। अग्नि ही प्राण है, अग्नि ही प्राण का कर्ता है, इस मन्त्र से 'त्रैधातवी' करे। सत्व, रज, तम, ये ही तीन धातुयें हैं। "हे अग्नि ! यह प्राण तुम्हारा कारणरूप है, उसमें प्रवेश करो। प्राण से उत्पन्न तुम प्रकाश और वृद्धि को प्राप्त होओ" इस मन्त्र से आहुति दे। ग्राम के अग्निहोत्र करने वाले घर से अग्नि लाकर ऊपर कही हुई विधि से अग्नि को सूँघे। यदि आतुरता का भाव हो, अग्नि न मिले तो जल में हवन करे। "जल ही सब देवताओं का रूप है, इसमें सब देवताओं के लिए हवन करता हूं, स्वाहा" इस विधि से हवन करके घृत सहित हवि का भोजन करे यह विधि वीर मार्ग की है जो अनशन, संप्रवेश अथवा महाप्रस्थान के लिए है। जो आतुर हो वह मन से और वाणी से ही संन्यास की विधि को करले।२।

स्वस्थः क्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वा अग्निमात्मन्यारोप्य, लौकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्तिं च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्ये तदभावे स्वात्मन्येव वा ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा, सावित्रीप्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमात्व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य, व्याहृतित्रयमकारोकार-

मकारेषु प्रविलाप्य,तत्सावधानेनापःप्राश्य, प्रणवेन शिखामुत्कृष्य, यज्ञोपवीतं छित्वा, वस्त्रमपि भूमौ वाप्सु वा विसृज्य, ओं भूः स्वाहा ओं भुवः स्वाहा ओं सुवः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा, स्वरूपं ध्यायन्, पुनः पृथक्प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेतिमन्द्रमध्यमतारध्वनिभिस्त्रिवारत्रिगुणीकृतप्रैषोच्चारणं कृत्वा,प्रणवैकध्यानपरायणः सन्नभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा, ब्रह्माहमस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्वन्नुदीचीं दिशं गच्छेज्जातरूपधरश्चरेत् । एष संन्यासः ॥

जो स्वस्थ मन से हो वह नियमपूर्वक आत्म-श्राद्ध और विरजा होम करे । अग्नि का आत्मा में आरोप करके अपनी लौकिक और वैदिक सामर्थ्य और चौदह कारण प्रवृत्तियों का पुत्र में आरोप कर दे, पुत्र न हो तो शिष्य में और वह भी न हो तो अपनी आत्मा में आरोप कर दे । फिर 'ब्रह्मत्वं यज्ञः त्वं' इस मन्त्र का उच्चारण करे,ब्रह्मभावना को ध्यान करके सावित्री में प्रवेश करे । फिर जल में समस्त विद्याओं के अर्थरूप, ब्रह्मण्य के आधार रूप वेदमाता (गायत्री) को तीनों व्याहृतियों में लय करके और तीन व्याहृतियों को 'अ' 'उ' 'म' (ॐ) में लय करके सावधान होकर जल का पान करे । प्रणव का उच्चारण करके शिखा को दूर करदे, यज्ञोपवीत को काटदे, वस्त्रों को भूमि में अथवा जल में डाल कर 'ॐभूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ सुव स्वाहा' इस मन्त्र से नग्न होकर स्वरूप का ध्यान करते हुए पृथक प्राण और व्याहृतिपूर्वक मन और वाणी से तीन बार तीन गुण प्रेषमन्त्र उच्चारण करके कहे 'मैंने संन्यास किया—मैंने संन्यास किया—मैंने संन्यास किया।' इसे मन्द, मध्यम तथा उच्चस्वर से कह कर प्रणव का ध्यान करते हुए सब भूतों को अभय प्रदान करके भुजा ऊँची उठाकर 'मैं ब्रह्म हूं'' 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ पर विचार करता हुआ उत्तर दिशा को चला जाय और शुद्ध रूप में विचरण करे, यह संन्यास है ।

तदधिकारी न भवेद्यदि, गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण:प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य, सद्गुरुमुपगम्य नत्वा गुरुमुखात्तत्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्य, अथ जीर्णवस्त्रवल्कलाजिनं धृत्वा, अथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्य त्रिकालस्नानमाचरन्, वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्, ब्रह्ममार्गे सम्यवसंपन्नः स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा, निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भदर्पाहंकारासूयागर्वेच्छाद्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हित्वा,ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्रीपराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषदर्थमालोच्य, ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो, बहिरन्तः स्नेहवर्जितः, शरीरसंधारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रमाधूकरेणान्नमश्नन्, मेदोवृद्धिमकुर्वन् कृशी भूत्वा,ब्रह्माहमस्मीति भावयन्, गुर्वर्थं ग्राममुपेत्य, ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेत्, द्वावेवाचरेत् ॥

अगर इतना कर सकने की सामर्थ्य न हो तो गृहस्थ की प्रार्थना करके तथा सर्वभूतों को अभय प्रदान करके—"हे सखा, तू मेरे बल की रक्षा कर । तू वृत्र को मारने वाला इन्द्र का वज्र है,मुझे शांतिदायक हो और पापों से मुक्त कर,इस मन्त्र का उच्चारण करके दोष रहित बाँस के दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, कमण्डलु और एक गेरुवा वस्त्र को धारण कर सद्गुरु के समक्ष जाय और नमस्कार करके उनसे महावाक्य—तत्वमसि को प्रणव सहित उपलब्ध करे । फिर छाल के वस्त्र या मृगचर्म धारण करके, जलावतरण, ऊपर चढ़ना और एक ही घर की भिक्षा का त्याग करके तीनों समय स्नान करने का नियम का पालन करते हुए, वेदान्त

अध्ययन और प्रणव का अनुष्ठान करे। ब्रह्ममार्ग में अच्छी जानकारी प्राप्त करके अपनी भावनाओं को आत्मा में छिपाकर रखते हुए निर्मम आत्म-निष्ठायुक्त होकर काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सरता दम्भ दर्प अहङ्कार असूया गर्व इच्छा द्वेष अमर्ष ममत्व आदि का त्याग करदे। ज्ञान-वैराग्य की भावना से युक्त होकर कंचन और कामिनी से विमुख होकर शुद्ध मन से उपनिषदों के अर्थ का मनन करे। ब्रह्मचर्य अपरिग्रह अहिंसा सत्य आदि पञ्च महाव्रतों का प्रयत्नपूर्वक पालन करे। इन्द्रियों को जीत कर बाहर और भीतर के राग से रहित होकर शरीर रक्षार्थ निंदित तथा पतित व्यक्तियों को छोड़कर तीन वर्णों से इस प्रकार निर्वैर होकर भिक्षा करे जैसे पशु बिना भेदभाव के आहार ग्रहण कर लेता है। सदैव ब्रह्मभावना रखे लाभ-हानि को समान समझे हाथ से भिक्षा करके खावे और अल्प भोजन द्वारा कृश शरीर होता हुआ मैं ब्रह्म हूँ यह भावना करते हुए आठ मास तक ग्रामों में भिक्षा माँग कर अकेला विचरण करे।

यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्। ग्रामैकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पट्टने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्निसेवी निर्विकारो नियमानियममुत्सृज्य प्राणसंधारणार्थमयमेव लाभालाभौ समो भूत्वा गोवृत्त्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थलकमण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र भूतलशयनः क्षौरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लध्यानपरायणोऽथ स्त्रीपुरपराङ्मुखोऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरन्नव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानुसंधानब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति परमहंसपरिव्राजको भवति ॥३॥

जब ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाय तब कटिसूत्र कौपीन दण्ड कमण्डल सबको जल में विसर्जन करके कुटीचक बहूदक हंस अथवा परमहंस होकर नग्नावस्था में विचरण करे। ग्राम में एक रात्रि तीर्थ में तीन रात्रि नगर में पाँच रात्रि और क्षेत्र में सात रात्रि तक निवास करे। घर रहित स्थिर मति अग्नि का सेवन करने वाला निर्विकार नियम-अनियम का त्यागी लाभ-हानि को समान समझने वाला होकर केवल प्राण रक्षा के लिए गौ-वृत्ति से भिक्षा करे। जलाशय को ही कमण्डल समझे बाधा रहित एकान्त स्थान में निवास करे लाभ हानि का विचार न करे और शुभाशुभ कर्मों को काटने में सदैव तत्पर रहे। हमेशा जमीन पर सोवे हजामत कराना त्याग दे चातुर्मास के नियम और व्रतों को भी त्यागकर केवल शुक्ल (सात्विक) ध्यान में संलग्न रहे। धन स्त्री पुत्र का कभी ध्यान न करे। ज्ञान होते हुए भी प्रकट में उन्मत्त की तरह रहे। अपने स्वरूप और आचार को किसी पर प्रकट न होने दे। उसके लिए दिन-रात समान होने से वह सदैव जागृत अवस्था में ही रहता है। इस प्रकार जो निरन्तर स्वरूपानुसंधान और ब्रह्म प्रणव के ध्यानयुक्त संन्यास से रहता हुआ देहत्याग करे वह परमहंसपरिव्राजक पद का अधिकारी होता है ॥३॥

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच नारायणः। ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टय-चतुष्टयगोचरः। जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति। व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति। व्यष्टिस्वप्नावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्य तैजसविश्वस्तैजसतैजस-स्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति। सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातु-र्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति। तुरा-

यावस्थायां तुरीयस्थ चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीय-प्राज्ञः। एते क्रमण षोडशमात्रारूढ़ाः। अकारे जाग्रद्विश्वउकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रेत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयो बिन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतैजसः कलायां स्वप्नप्राज्ञः कलातीते स्वप्नतुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः पुर्यां तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञः परायां तुर्यतुरीयः। जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकरांश सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम्। अयमेव ब्रह्मप्रणवः। स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः। तेनैव ब्रह्म प्रकाशते। विदेहमुक्तिः ॥४॥

ब्रह्माजी ने पूछा—भगवन्! ब्रह्मप्रणव कैसा होता है? नारायण बोले—सोलह मात्रा वाला ब्रह्मप्रणव होता है। चारों अवस्थाओं में चारों के मिलने से सोलह प्रकार हो जाते हैं। जागृत अवस्था में जागृत आदि चारों अवस्था स्वप्न से स्वप्न आदि चारों अवस्था, सुषुप्ति में सुषुप्ति आदि चारों अवस्था और तुरीय में तुरीय आदि चारों अवस्था रहती हैं। जाग्रनावस्था में विश्व चार प्रकार का होता है—विश्व-विश्व, विश्व-तैजस, विश्व-प्राज्ञ, विश्व-तुरीय। स्वप्न अवस्था में तैजस चार प्रकार का होता है—तैजस-विश्व, तैजस-तैजस, तैजस-प्राज्ञ, तैजस-तुरीय। सुषुप्ति में प्राज्ञ चार प्रकार का होता है—प्राज्ञ-विश्व, प्राज्ञ-तैजस, प्राज्ञ-प्राज्ञ, प्राज्ञ-तुरीय। तुरीय अवस्था में तुरीय चार प्रकार का होता है—तुरीय-विश्व, तुरीय-तैजस, तुरीय-प्राज्ञ, तुरीय-तुरीय। इस क्रम से सोलह मात्रा पर आरूढ़ रहता है। 'अ'कार में जाग्रत विश्व, 'उ'कार में जागृत तैजस, 'म'कार में जागृत प्राज्ञ और अर्धमात्रा में जागृत तुरीय होता है। बिन्दु में स्वप्न-विश्व नाद में स्वप्न तैजस, कला में स्वप्न-प्राज्ञ, कलातीत में स्वप्न-तुरीय होता है। शांति में सुषुप्ति-

विश्व, शांत्यातीत में सुषुप्ति तैजस, उन्मनी में सुषुप्ति प्राज्ञ, मनोन्मनी में सुषुप्ति तुरीय होता है। वैखरी में तुरीय विश्व, मध्यमा मे तुरीय तैजस, पश्यन्ती में तुरीय-प्राज्ञ और परा में तुरीय-तुरीय होता है। जागृत की चार मात्रायें 'अ'कार अंश की हैं, स्वप्न की चार मात्रायें 'उ'कार अंश वाली है, सुषुप्ति की चार मात्रायें 'म'कार अंश वाली हैं और तुरीय की चार मात्रायें अर्धमात्रा के अंश वाली हैं। इसी को ब्रह्म-प्रणव कहते हैं और तुरीयातीत परमहंस और अवधूत इनका उपास्य है। ब्रह्म उसी से प्रकाशित होता है और उसी से विदेहमुक्ति मानी गई है।४।

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्मनिष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच विष्णुः । भो भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम् । तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा । तत्कर्म सपवित्रम् । स सर्वकर्मकृत्स ब्राह्मणः स ब्रह्मनिष्ठापरः स देवः स ऋषिः स तपस्वी स श्रेष्ठः स एव सर्वज्येष्ठः स एवाहं विद्धि । लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरः यद्येकोऽस्ति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुषः । महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । स एव नित्यतृप्तः स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः स निन्दामर्षसहिष्णुः स षडूर्मिवर्जितः षड्भावविकारशून्यः स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा, आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारश्च न विसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोपरतः सच्चिदानन्दाद्वयचिद्घनः संपूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स परमहंसपरिव्राडित्युपनिषत् ॥५॥

ब्रह्मा ने पूछा—भगवन् ! यज्ञोपवीत शिखा और सब कर्मों को

त्याग देने वाला कैसे ब्रह्मनिष्ठ और कैसे ब्राह्मण होता है ?" नारायण ने कहा—ऐसे का यज्ञोपवीत उसका अद्वैतयुक्त आत्मज्ञान ही होता है। उसकी शिखा ध्यान-निष्ठा रूप होती व अपने कर्मों से वह पवित्र होता है। वह सब कर्म कर चुका है । ब्राह्मण है । वह ब्रह्मनिष्ठ परायण है। वह देव है वह तपस्वी है श्रेष्ठ है सबसे ज्येष्ठ है जगद्गुरु है वह मैं ही हूँ ऐसा समझलो। संसार में ऐसा परमहंस परिव्राजक बहुत ही दुर्लभ कहीं एकाध होता है। वह नित्य पवित्र है, वह वेद पुरुष है, वह महापुरुष है जिसका चित्त मुझ में रहता है और मैं उसमें रहता हूं । वह नित्यतृप्त है। वह शीत उष्ण सुख दुःख मान-अपमान से रहित होता है । वह निन्दा और अमर्ष को सहन कर लेता है। वह छः उर्मियों से रहित होता है। छः भाव विकारों से पृथक होता है। वह बड़े या छोटे के विचार से रहित होता है । वह केवल अपने आत्मा को देखता है और किसी को नहीं। दिशायें ही उसके वस्त्र है, वह नमस्कार नहीं करता, न स्वाहाकार, न स्वधाकार, न विसर्जन। वह निंदा स्तुति करने से दूर रहता है, मन्त्र-तन्त्र की उपासना नहीं करता किसी अन्य देव के ध्यान रहित, लक्ष्यालक्ष्य से रहित, सबसे उपराम होता है । वह सच्चिदानन्द अद्वय चिद्घन सम्पूर्ण आनन्द को बोध वाला और 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी अखण्ड भावना रखने वाला, कृतकृत्य हो जाता है । ऐसे को ही परमहंस परिव्रजक कहते हैं ।।५।। यह उपनिषद् है। हरि ॐ तत्सत् ।

।। परमहंस परिव्राजक उपनिषद् समाप्त ।।

—**—

# भिक्षुकोपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण मुदच्यते । पूर्णस्य पूर्ण-
मादाय पूर्ण मेवावशिष्यते । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

शांति पाठ—यह पूर्ण है । वह पूर्ण है पूर्ण मे पूर्ण बनता है ।
पूर्ण में से पूर्ण ले लेने पर पूर्ण ही शेष रहता है । ॐ शान्ति, शान्ति,
शान्ति ।

अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्चेति
चत्वारः ।।१।।

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ
ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ।।२।।

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषाय-
वस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमासं वर्जयित्वाष्टौ ग्रासान्भक्षाचरण
कृत्वा योगमार्ग मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ।।३।।

अथ हंसा नाम ग्रामैकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं
तदुपरि न वसेयुः । गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायणपरायणा
योगमार्गे माक्षमेव प्रार्थयन्ते ।।४।।

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्ता-
त्रेयशुकवामदेवहारीतकभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमाग
मोक्षमेव प्रार्थयन्ते । वृक्षमूले शून्येगृहे श्मशानवासिनो वा ।
साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषा धर्माधर्मौ न हि तेषां

लाभालाभकलनास्ति । शुद्धाशुद्धद्वैतवर्जिताः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैव पश्यन्ति । अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्ममात्रनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागार दवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशाला-नदीपुलिनगिरिकन्दर कुहर कोटर निर्झर स्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन सन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति । ते परमहंसः नामेत्युपनिषत् ॥५॥

मोक्ष के अभिलाषी भिक्षुक चार श्रेणियों के होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस परमहंस, ॥१॥ कुटीचक संन्यासी गौतम भारद्वाज याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि की तरह आठ ग्रास का भोजन करके योगमार्ग द्वारा मोक्ष की खोज करते हैं ॥२॥ बहूदक त्रिदण्ड, कमण्डल शिखा-सूत्र काषाय वस्त्र धारण करके मधुमांस का त्याग करते हुए ब्रह्मर्षि के घर से आठ ग्रास भोजन करते हैं और योगमार्ग द्वारा मोक्ष की खोज करते हैं ॥३॥ हंस मानधारी संन्यासी ग्राम में एक रात्रि नगर में पांच रात्रि क्षेत्र में सात रात्रि से अधिक निवास नहीं करते । ये गोमूत्र और गोबर का आहार करने वाले सदैव चान्द्रायण व्रत करने वाले योगमार्ग से मोक्ष की खोज करते हैं ॥४॥ परमहंस नाम के संन्यासी संवर्तक, अरुणि श्वेतकुतु जडभरत दत्तात्रेय शुकदेव वामदेव हारीतक प्रभृति की भाँति आठ ग्रास भोजन करके योगमार्ग से मोक्ष की खोज करते हैं । ये परमहंस वृक्षमूल शून्यगृह श्मशान आदि में सवस्त्र अथवा दिगम्बर वेष में रहते हैं । उनको धर्म-अधर्म लाभ हानि-शुद्ध-अशुद्ध से कोई मतलब नहीं रहता द्वैतभाव नही रखते मिट्टी और सोने को एक समान समझते हैं सब वर्णों के यहाँ भिक्षा करते हैं और सबको आत्मवत् देखते हैं । वे नंगे, निर्द्वंद्व, परिग्रहरहित, शुक्ल ध्यान परायण, आत्मनिष्ठ, प्राण धारण करने निमित्त नियत समय पर

भिक्षा करने वाले, सुनसान स्थान मन्दिर घर झोंपड़ी बाँवी वृक्षमूल, कुलालशाला यज्ञशाला नदी का किनारा पहाड़ की गुफा टीला, गड्ढा झरना आदि किसी भी स्थान में रहकर ब्रह्ममार्ग में सम्यक् प्रकार से सम्पन्न होकर शुद्ध मन से परमहंस के आचारों का पालन करते हुए संन्यासी द्वारा देहत्याग करते है, वे ही परमहंस हैं। यह उपनिषद् हैं।५।

॥ भिक्षुकोपनिषद समाप्त ॥

———

# अवधूतोपनिषत्

ॐ सह नाववतु । सह नौभुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु । मावद्विषावहै । ॐ शांतिः, शांतिः, शांतिः ।

शान्तिपाठः—ब्रह्म हम दोनों ( गुरु-शिष्य ) की साथ ही रक्षा करो, हम दोनों का साथ ही पालन करो, हम दोनों साथ ही पराक्रम करें, हम दोनों का अध्ययन पराक्रमी हो, हम दोनों किसी का द्वेष न करें । ॐ शांति, शांति ।

अथ ह साङ्कृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं हरिसमेत्य पप्रच्छ । भगवन् कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं लक्ष्य किं संसरणमित्ति । तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः ।।१

अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्ध् तसंसारबन्धनात् ।
तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ।।२
यो विलंघचाश्रमान्वार्णानात्मन्येव स्थितः सदा ।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते ।।३
तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः ।
प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते ।।४
गोवालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये न चाप्यधः ।
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत् ।
एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम् ।।५

अब सांकृति ने भगवान् दत्तात्रेय के पास जाकर पूछा—"हे भगवन् ! अवधूत कौन है ? उसकी स्थिति कैसी होती है ? उसका चिह्न क्या होता है ? और उसका संसार कैसा होता है ?" यह सुनकर परम दयालु भगवान् दत्तात्रेय ने उससे कहा—जो अक्षर अर्थात्

अविनाशी बना हो, सबसे श्रेष्ठ हो, संसाररूप बन्धन से रहित हो और 'तत्वमसि' आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ रूप हो, वह 'अवधूत' कहा जाता है ।१। जो योगी आश्रम तथा वर्ण को उलाँघ कर आत्मा में ही सदा रहता हो, वह वर्णाश्रम रहित योगी 'अवधूत' कहा जाता है ।२। प्रिय ब्रह्म जिसका मस्तक बनकर मोद दांया बाजू और प्रमोद बाँया बाजू बन जाता है, उसकी स्थिति गाय के पैर के समान होती है ।३। गोपाल का जैसा मस्तक पर होता है, मध्य में नहीं होता और नीचे नहीं भी होता, सर्व की प्रतिष्ठा रूप ब्रह्म पुच्छ कहलाता है, इसलिए उसे पूँछ के आकार का करना चाहिए ।४। इस प्रकार वे चार मार्ग द्वारा परम-गति को पाते हैं ।५।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ॥६

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम् । साम्बरा वा दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ । सदा संग्रहण्येष्टचाश्वमेधमन्धर्यागं यजते । स महामखो महायोगः ॥७

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म स्वैरं न विगायेत् । तन्महाव्रतम् । न स मूढवल्लिप्यते ॥८

यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते
हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः ।
तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते
न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः ॥९
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
ससुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वात्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
सशांतिमाप्नोति न कामकामी ॥१०

कितने ही कर्मों से, अथवा प्रजा से, अथवा धन से अमरत्व प्राप्त नहीं होता, पर अकेले त्याग से अमरत्व पा लिया गया है ।६।

अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करना, यही उनका संसार है। उनमें से कितने ही वस्त्र पहिनते हैं और कितने ही वस्त्र रहित भी होते हैं। उनके लिये न कुछ धर्म है और न कुछ अधर्म है, पवित्र नहीं है और अपवित्र भी नहीं है। ( इन्द्रियों को वश करने के रूप में ) सांग्रहणी दृष्टि से वे अनन्तर में ( आत्म-ध्यान रूप ) अश्वमेध यज्ञ किया करते हैं। यही उनका महायज्ञ और महायोग है। इस प्रकार उनका समस्त चरित्र आश्चर्यकारक होता है। उनके ऐसे स्वेच्छाचार की निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यही उनका महाव्रत है। वे मूर्ख के समान ( पाप-पुण्य से ) लिप्त नहीं होते। जिस प्रकार सूर्य सर्व रसों को ग्रहण करता है और अग्नि सब को खाता है वैसे ही योगी यदि विषयों को भोगता है, तो भी शुद्ध होने से पाप-पुण्य का भागी नहीं बनता ॥७-९॥ जिस प्रकार चारों तरफ से भरा हुआ होने पर भी अचल प्रतिष्ठा स्थिति ) वाले समुद्र में जल प्रवेश करता है वैसे ही योगी पुरुष में सर्व विषय-भोग करते हैं, तो भी वह ( अचल स्थिति युक्त रहता है और ) शान्ति प्राप्त करता है। पर विषयों की इच्छा करने वाला सकाम व्यक्ति वैसी शान्ति नहीं पाता ॥१०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्बद्धो न हि न साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥११

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तश्च सिद्धये।
बहुकृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम् ॥१२

तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्।
दुःखिनोऽज्ञाः ससरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥१३

परमानंदपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया।
अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥१४

सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ।
व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ॥१५

इसलिये सत्य बात यह है कि किसी का लय नहीं है, किसी की उत्पत्ति नहीं है, कोई बँधा हुआ नहीं है, कोई साधक नहीं है कोई मुमुक्षु नहीं है और कोई मुक्त भी नहीं है ॥११। "इस लोक और परलोक के कृत्यों की सिद्धि के लिए, उसी प्रकार मुक्ति की सिद्धि के लिए पहले मुझे बहुत कुछ करना आवश्यक था, पर अब यह सब हो चुका है" इस प्रकार प्रत्येक योग का मुख्य अनुसंधान करता हुआ वह अवधूत इसी में कृतकृत्य होता है और सदैव तृप्त रहता है ॥१२॥-१३॥ (फिर वह चिन्तन करता है) अज्ञानीजन पुत्र आदि की इच्छा से अत्यन्त दुःखी होकर संसार में फँसते रहें पर मैं तो परमानन्द से पूर्ण हूँ, तो फिर किस इच्छा से संसार में फँसूं ? ॥१४॥ जिनको परलोक जाने की इच्छा हो चाहे उस इच्छा से भले कर्म किया करें, पर मैं तो सर्व लोकों का आत्मा हूं—सर्व लोकमय बना हूं, तो मैं कोई भी कर्म क्यों करूं ? ॥१५॥

तेऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ।
निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोति च ॥१६
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात् ।
गुञ्जापुञ्जादि दह्यत नान्यारोपितवह्नि
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥१७
शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयपन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥१८
विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥१९
अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥२०

जिनको इस बात का अधिकार हो वे भले ही प्रवचन किया करें और चाहे वेदों को पढ़ाते रहें, पर मुझे तो इसका अधिकार ही नहीं क्योंकि मैं क्रियारहित हूं। मैं निद्रा की भिक्षा की स्नान अथवा शौच की इच्छा नहीं करता। जो दृष्टा हों वे भले ही अन्य की कल्पना करें पर मुझे अन्य की कल्पना करने से क्या फायदा? अन्य लोग गुञ्जा ( चिरयिठी ) की लालिमा के कारण उसमें भले ही अग्नि का आरोप करें पर इससे गुन्जा का ढेर जल नहीं जाता फिर मेरे भीतर तो संसार के धर्मों का आरोप ही नहीं इसलिए मैं किसी का भी भजन नहीं करता ।।१६-१७।। जिन्होंने तत्त्व को जाना न हो वे भले ही श्रवण करें पर मैं तो तत्त्व को जानता हूँ तो फिर किस लिए श्रवण करूँ? जो सँशय में पड़े हों वे भले ही मनन करें मुझे तो संशय ही नहीं, इससे मैं मनन नहीं करता ।।१८।। जिसको विपर्यास ( विपरीत मान्यता ) हुई हो वह भले ही निदिध्यासन करे पर जहां विपर्यास होता ही नहीं वहाँ ध्यान की क्या आवश्यकता है? देह को आत्मा मान लेने का विपर्यास मुझे कभी नहीं होता (इसलिये मुझे निदिध्यान की क्या आवश्यकता है? ) ।।१९।। मैं मनुष्य हूं आदि इस प्रकार का व्यवहार भी बिना विपर्यास के नहीं होता और यह विपर्यास भी दीर्घ काल से अभ्यास में पड़ी वासना के कारण ही होता है ।।२०।।

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्मक्षये त्वसौ नव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ।।२१

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यामाम्हं कुतः ।।२२

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ।।२३

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥२४
व्यवहारो लौकिको वास्त्रीयो बान्यथामि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥२५

प्रारब्ध कर्मों का नाश होने पर ही यह व्यवहार बन्द होता है, पर प्रारब्ध कर्म का नाश न हुआ हो तब तक हजार ध्यान करने से भी यह व्यवहार शान्त नहीं होता ॥२१॥ व्यवहार कम करने की इच्छा हो तो तू भले ही ध्यान कर पर मेरी दृष्टि में तो कर्मों का व्यवहार है ही नहीं, तो में किस लिए ध्यान करूँ ? ॥२२॥ मुझे विक्षेप होता ही नहीं, इससे मुझे समाधि करने की भी आवश्यकता नहीं है । यह तो मन जो बिकार वाला हो तभी विक्षेप होता और तभी समाधि की आवश्यकता होती हैं । मैं तो नित्य अनुभव रूप हूं, समाधि में मुझे और क्या भिन्न अनुभव हो सकता है ? ॥२३॥ मैंने तो जो करना है वह किया और जो प्राप्त करना है वह सदैव प्राप्त किया इसीलिए लौकिक शास्त्रीय अथवा अन्य प्रकार का व्यवहार मुझे क्यों करना चाहिए ? फिर मैं कर्ता नहीं हूँ, मुझे किसी बात की लिप्तता नहीं है केवल प्रारब्ध कर्म के अनुसरण से भले ही प्रवृत्ति होती रहे ॥२४-२५॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकारयया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥२६
देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२७
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२८
कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्यप्राप्ततया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ॥२९

अथवा मैं कृतकृत्य हूं, तो भी लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से यदि शास्त्रानुसार चलता हूं, तो इसमें मेरी क्या हानि है ? ।२६। देवपूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि में भले ही शरीर प्रवृत्ति करे, वाणी ॐकार का जप भले ही जपे, इसी प्रकार उपनिषदों का पाठ भले ही करे, बुद्धि विष्णु का ध्यान भले ही करे अथवा भले ही ब्रह्मानन्द में लीन हो, मैं तो केवल साक्षी हूं, अर्थात् इनमें से किसी काम को करता नहीं और कराता भी नहीं ।२७। 'मैं कृतकृत्य होने से तृप्त हूं, और जो प्राप्त करना है उसे मैंने प्राप्त कर लिया है, इससे भी तृप्त हूं इस प्रकार अपने मन में निरन्तर मानता रहता हूं ।२८।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ।।३०
धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ।।३१
धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ।।३२
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ।।३३
अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ।।३४
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गरुः ।।३५

य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति । सुरापानात्पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति । कृत्याकृत्यात्पूतो भवति । एवं विदित्वास्वेच्छाचारपरो भूयात । ॐ सत्यम् । इत्युपनिषत् ।।३६।।

फिर मैं धन्य हूं—धन्य हूं, मुझे धन्य है–धन्य है, क्योकि अपने आत्मा को अनायास ही जानता हूं । मुझे धन्य है क्योंकि मुझे ब्रह्मानन्द

स्पष्ट प्रकाशित करता है। मुझे धन्य है—धन्य है, क्योंकि संसार का दुःख अब मैं नहीं देखता। मैं धन्य हूं-धन्य है, क्योंकि मेरा अज्ञान कभी का नष्ट हो चुका है, मुझे धन्य है—धन्य हूँ क्योंकि मुझे कुछ भी करना नहीं है। मैं धन्य हूँ-धन्य हूँ कि जो कुछ प्राप्त करना है वह मैंने यहीं प्राप्त कर लिया है। मैं धन्य हूँ--मैं धन्य हूं, मेरी तृप्ति की लोक में कोई उपमा है ? (अर्थात् कोई नहीं है)। मैं धन्य हूँ--मैं धन्य हूं, मैं बारम्बार धन्य हूँ-धन्य हूँ, अहो पुण्य ! अहो पुण्य ! इस पुण्य की सम्पति दृढ़ फली है-फली है। अहो हम ! अहो हम ! (धन्य हैं) अहो ज्ञान ! अहो ज्ञान ! अहो सुख ! अहो शास्त्र ! अहो शास्त्र ! अहो गुरु ! अहो गुरु ! (वास्तव में धन्यवाद के पात्र है) ।३०-३५।

इस प्रकार जो मनुष्य इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह कृतकृत्य होता ह, मदिरापान किया हो तो भी वह पबित्र होता है, सुवर्ण चुराया हो तो भी पवित्र होता है, ब्रह्महत्या की हो तो भी पविव्र होता है, कार्य-अकार्य किया हो तो भी पवित्र होता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के पश्चाद् स्वेच्छानुसार (आत्मानुकूल) में प्रवृत्त हो सकता है। ॐ सत्यम्। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होता हैं ।३६।

।। अवधूत उपनिषद् समाप्त ।।

।। १०८ उपनिषद् का ब्रह्मविद्या खण्ड समाप्त ।।

गोपाल आर्ट प्रेस, बरेली।